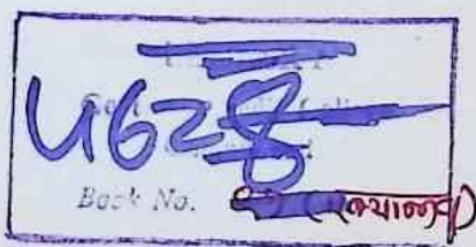
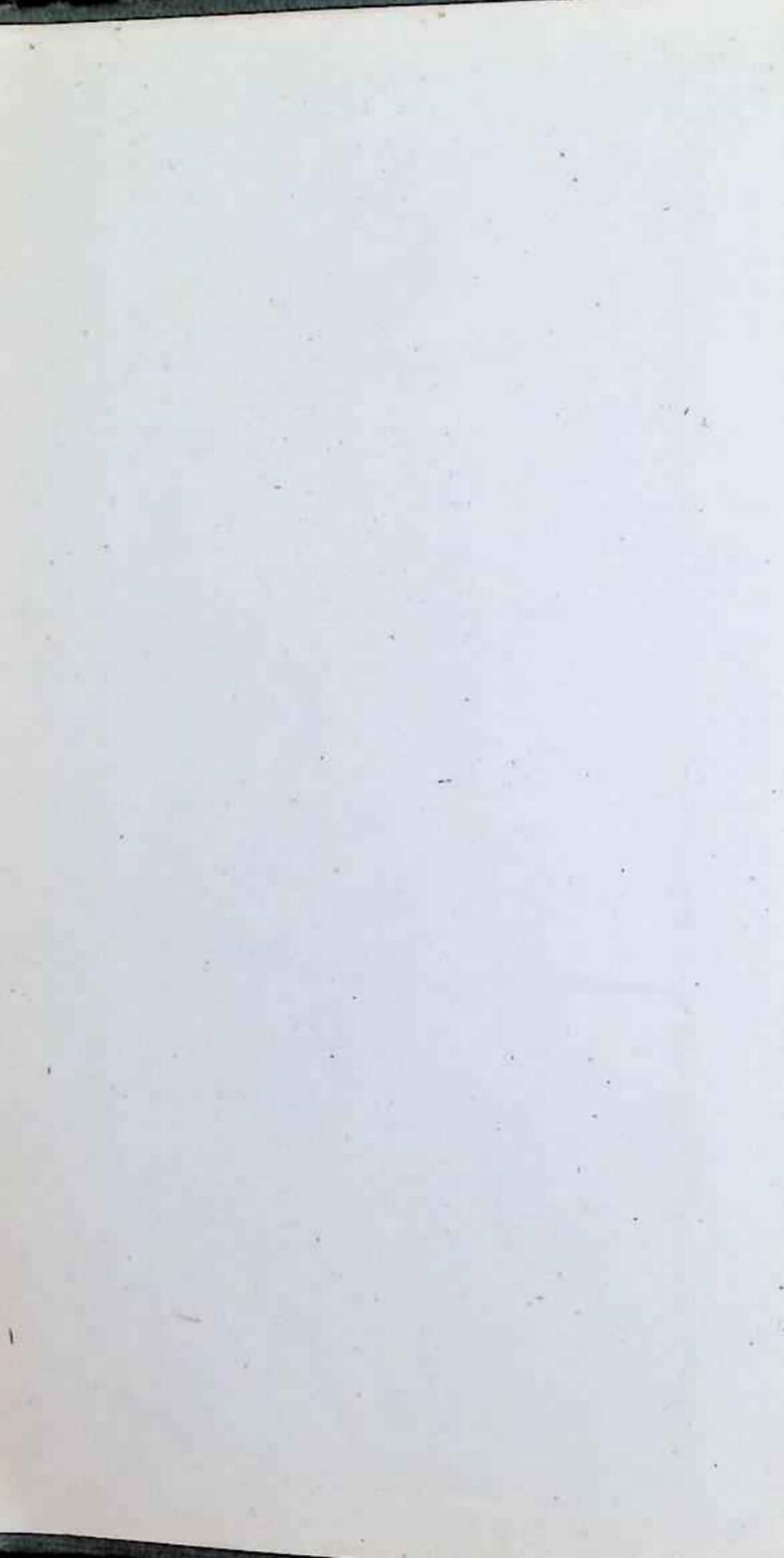




4628
12-3-79

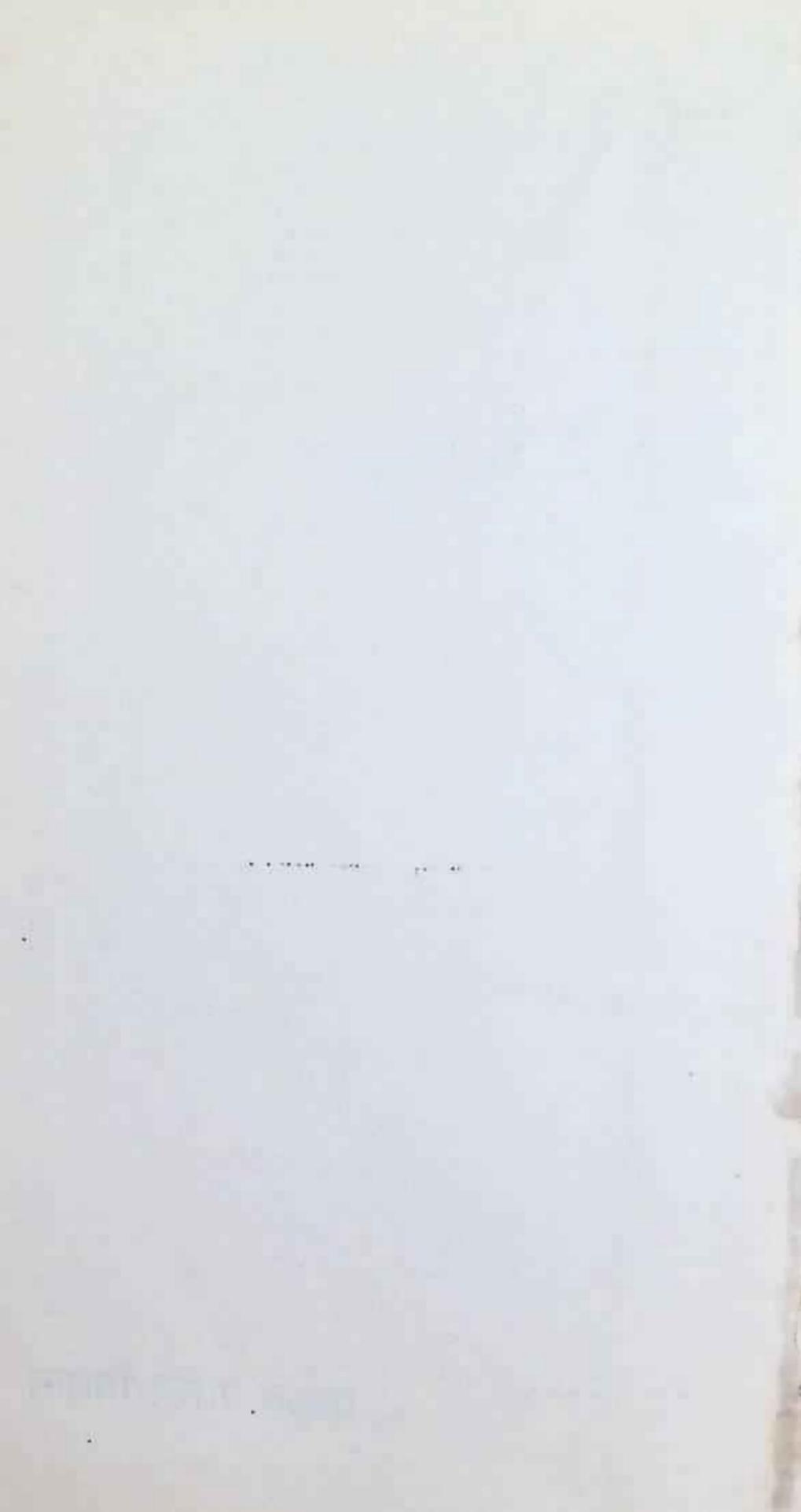


द्वौखंभा विधभारती
को दान्स नं० १३८
बॉक (प्रा मित्री के इमाने)
वाराणसी-२२१००९
फोन: ६५५५५



4628

प्राकृत अग्नि-विज्ञान



प्राकृत अरिन-विज्ञान

लेखक

निरंजनदेव आयुर्वेदालंकार

भूतपूर्व प्रधानाचार्य

आयुर्वेदिक डिग्री कॉलेज, वरेली

आयुर्वेद महाविद्यालय,

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

हरदार

GOVT. AYURVEDIC COLLEGE

LIBRARY

Book No. 4628

Date 12-3-79



आयुर्वेदिक एवं तिब्बी अकादमी उत्तरप्रदेश
लखनऊ

© प्रकाशक

आयुर्वेदिक एवं तिब्बी अकादमी उत्तरप्रदेश
तुलसीदास मार्ग
सतनऊ-४

प्रथम संस्करण

१९७४

मूल्य : १५ रुपये

मुद्रक :

अभय प्रिट्स

इलाहाबाद-३

4628

६७ (एकमान्यत)

प्रस्तावना

आयुर्वेद जगत् में अनेक वर्षों से उपयुक्त ग्रन्थों विशेषकर पाठ्य पुस्तकों का अभाव अनुभव किया जा रहा है। प्राचीन संहिताएँ तथा उनकी व्याख्याएँ और टीकाएँ भी अप्राप्य होती जा रही हैं। साथ ही आयुर्वेदिक एवं यूनानी साहित्य को समृद्ध करने के लिए प्राचीन उपयोगी पाण्डुलिपियों को भी प्रकाश में लाने की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। आयुर्वेद एवं यूनानी की उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकों का अभाव विशेषरूप से तब से खटकने लगा जब से कि विभिन्न प्रदेशों में आयुर्वेद और यूनानी के महाविद्यालय स्थापित किये गये और उनमें विषयानुसार पाठ्यक्रम का निर्धारण किया गया। प्राचीन उपलब्ध संहिताओं में विभिन्न विषयों की सामग्री यत्र-तत्र विखरी हुई है और उसको संकलित कर उसके आधार पर उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण की अत्यन्त आवश्यकता है। आयुर्वेद एवं यूनानी के विकास के लिए उपर्युक्त कार्य बहुत ही महत्वपूर्ण है।

अतः उत्तर प्रदेशीय आयुर्वेदिक एवं यूनानी पुनःसंगठन समिति (१९४७) की संस्तुति को ध्यान में रखते हुए उत्तर प्रदेशीय शासन ने 'वर्ष १९४९-५० के वित्तीय वर्ष में शासनादेश सं० ५७१८।वी।वी-२ आर० सी।० (१९४९) दिनांक २८-२-५०' के द्वारा आयुर्वेदिक एवं तिव्वी अकादमी, उत्तर प्रदेश की स्थापना निम्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए की—

१. प्राचीन आयुर्वेदिक एवं यूनानी साहित्य का संकलन, सम्पादन तथा प्रकाशन।

२. प्राचीन आयुर्वेदिक तथा यूनानी पुस्तकों तथा अन्य उपादेय चिकित्सा सम्बन्धी साहित्य का विदेशी भाषाओं से अनुवाद कराना और उसे प्रकाशित करना।

३. आयुर्वेद एवं यूनानी तिव के विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त स्तर की पाठ्य-पुस्तकों का हिन्दी में निर्माण।

यह भी निश्चय किया गया कि अकादमी एक परामर्शदात्री समिति के रूप में कार्य करेगी तथा उपयुक्त विद्वानों को पाठ्य-पुस्तकों के लेखन तथा प्राचीन एवं आधुनिक पुस्तकों के हिन्दी में अनुवाद करने के लिए आमंत्रित करेगी और उपयुक्त अधिकारी विद्वानों द्वारा उनका परीक्षण कराकर

यदि वे निर्धारित स्तर की हुईं, तो शासन की स्वीकृति लेखकों और सम्बन्धित विद्वानों को उपयुक्त पुरस्कार भी प्रदान करेगी। अकादमी का एक पृथक् पुस्तकालय भी स्थापित करने की स्वीकृति शासन द्वारा दी गयी।

किन्तु उपर्युक्त कार्य के लिए प्रारम्भ में जो कर्मचारी-वर्ग तथा अनुदान शासन द्वारा स्वीकृत किया गया वह इतना पर्याप्त नहीं था कि उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकों को लिखकर या अनुवाद कराकर इनके प्रकाशन का कार्य भी अकादमी आरम्भ कर सके। इसलिए प्रारम्भ में कई वर्षों तक अकादमी प्रत्येक वर्ष प्रकाशित पुस्तकों पर लेखकों को प्रोत्साहनार्थ केवल कुछ धन राशि पुरस्कार के रूप में प्रदान करती रही।

वर्ष १९६७-६८ में शासन ने शासनादेश सं० ५१४९ । ग।५-३७९।६६ दिनांक ७-३-१९६८ के अन्तर्गत उपयुक्त पुस्तकों के प्रणयन और उनके प्रकाशन के लिए अतिरिक्त अनुदान का प्राविधान किया तथा एक संपादक, एक अनुसंधान सहायक तथा एक पुस्तकाध्यक्ष के पदों का भी सृजन किया। अतः अकादमी ने जब अधिकारी विद्वानों से उपयुक्त ग्रन्थ लिखाकर तथा अनुवाद कराकर उन्हें प्रकाशित कराने का कार्य भी अपने हाथ में लिया है जिसके फलस्वरूप प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशित की जा रही है।

आयुर्वेद के अनुसार मानव-शरीर में क्रिया, दोष-वातु एवं मल द्वारा होती है, इसलिए क्रिया की दुष्टि से मानव-शरीर दोषधातुमलमूलक है।
दोष, धातु एवं मलों की साम्यावस्था से आरोग्य प्राप्त होता है और इनकी विषमावस्था से रोगोत्पत्ति होती है। आयुर्वेद के मत में स्वस्थ उसी मनुष्य को कहा जाता है जिसके दोष सम हों, अग्नि सम हो धातु एवं मल की क्रिया सम हो, साथ ही जिसके आत्मा, इन्द्रिय एवं मन प्रसन्न हों। आयुर्वेद की चिकित्सा पद्धति, दोष-यातु-मल और अग्नि पर आधारित है और यह विषय आयुर्वेद में क्रिया शारीर के अन्तर्गत आता है। लेखक ने दोषों अर्थात् वात-पित्त-कफ के प्राकृतिक स्वरूप, गुणकर्म, अधिष्ठान एवं कार्यों का विस्तृत विवेचन 'प्राकृत दोष विज्ञान' नामक ग्रन्थ में किया है जो क्रिया शारीर का प्रथम भाग कहा जा सकता है। दोषों के अनन्तर अग्नि का महत्व आता है।
अतः लेखक ने द्वितीय भाग के रूप में प्रस्तुत ग्रन्थ 'प्राकृत अग्नि-विज्ञान' का प्रणयन किया है। आयुर्वेद के मत से व्याधि की उत्पत्ति में दोषों के समान ही अग्नि-दुष्टि का भी बहुत महत्व है और जब तक विकृताग्नि निवृत होकर प्राकृत रूप में नहीं हो जाती है शरीर को स्वस्थ नहीं कहा जा सकता है। अतः इस विषय पर एक सद्ग्रन्थ की आवश्यकता बहुत दिनों से चली आ रही थी।

आचार्य निरंजनदेव को प्रस्तुत ग्रन्थ 'प्राकृत अग्नि-विज्ञान' उनकी गम्भीर साधना, चिन्तन एवं मनन का परिणाम है। आचार्य निरंजनदेव जी, आयुर्वेद के गंभीर एवं मूर्धन्य विद्वान हैं और अनेक वर्षों तक आयुर्वेद महाविद्यालय, गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार के प्रधानाचार्य रहे हैं। इसमें उन्होंने अग्नि विषय पर प्राचीन वाङ्मय में उपलब्ध सामग्री को वैज्ञानिक रीति से सर्वथा नवीन रूप में प्रस्तुत कर चिकित्सा में अग्नि के महत्व को प्रकाशित किया है। पुस्तक के अध्ययन से ही पाठक इसमें प्रतिपादित अमूल्य एवं विस्तृत ज्ञानराशि का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक आयुर्वेद के विद्यार्थियों और विद्वानों के लिए अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगी और इससे आयुर्वेद का साहित्य संपन्न होता रहेगा।

प्रस्तुत पुस्तक के मुद्रण तथा उसके कलेवर को सुन्दर आकर्षक एवं ग्राह्य बनाने में मेसर्स अभय प्रिन्टर्स, २०, जौहरी टोला, इलाहाबाद ने जो हमें सहयोग प्रदान किया है उसके लिये मैं उनका भी धन्यवाद करता हूँ।

(Signature)

लखनऊ

दिनांक मई, १९७४

अध्यक्ष

आयुर्वेदिक एवं तिब्बी अकादमी, उत्तर प्रदेश,
तुलसीदास मार्ग, लखनऊ-४

प्राक्कथन

‘दोष-धातु-मल विज्ञान’ के अंगभूत प्रथम विषय-त्रिदोष का—वर्णन ‘प्राकृत दोष विज्ञान’ नामक पुस्तक के रूप में किया जा चुका है। त्रिदोष अर्थात् वात-पित्त-श्लेष्मा में से पित्त के वर्णन में ‘अग्नि’ की चर्चा आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थों में हुई है, और अग्नि को पित्त के अन्तर्गत कहा गया है।

परन्तु, पित्त से पृथक् रखकर भी, अग्नि के विषय में विचार हुआ है, और स्वस्थवृत्त-निदान-चिकित्सा आदि के प्रकरणों में अग्नि का विस्तार से वर्णन आता है। आयुर्वेदीय क्रिया-शारीर या ‘दोष-धातु-मल विज्ञान’ की दृष्टि से विचार करें तो स्वस्थ देह में दोषों के उपरान्त अग्नि के विषय की ही मीमांसा करना उपयुक्त जान पड़ता है, सुश्रुत संहिता में ‘समदोषः’ के उपरान्त ‘समाग्निः’ का उल्लेख भी है। तदनुसार उक्त क्रम में ‘अग्नि’ विषय का वर्णन इस ‘प्राकृत अग्नि-विज्ञान’ के रूप में प्रस्तुत है।

जैसा कि नाम से प्रकट है इस पुस्तक में अग्नि के प्राकृत रूप को लेकर ही विचार हुआ है, वैकृत अंश को पृथक् छोड़ दिया गया है, क्योंकि क्रिया-शारीर की दृष्टि से इसकी नियत सीमा के अन्तर्गत रहकर विषय का प्रतिपादन करना उचित समझा गया।

पुस्तक में अग्नि के स्वरूप—गुण—कर्म—भेद—उपभेद—स्थान—क्रियाक्षेत्र, क्रियाओं के प्रकार, क्रिया परिणाम आदि पर यथाशक्य कुछ-कुछ मीमांसा प्रस्तुत की गई है। मन्तव्य की पुष्टि और समर्थन में मूल ग्रन्थों के तथा व्याख्याओं और टीकाओं के बचन, प्रमाण स्वरूप, पाद-टिप्पणियों में दे दिये हैं। विषय को अधिकाधिक स्पष्ट रूप में समझने की दृष्टि से कहीं-कहीं ‘जीव-रसायन-विज्ञान’ का आश्रय लिया गया है। अर्वाचीन वैज्ञानिकों के अनुसंधानों से भी स्वस्त की पुष्टि में सहारा मिला है। विषय-क्रम के निरूपण में आयुर्वेद मनी-षियों के ग्रन्थों से जो दिशा-निर्देश प्राप्त हुआ, उसी के अनुसार, पृथक्कालावद्ध अनेक प्रकरणों में इस विषय को प्रस्तुत किया जा रहा है।

‘अग्नि’ विषय का आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में यद्यपि अनेक प्रसंगों पर यत्रन्त्र पर्याप्त वर्णन मिलता है, परन्तु कोई स्वतन्त्र पुस्तक इस विषय पर उपलब्ध नहीं होती। मध्यकालीन एवं अर्वाचीन आयुर्वेदीय साहित्य में भी

इस विषय पर स्वतन्त्र पुस्तकें विरल ही हैं। ऐसी दशा में संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी वाडमय के नाना ग्रन्थों में से अभिनविषयक सामग्री का संकलन करके इस पुस्तक को प्रस्तुत करना पड़ा है। जिन विद्वानों के ग्रन्थ-पृष्ठों का मधु इस पुस्तक में संचित हुआ उन सबका यह लेखक आभारी है, इसका मधुच्छिष्ट या असार भाग लेखक का अपना समझा जाना चाहिए, और उसमें जिन त्रुटियों-विसंगतियों-न्यूनताओं की ओर इस विषय के अधिकारी विद्वान् निर्देश करेंगे उन्हें यथावसर निश्चय ही दूर करने का यत्न किया जायेगा।

पुस्तक के प्रणयन में लेखक की भावना यह है कि आयुर्वेद का मौलिक एवं महत्वपूर्ण विषय 'अग्नि' प्रकाश में आ सके, और इसके अध्ययन-अध्यापन में सहायता प्राप्त हो सके।

३०-४-१९७४

—निरंजनदेव

उपजीव्य ग्रन्थ-सूची

ग्रन्थ का नाम	परिचय
१ ऋग्वेद	
२ ऋग्वेद	सायण भाष्य
३ अथर्ववेद	
४ शतपथ ब्राह्मण	
५ निरुक्त	
६ कठोपनिषद्	
७ वृहदारण्यक उपनिषद्	
८ प्राणाग्निहोत्र उपनिषद्	
९ ब्रह्म सूत्र	
१० गीता	
११ चरक संहिता	
१२ चरक संहिता	चक्रपाणि कृत व्याख्या
१३ चरक संहिता	शिवदास सेन कृत व्याख्या
१४ सुश्रुत संहिता	
१५ सुश्रुत संहिता	चक्रपाणिदत्त कृत व्याख्या
१६ सुश्रुत संहिता	डल्हणकृत व्याख्या
१७ काश्यप संहिता	
१८ भेल संहिता	
१९ अष्टांग संग्रह	
२० अष्टांग हृदय	
२१ अष्टांग हृदय	अरुणदत्तकृत व्याख्या
२२ अष्टांग हृदय	हेमाद्रिकृत व्याख्या
२३ माघव निदान	
२४ योग रत्नाकर	
२५ मानस रोग विज्ञान	श्री वा० अ० पाठक
२६ आयुर्वेदोय क्रिया-शारीर	आचार्य रणजित राय

ग्रन्थ का नाम	परिचय
२७ वायोकॅमिस्ट्री	वेस्ट एन्ड टॉड
२८ इन्ट्रोडक्शन टु काय चिकित्सा	डा० सी० द्वारकानाथ
२९ जीवतित्तीविमर्श	डा० पद्मदेव नारायणसिंह
३० ए हैन्डबुक आॅफ क्रिजियॉलॉजीजी एण्ड वायोकॅमिस्ट्री	आर० जे० एस० मॉकडॉवल
३१ फंक्शन आॅफ ह्यमन वॉडी	आर्थर सी० गायटन
३२ शारीर तत्व दर्शनम्	श्री पुरुषोत्तम हिर्लेकर
३३ वैद्यक शब्द सिन्धु	
३४ व्याधि मूल विज्ञान	श्री हरिशरणानन्द वैद्य

विषयानुक्रमणिका

(क) अग्नि-विषयक विविध प्रसंग

विषय का नाम	पृष्ठ संख्या
(१) वैदिक साहित्य में अग्नि	३
(२) अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति तथा पर्याय	४
(३) उपनिषदों में अग्नि-विषयक चिन्तन	६
(४) दर्शनों में अग्नि-विषयक विचार	७
<u>(५) आयुर्वेद में अग्नि</u>	८
(६) 'क्रिया शारीर' में अग्नि का स्वरूप	१०
(७) देहाग्नि—'द्रव्य विशेष'	११
(८) पित्तः—अग्निः—ऊज्ज्वला	१२
(९) अग्नि या अन्तर्रूप्या और उसकी उत्पत्ति	१३
<u>(१०) देहधारक भाव और अग्नि</u>	१४
(११) तोन या तेरह अग्नियाँ	१५
(१२) भूताग्नि, धात्वाग्नि, पाचकाग्नि	१५
(१३) अग्नियों के संक्षिप्त कर्म	१६

(ख) प्राकृत पाचकाग्नि विमर्श

(१४) पाचकाग्नि का प्रयोजन	२१
(१५) पाचकाग्नि का स्वरूप	२४
(१६) पाचकाग्नि या अन्तराग्नि का स्थान और क्रियास्थल	३२
(१७) पाचकाग्नि की क्रियायें या पाचकाग्नि कर्म	३६
(१८) अवस्थापाक एवं निष्ठापाक या विपाक	५०
(१९) पाचकाग्नि की विशेषतायें	५६
(२०) पाचकाग्नि का सन्धुक्षण या प्रदीपन	६३
(२१) पाचकाग्नि का इन्धन	६८
(२२) पाचकाग्नि के भेद	७०
(२३) पाचकाग्नि पर वात-पित्त-इलेष्मा का प्रभाव	७२

विषय का नाम

पृष्ठ संख्या

- (२४) पाचकाग्नि की विकृतियों के सामान्य उपाय ७७
 (२५) पाचकाग्नि का दोषों पर प्रभाव ७८

(ग) प्राकृत भूताग्नि विमर्श

- (२६) भूताग्नि और देह के भौतिक भाव ८३
 (२७) भूताग्नि का प्रयोजन ९०
 (२८) भूताग्नि का स्वरूप ९४
 (२९) भूताग्नियों का क्रियास्थल १०३
 (३०) भूताग्नि पाक १०७

(घ) प्राकृत धात्वग्नि विमर्श

- (३१) धात्वग्नि और नवधातु निर्माण के सिद्धान्त ११७
 (३२) धात्वग्निं का स्वरूप १२५
 (३३) रसाग्नि १३४
 (३४) रसाग्नि का स्वरूप १३४
 (३५) रसाग्निकर्म और उसके परिणाम १३५
 (३६) रस का भौतिक एवं रासायनिक संघटन १३७
 (३७) रक्ताग्नि १३९
 (३८) रक्ताग्नि की परिभाषा १३९
 (३९) रक्त १३९
 (४०) रक्त और प्राण १४०
 (४१) रक्तरंजक १४२
 (४२) रक्तबीजोत्पत्ति १४२
 (४३) रंजक पित्त और रक्ताग्नि १४४
 (४४) रक्त के अन्य उपादान १४६
 (४५) रक्त की रस सापेक्षता १४७
 (४६) रक्त का पांचभौतिक संघटन १४७
 (४७) रक्ताग्नि के मुख्य कर्म १४८
 (४८) मांसाग्नि :— १५२
 (४९) मांस धातु का स्वरूप १५२
 (५०) मांस धातु का भौतिक और रासायनिक संघटन १५३

विषय का नाम	पृष्ठ संख्या
(५१) मांस धातु के प्रयोजन	१५४
(५२) मांसाग्नि का प्रयोजन	१५५
(५३) मांसाग्नि की परिभाषा	१५५
(५४) मांसाग्नि-कर्म	१५५
(५५) मांसाग्नि कर्म के परिणाम	१६०
(५६) मेदोग्नि	१६३
(५७) मेद धातु का स्वरूप	१६३
(५८) मेद और स्नेह द्रव्य	१६४
(५९) मेद का भौतिक संघटन	१६५
(६०) मेद का रासायनिक संघटन	१६६
(६१) स्नेहों से मेद धातु तक	१६६
(६२) मेद और मेदोग्नि	१७९
(६३) मेदोग्नि-कर्म और उसके परिणाम	१८०
(६४) मेद की अन्तिम गति	१८१
(६५) मेदोजनित किट्ट	१८८
(६६) अस्थ्यग्नि	१८९
(६७) अस्थि	१८९
(६८) अस्थियाँ और उनका उपादान	१९०
(६९) अस्थि का संघटन	१९१
(७०) अस्थि का प्रारम्भ	१९३
(७१) अस्थियों के उपादान द्रव्य : उनका पचन :	
उपशोषण	१९३
(७२) अस्थि के उपादानों का देहसात्मीकरण	१९९
(७३) अस्थ्यग्नि	२०१
(७४) अस्थ्यग्नि और वात	२०२
(७५) अस्थिघटः अस्थ्यग्निः वात	२०८
(७६) अस्थ्यग्नि-कर्म और उसके परिणाम	२०९
(७७) मज्जाग्नि	२१३
(७८) स्नेहः मेदः मज्जा	२१३
(७९) मज्जाग्नि का स्वरूप	२१४
(८०) मज्जाग्नि और वात	२१५

विषय का नाम	पृष्ठ संख्या
(८१) मज्जाग्नि-कर्म और इसके परिणाम	२१६
(८२) शुक्राग्नि	२१७
(८३) शुक्र	२१९
(८४) शुक्राग्नि का स्वरूप	२२१
(८५) शुक्राग्नि कर्म और इसके परिणाम	२२५
(ड) उपसंहार	
(८६) पाचकाग्नि की प्रधानता	२३१
(८७) अग्नि और आहार	२३८
(८८) अग्नि एवं आरोग्य	२४४
(८९) अग्नि का महत्व	२४८

१ : ऋग्नि-विषयक विविध प्रसंग

वैदिक साहित्य में अग्नि

भारत की प्राचीनतम भाषा—‘संस्कृत’ के वाड़मय में—विशेषतः वेदों में—आध्यात्मिक विषयों के अतिरिक्त प्रकृति की विभूतियों के—भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि के—सम्बन्ध में भी महत्त्वपूर्ण विचार उपलब्ध होते हैं। अग्नि के विषय में यह विचार पाया जाता है कि इस विश्व ऋत्याण्ड में—इसके लोक-लोकान्तरों में और इनके कण-कण के अन्तराल में—एक ‘अग्नि’ व्याप्त है। भूमि, जल, पत्थर, पहाड़, वादल, वनस्पति, अनाज, आदमी कोई भी इस अग्नि से रिक्त नहीं है, सबके भीतर अग्नि की सत्ता है। पृथ्वी पर स्थित वानस्पतिक जगत् और प्राण जगत्, चर, अचर, सबमें अग्नि की विद्यमानता है। मनुष्यों के भीतर भी इसकी सत्ता है।

Ex. अग्नि चराचर में समाविष्ट है—इस स्थापना के मूल में क्या भावना और युक्ति-परम्परा रही होगी—आज यह निश्चय से कहना कठिन है। ऐसा प्रतीत होता है कि भूगर्भ में उपलब्ध ऊर्जा को अनुभव करके—ज्वालामुखी पर्वतों से आग निकलते देखकर—या भूमि के भीतर से प्राप्त चमकीली धातु-उपधातुओं में से भाँकने वाली चमकीली ज्योति को देखकर—भूमि में अग्नि का अंश माना गया। जल में से भलकने वाली चमक में अग्नि का सूक्ष्म रूप देखा गया। पत्थरों के परस्पर टकराने से उत्पन्न आग को देखकर इनके भीतर व्याप्त अग्नि को कल्पना की गई। वृदलों की परस्पर टक्कर और रगड़ से उत्पन्न विजली को, उसकी चमक के द्वारा तथा उसके गिरने से झूलसे हुए पदार्थों द्वारा, अग्नि रूप माना गया और उन वादलों में विद्युन्मय अग्नि का ज्ञान किया गया। बँड़ी-बँड़ी वनस्पतियों के घर्षण से वनों

- ‘येऽग्नयोऽप्सु ये वृत्रे ये पुरुषे येऽऽमसु आदिवेश ओषधीयों वनस्पतीं स्तेभ्यो-
अग्निभ्यो हुतमस्तवेत् ।’ (अथर्व०)
- ‘त्वमग्ने द्युमि स्त्वमाशुशुक्षणि स्त्वमध्य स्त्वमश्मनस्परि ।
त्वं वनेश्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपसे जायसे शुचि ॥’ (ऋग्क०)

के भीतर लगी हुई आग को देखकर पेड़-पौधों में अग्नि की सत्ता स्वीकार की गई। अनेक औषधियों के तथा अन्न के—विशेषतः परिपक्व नवान्न के—सेवन से उत्पन्न गरमों को अनुभूति ने अनाज के भीतर अग्नि की विद्यमानता को सूचित किया। आदमियों तथा जानवरों में अनुभव की जाने वाली ऊष्मा से तथा इनके उदरों में खाद्यान्नों के पचन से इनके भीतर भी अग्नि की सत्ता का संकेत प्राप्त हुआ।

इस प्रकार के जो भी आधार रहे हों, परन्तु—प्रत्येक वस्तु में अग्नि समाई हुई है—यह विचार वेदों में मिलता है।

वैदिक काल के उपरान्त जब वेदों की यज्ञ परक व्याख्याएँ प्रबल हुईं, उस समय, अग्नि को स्वभावतः अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ। दैनिक उपासना में हवन के अतिरिक्त प्रत्येक कथा-वार्ता-प्रवचन-उत्सव-संस्कार आदि के आरम्भ में यज्ञ होने से, अग्नि की घर-घर में प्रतिष्ठा हुई। सब कार्यों में प्रथम स्थान या सबसे अगला स्थान मिलने के कारण इसे ‘अग्रणी’ कहा गया।

जो लोग याजिक दृष्टि के अतिरिक्त वेदों की व्यापक व्याख्याएँ करते थे, उन्होंने अग्नि के इस अग्रणी और उच्च रूप को—व्यक्ति, समाज एवं राजनीति में देखा; तथा सब कार्यों में आगे-आगे रहने वाले व्यक्ति अर्थात् समाज के मुखिया, नेता, गण-मुख्य तथा राजा के अर्थों में भी अग्नि शब्द का प्रयोग स्वीकार किया।

इस प्रकार वैदिक और ब्राह्मण काल में अग्नि शब्द को, स्थूलाग्नि तथा सूक्ष्माग्नि के अतिरिक्त, अन्य व्यापक अर्थों में भी लिया गया है; यह वात अग्नि शब्द के यौगिक अर्थों को समझने तथा अग्नि के पर्यायिकाची शब्दों का अभिप्राय जान लेने के उपरान्त अधिक स्पष्ट हो जाती है।

अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति तथा पर्याय

‘अग्नि’ संस्कृत भाषा का शब्द है, यह ‘व्यापक’ अर्थ रखने वाले ‘अंग’ (अंगति व्याप्तोति इति अग्निः) धातु से, या गतिपरक ‘अग’ धातु से बना हुआ माना जाता है। इस दृष्टि से ‘अग्नि’ का अर्थ हुआ व्याप्त रहने वाला पदार्थ या प्रगतिशील वस्तु।

वैदिक और लौकिक साहित्य में अग्नि के अनेक पर्याय हैं, यथा—
पर्याय (१) वेश्वानर—सब मनुष्यों के शरीरों को प्राप्त होने से, या सबको गति

३. ‘अग्निः कस्मात्-अग्रणी भवति’। (यास्क)

देते रहने के कारण, अग्नि को वैश्वानर कहा गया है।^१ सब मनुष्यों के कुक्षि या कोष्ठ में स्थित होने से भी, इसे वैश्वानर कहते हैं।^२ यह वैश्वानर या अरिन, प्राण-अपान-समान के सहकार में चारों प्रकार के आहार को पचाने^३ की क्रिया सम्पन्न करता है।

(२) सर्वपाक—अरिन का यह नाम, इसके द्वारा समस्त स्थूल सूक्ष्म द्रव्यों को पचाये जाने का संकेत देता है।

(३) तनूनपात्—‘तनून् अपात्’ अर्थात् तनु या शरीर को गिरने न देने वाला। यह तनूनपात् या अग्नि, जब तक देह के भीतर बगा रहता है तब तक, देह का पतन या मृत्यु नहीं होती।^४

अग्नि के वैश्वानर, सर्वपाक और तनूनपात्, ये तीनों नाम ‘शरीर क्रिया विज्ञान’ की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

(४) अमीवचातन—“अमीवानां” रोगाणां चातनो घातकः”—अर्थात् रोगों का नाशक होने से अग्नि को अमीवचातन नाम दिया गया है।

(५) दमूनस्—रोगनाशक अग्नि।

(६) शुचिः—शोधक अग्नि।

अमीवचातन और दमूनस् शब्द अरिन के, कीट-कृमि जीवाणनाशक और रोगनाशक, गुण को प्रकट करते हैं; तथा गुचि शब्द इसके शोधनगुण या निर्मलीकरण की विशेषता को सूचित करता है।

वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों ने अग्नि को ‘रुद्र’^५ शब्द से भी संबोधित किया है। अन्यत्र इसके आठ^६ नाम दिये गये हैं—रुद्र, महादेव, शर्व, पशुपति,

४. ‘विश्वान् नरान् नयति, विश्वे एन् नरा नयन्ति वा’।

(निरुक्त, दैवत, अध्याय ७, पाद ६)

५. ‘विश्वेषां नराणां कुक्षिस्थत्वात्’। (तारानाथ भट्टाचार्य)

६. ‘अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहभाश्चितः।

प्राणापान समानैस्तु पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ (गीता १५-१४)

७. (निरुक्त, दैवतकाण्ड, अध्याय ८, पाद २)।

८. ‘अमीवशब्दः ‘अम रोगे’ इत्यस्मात्’।

(ऋक् ० १-१२-७, सायण भाष्य)

९. यो वै रुद्रः सोऽग्निः।

(शतपथ ५।२।४।३)

१०. ‘तान्येतान्यज्ञावग्निरूपाणि’।

उग्र, अशनि, मन, ईशान। इनमें सभी नाम महत्त्वपूर्ण हैं, विशेषतः पशुपति, अर्थात् प्रत्येक प्राणी का पालन-रक्षण करने वाला।

अग्नि के रुद्र और महादेव नाम भी ध्यान देने योग्य हैं। महादेव=महेश्वर। आयुर्वेद के प्राचीन चिकित्सक सुश्रुत ने ज्वर रोग को 'षुद्रकोपाग्नि�-सम्भूत' और चरक ने 'महेश्वरप्रभव' कहा है। इस प्रसंग में रुद्र और महेश्वर (अग्नि के पर्याय होने से) स्पष्टतः अग्निपरक हैं। देह के भीतर विभिन्न कारणों से अग्नि (अन्तरग्नि) के दूषित हो जाने पर—अनेक बार—देहोष्मा प्रबल हो उठता है। इसका तापाधिक्य या 'संताप' ही ज्वर रूप है। पूर्वकथित दोनों चिकित्सकों ने देहाग्नि या कायाग्नि का महत्त्व प्रकट करते हुए, ज्वर की इस 'अग्निविकार-मूलक' सम्प्राप्ति का, अपने समय की आलंकारिक शैली में वर्णन किया है। अस्तु, कहने का अभिप्राय यह कि वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों के युगों में अग्नि के स्थूल सूक्ष्म रूपों की कल्पना हुई और इसके विविध गुण-धर्मों का ज्ञान प्राप्त किया गया।

उपनिषदों में अग्नि-विषयक चिन्तन

वेदों और ब्राह्मणों के पश्चात् उपनिषद् काल में भी अग्नि का सूक्ष्म अवलोकन और उस पर चिन्तन हुआ। असम्भव नहीं जो इस संबंध में कोई परीक्षण भी हुए हों, क्योंकि इस काल में यह विचार आया कि 'अग्नि' प्रकाश और विद्युत् ये एक ही मूलतत्व के भिन्न-भिन्न रूप हैं, इन्हें तत्कालीन पारिभाषिक शब्दों में अग्नि-आदित्य-वायु कहा गया।^{११} अग्नि की चराचर में व्यापकता के विचार को पुष्टि की गई, और यह स्थापना रखी गई कि अग्नि के भिन्न-भिन्न रूप हैं।

इस भ्रुवन-व्याप्त अग्नि का यह कार्य माना गया कि सब पदार्थों के अणु एक और तो इस अग्नि द्वारा दग्ध हो-होकर विनष्ट या विघटित हो रहे हैं, तथा दूसरी ओर यह अग्नि इनके नये-नये अणुओं को जन्म या रूप संघटन भी दे रहा है। अतः एक प्रकार से इस अग्नि द्वारा ब्रह्माण्ड में विनाश और सृजन का अविराम चक्र चल रहा है। इन विघटित और संघटित होते हुए पदार्थों में अग्नि के नाना रूप हो गये हैं। सूर्य का प्रकाश और ताप, मेघों में प्रगट होने वाली विद्युत्, चन्द्रमा और नक्षत्रों की ज्योति, स्वर्ण-रजत-वज्र-मुक्ता-मणि आदि

११. 'आन्तस्य तप्तस्य तेजो रसो न्यवर्त्तत अग्निः। स त्रेषा जात्मानं व्यकुरुत आदित्यं द्वितीयं वायुं तृतीयम्'। — (वृहदारण्यक उपनिषद्)

में विद्यमान भास्वरता, नेत्र-नख-त्वचा आदि पर रहने वाली कान्ति, फूलों-फलों के विविध रंग-बग्मक और पाक तथा सजोव शरीरों के भीतर रहने वाली ऊष्मा—ये सब अग्नि के भिन्न-भिन्न रूप हैं, वल्कि इस अग्नि के इतने अधिक और विविध रूप हैं कि प्रत्येक द्रव्य में यह तद्रूप होकर रह गया है।^{१३}

दर्शनों में अग्नि-विषयक विचार

दर्शनकारों ने अग्नि-विषयक चिन्तन को आगे बढ़ाया तथा अधिक ऊहापोह किया। उन्होंने सम्पूर्ण मूर्त्त वस्तुओं के 'रूप' का कारण अग्नि को माना, और इसे एक मूल 'तत्त्व' स्वीकार किया। हमारे स्थूल धरती-पानी-आग-हवा और आसमान में तो अग्नि विद्यमान है ही, परन्तु ये स्थूल 'भौतिक' जिन महाभूतों से (अन्योन्य अनुप्रविष्ट सूक्ष्म भूतों से) बने हैं; उनमें भी अग्नि की सत्ता है। उन्होंने अग्नि को 'अष्टरूपा' मूल प्रकृति का एक अंश माना और इसके सूक्ष्म रूप या कारणद्रव्य को—'रूपतन्मात्र' नाम दिया। इस चराचर का अन्यतम 'कारणद्रव्य' होने से, अग्नि, स्वतः ही, प्रत्येक भौतिक द्रव्य को बनाने वाले 'चतुरणुक', 'त्रसरेणु' और 'द्व्यणुक' का अंश हो जाता है।^{१४}

दर्शनकारों ने अग्नि की आठ मूलद्रव्यों या कारण द्रव्यों में गणना की; और इसे परमाणु-रूप माना। भुवन-व्याप्त होने पर भी, इस अग्नि के विविध सूक्ष्म स्थूल रूपों को अधिकाधिक जानने और समझने की दृष्टि से, उन्होंने इसके चार वर्ग^{१५} किए : १. दिव्याग्नि, २. भौमाग्नि, ३. आकरज अग्नि और ४. औदर्याग्नि।

दिव्याग्नि : द्युलोक में—अर्थात् इस वायुमण्डल और इससे ऊपर के अनन्त अन्तरिक्ष लोक में व्याप्त उन अग्नियों का वर्ग है, जो वादलों में विद्युत रूप तथा सूर्य, चन्द्र तारक आदि ग्रह-नक्षत्रों से फूटने-फैलने वाली

१२. 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव'। (कठ उपनिषद्)

१३. आधुनिक विज्ञान के अनुसार चराचर की मूर्त्त वस्तुओं को बनाने वाले 'भौतिक तत्वों' या 'मूल भौतिकों' में—अर्थात् कज्जल, ओषजन, उद्जन, नत्रजन, सोडियम, पोटाशियम, मैग्नीशियम, गन्धक, प्रस्फुरक आदि में भी यह अग्नि तत्त्व विद्यमान है, और इनकी अन्तिम इकाई 'एटम' के भौतिक होने से, इसमें भी 'अग्नि' की सत्ता है।

१४. व्याय वैशेषिक के अनुसार।

असंख्य प्रकार की किरणों के रूप में ज्ञात और अज्ञात है। आधुनिक विज्ञान, अल्ट्रा वायलेट रेज़, एक्सरेज़, गामा रेज़ आदि नामों से इन दिव्य अग्नियों को विशेष खोजें कर रहा है।

भौमाग्नि : इस भूमि की स्थल अग्नि है, जिसमें अनेक रंगों की ज्वालाएं-अंगार-धूम आदि देख पड़ते हैं; और जो वस्तुओं को तपाने, झुल-साने, जलाने, पकाने, पिघलाने, द्रवशोषण करने, प्रकाश उत्पन्न करने आदि अगणित कामों में आती है।

भूमि पर स्थित वृक्ष वनस्पतियों को तो प्राणवान् ही स्वीकार किया गया है, अतः इनके अपने सम्पोषण, संवर्धन एवं फूलों-फलों के पचन कर्म के लिए उत्तरदायी 'अग्नि' की, इनमें सत्ता, स्वभावतः स्वीकार की गई।

आकरज अग्नि : भूगर्भ में ऊर्ध्वरूप है और भूमि के भीतर स्थित वस्तुओं में विशेषतः धातुओं में—सुवर्ण, रजत, वंग, ताम्र, प्लाटिनम, रेडियम-आदि में; खनिजों में—गन्धक, कोयला, प्रस्फुरक, शिला, ताल, सोमल आदि में; तथा मणि-रत्नों में—हीरा, पत्ता, पुखराज, माणिक्य, तीलम आदि में होती है। यह अग्नि इन द्रव्यों के भीतर निर्गूढ़ है और इनके रूप-रंग, चमक-दमक, या कान्ति के द्वारा प्रकट होती है।

औदर्याग्नि : अर्थात् उदरों के भीतर या प्राणियों के कोष्ठों में रहने वाली अग्नि। इस अग्नि का सम्बन्ध स्पष्टतः जंगम जगत् या असंख्य जीव-जन्तुओं से है। प्रत्येक प्राणी जो कुछ आहार लेता है, उसका पचन उदर में विद्यमान अग्नि से होता है, अतः इसे औदर्याग्नि नाम दिया गया है।

आयुर्वेद में 'अग्नि'

प्राणियों के—विशेषतः मानवों के उदर में विद्यमान उक्त औदर्याग्नि पर चिकित्सा-क्षेत्र में विशेष विचार हुआ है, क्योंकि यह अग्नि देह की अन्य अग्नियों में प्रमुख है।

'लोकसम्मितोऽयं पुरुषः' के अनुसार जिस प्रकार विश्व व्रह्माण्ड में 'अग्नि' व्याप्त है; उसी प्रकार देह पिण्ड में भी है, जिसका केन्द्र 'उदर' है। आर्य चिकित्सा-शास्त्र के शरीर-क्रियाविज्ञानियों ने, इसी से, इस औदर्याग्नि को 'पात्रकाग्नि' के साथ-साथ 'देहाग्नि' या 'कायाग्नि' संज्ञा दी है। सजीव शरीर की यह अग्नि या कायाग्नि भी बहुरूपा या विविध प्रकार की है। इसकी एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें ज्वाला, अंगार, धूम नहीं होते; फिर भी

यह पचन, दहन, शोषण आदि अग्निकर्म सम्पन्न करती है। वाहा अग्नि से हमारी इस कायाग्नि में कुछ विलक्षणता रहती है।

देहोऽमा और कायाग्नि : किसी जीवित व्यक्ति को देखते समय हमारी दृष्टि सबसे पहिले प्रायः उसके चेहरे और नेत्रों पर जाती है। स्वस्थ चेहरे की त्वचा, नेत्र, केशादि में और नखों में जो चमक दिखाई देती है तथा जिसे तेज, प्रभा, कान्ति, भास्त्वरता आदि नाम दिये जाते हैं, ये सब देहोऽमा या 'तेज' के रूप हैं।^{१५} सजीव देह का स्पर्श करें तो वह उष्ण अनुभव होता है। इसका कारण ऊष्मा या ताप है, जो 'तेज' या अग्नि महाभूत का रूपान्तर है। जहाँ-जहाँ यह ऊष्मा होती है, वहाँ-वहाँ उक्त महाभूत की विद्यमानता स्वीकार की जाती है। उक्त उष्मता या ऊष्मा देह की वाह्य त्वचा पर ही नहीं; भीतर मुख, जिह्वा, आमाशय, आन्त्र आदि सब अवयवों में, यहाँ तक कि प्रत्येक पेशी, नाड़ी, स्नायु, तन्तु, रुधिर और देह के सूक्ष्मतम सजीव अवयव 'देहाणु' या 'देहघट' (कोशा) तक में विद्यमान होती है। इस उष्मता या ऊष्मा का विशेष महत्व है। देह के समस्त अग्निकर्म—पचन, दहन, ज्वलन आदि—इसकी उपस्थिति में होते हैं। यह न हो तो अग्निकर्म या रासायनिक क्रियायें सम्पन्न नहीं हो पाती। देह के भीतर इसकी विद्यमानता को जीवन^{१६} का प्रमुख चिह्न माना गया है।

यह ऊष्मा या ताप स्वस्थ दशा में एक निश्चित सीमा या नियत मान तक रहता है। परन्तु अस्वस्थ दशा में घटा-घटा होता है। इसका घटा हुआ रूप 'संताप' है, जो ज्वर का प्रधान चिह्न होता है।^{१७}

जिस औदर्याग्नि या कायाग्नि का प्रथम उल्लेख हुआ है, उसके विषय में कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि जीवित देह का स्पर्श करने पर जो ताप-ऊष्मा या गर्मी अनुभव होती है—मात्र यही—वह 'औदर्याग्नि' होगी, परन्तु ऐसा नहीं है।

१५. 'तेजो देहोऽमा . . .' (च० चि० अ० १५-३-५ की टीका में चक्रपाणि दत्त)।

१६. 'अस्थैव चोपयत्तेऽवोऽमा'। (ब्रह्मसूत्र ४।२।११)

'तथाहि मृतावस्थायां अवस्थितेऽपि देहे विद्यमानेष्वपि च रूपादिषु देह-गुणेषु न ऊष्मा उपलभ्यते, जीवत् अवस्थायां एव तु उपलभ्यते, इति।

अत उपपद्यते प्रसिद्धशरीरव्यतिरिक्तव्यपाश्रय एव एष ऊष्मा, इति। तया श्रुतिः—'उष्ण एव जीविष्यन् शोतोमरिष्यन्'—इति।

(मानसरोग विज्ञान, प्र० ख०, पृष्ठ ३१)

१७. 'ज्वरप्रत्यात्मिकं लिङं सन्तापो देहमानसः'। (च० चि० अ० ३)

इतना तो ठीक है कि सजीव देह के भीतर-बाहर सदा विद्यमान रहने वाली और इसमें जीवन को सूचित करने वाली ऊष्मा या गर्भों का भी बहुत महत्व है, क्योंकि इसके कम होते ही मनुष्य अस्वस्थ हो जाता है और इसके सहसा नष्ट हो जाने पर शीतांग होकर मृत्यु तक हो सकती है; परन्तु यह सजीव देह में व्याप्त अग्नि का—कायाग्नि का—पूर्ण रूप नहीं है। यदि मात्र यह उष्णता या ताप ही कायाग्नि होती तो मन्दाग्नि रोग में गर्भ पहुँचा देने से 'काम चल जाता, परन्तु ऐसा होता नहीं है; इस रोग में तो ऐसे द्रव्य देने पड़ते हैं, जो अग्निगर्भी अतएव दीपन पाचन गुणविशिष्ट होते हैं। इसी प्रकार ज्वर रोग में ऊष्मा या ताप के बढ़ जाने पर भी 'अग्नि' सबल नहीं होती, प्रत्युत निर्वल ही रहती है। इससे ज्ञात होता है कि जिस कायाग्नि या अग्नि की समावस्था को आरोग्य एवं दीघयुष्य के लिए अनिवार्य बतलाया गया, जिसकी विकृति को बहुत से रोगों का मूल कारण माना गया और जिसके शान्त हो जाने पर मनुष्य की मृत्यु देखो गई,^{१८} वह अग्नि के बलमात्र 'ताप' या ऊष्मा नहीं है—वह इसके अतिरिक्त भी कुछ और है।

क्रिया-शारीर में अग्नि का स्वरूप

आयुर्वेद के शारीर-क्रिया-विज्ञान में अग्नि देहाग्नि या कायाग्नि का पूर्ण और साष्ट रूप—'पित्तोष्मा' शब्द से प्रकट होता है और इसी का संहिताकारों तथा प्रामाणिक टीकाकारों ने भी समर्थन किया है। 'पित्तोष्मा'—अर्थात् 'पित्त द्रव्य और ऊष्मा का समवेत रूप'^{१९}। देहजगत् में इसी पित्तोष्मा को बहिः या अग्नि कहा गया है^{२०}।

'पित्त' का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि यह आनेय अर्थात् रासायनिक प्रकृति के अनेक प्राणिज द्रव्यों का मिश्रण है। ये आनेय प्राणिज द्रव्य अथवा जीव-रसायन द्रव्य^{२१} नाना प्रकार की रासायनिक क्रियायें या अग्नि-

१८. शान्तेऽनौच्रियते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः।

रोगी स्याद् विष्टतेमूर्लं अग्निः तस्मान्निरुच्यते ॥ (च० च० अ० १५)

१९. 'पित्तान्तर्गतं' इति वचनेन शरीरे ज्वालादियुतवह्निवेषेन पित्तोष्मा रूपस्य वह्नेः सद्भावं दर्शयति ।

(च० सू० अ० १२-११ की टीका में चक्रपाणिदृत)

२०. वायोकैमिकल सव्स्टेन्स ।

कम^{१२} सम्पन्न करते हैं। जीव-रसायन-धर्मा ये प्राणिज द्रव्य या 'पित्त' और इनकी क्रिया के लिए अपेक्षित ताप या 'ऊष्मा' ये दोनों मिलाकर 'अग्नि' कहे गये हैं। इन्हीं को चक्रपाणि दत्त ने 'पित्तोष्मा' कहा है।

इस प्रकार 'पित्तोष्मा' या 'अग्नि' (जिसे वहुधा केवल 'ऊष्मा' शब्द से कह दिया गया है) —का अर्थ होता है—“सजीव देह में रासायनिक क्रियाओं के लिए उत्तरदायी आनेय प्रकृति के प्राणिज द्रव्य और इनकी क्रिया के लिए अपेक्षित ताप !” ये जीवरसायनद्रव्य या प्राणिज अग्नि-द्रव्य प्रायः सूक्ष्म होते हैं; और पित्त के अन्तर्गत हैं^{१३} अर्थात् ये पित्तवर्गीय हैं और स्थूल पित्त में उसके क्रियाशील अंश के रूप में रहते हैं। ये पित्त के अपने अंग हैं। स्थूल 'पाचक पित्त' में तो ये 'अग्नि द्रव्य' अव प्राप्त भी कर लिये गये हैं। धातुओं में भी 'धात्वग्नि' रूप में इनकी विद्यमानता स्वीकार की गई है।

देहाग्नि-‘द्रव्य विशेष’

पिछले प्रकरण में अग्नि को 'द्रव्य' शब्द से सम्बोधित किया गया है, और 'अग्नि' वस्तुतः 'द्रव्य' ही है।

आयुर्वेदीय 'पदार्थ विज्ञान' में तो महाभूत रूप अग्नि को स्पष्टताः ९ द्रव्यों में गणना है। शरीर-क्रिया-विज्ञान में, देहाग्नि के साथ नाना क्रियाओं का सम्बन्ध बतलाया जाता है, चरक ने इस अग्नि को शुभ अशुभ प्रकार के कर्मों का कर्ता कहा है। आयुर्वेद की दार्शनिक विचारधारा के अनुसार क्रिया का आश्रय 'द्रव्य' ही होता है; 'गुण' नहीं होता। अतः शरीर-क्रिया-विज्ञान में भी, पित्त के अन्तर्गत होकर—पित्त में लिलीन होकर—रहने वाला और नाना क्रियाओं को सम्पन्न करने वाला 'अग्नि', 'द्रव्य विशेष' ही होना चाहिए;—भले ही यह सूक्ष्म रूप में हो; स्थूल द्रव्य के भीतर अनेक सूक्ष्म द्रव्य रहते भी हैं।

संहिताकारों के कथन से ज्ञात होता है कि पित्त के प्रमुख कर्म—अन्नपचन, रसरंजन, त्वक्भ्राजन, रूपालोचन और विचारसाधन हैं। इन सब कर्मों का मूलजनक, पित्त के अन्तर्गत रहने वाला 'द्रव्य' रूप अग्नि ही हो सकता है।

वस्तुतः पूर्वकथित रसरंजन आदि देहाग्नि कर्मों या जीवरसायनी क्रियाओं को सम्पन्न करने में देह के जितने रसायन-धर्मा सूक्ष्म स्थूल द्रव्य भाग लेते हैं, वे सब—‘आयुर्वेदीय-क्रिया-शारीर’ की परिभाषा में—‘अग्नि’ हैं।

२१. केमिकल एक्शन।

२२. ‘अग्निरेव पित्तात्पर्गतः शुभाशुभानि करोति’। (च० सू० अ० १२)

धान्वन्तर सम्प्रदाय ने तो इसी अभिप्राय से सब अग्निगर्भी पित्तों को, अग्नि के नाम पर—पाचकाग्नि-रंजकाग्नि आदि अग्निपरक नाम भी दिये हैं।

क्रियाशारीर की बहुसंख्यक अग्नियों में महास्रोतस् या कोष्ठ में रहने वाला अग्नि सर्वग्रधान है। यह आमाशय, यकृत् आदि के पाचक स्रावों के साथ-साथ —इनमें लोन रहकर—अर्थात् पाचक पित्त के आश्रय से, रहता है। आधुनिक अनुसंधानों से प्रमाणित है कि कोष्ठगत पाचक-पित्त में बहुत प्रकार के अग्निद्रव्य विद्यमान रहते हैं, इन्हें अष्टांश संग्रहकार ने पाचकांश या पाचनांश नाम दिया है।

अग्नि शब्द अनेक स्थलों पर एकवचन में प्रयुक्त है, इससे यद्यपि किसी एक द्रव्य का आभास होता है, पर जिस प्रकार कफ, वोधक-श्लेषक-ब्लेदक आदि भेद से बहुरूपी है; या वात, प्राण-उदान-समान आदि भेद से अनेक प्रकार के वायुओं का एक वर्ग है; उसी प्रकार 'अग्नि' भी एक समूह, परिवार या वर्ग है। इस वर्ग में जीव-रसायन-घर्षा व बहुसंख्यक सूक्ष्म द्रव्यों का समावेश किया गया है।

पित्त-अग्नि-ऊष्मा

अग्नि को पूर्वोक्त विचार-परम्परा में—यहाँ तक—यह वात स्पष्ट हो जाती है कि तात्त्विक दृष्टि से पित्त, अग्नि, ऊष्मा—ये तीनों—पृथक्-पृथक् हैं।

पित्त के रूप-रस-गन्ध-स्पर्श का 'क्रियाशारीर' के प्रसंग में उल्लेख है। यह 'अग्निगर्भ' या तैजस और द्रवरूप वस्तु है। पित्त जान्तव द्रव्य है, यह प्राणी के शरीर में उत्पन्न होता है, जीव-जन्तुओं से बाहर निर्जीव पदार्थों में यह न तो बनता है और न उनमें रहता है।

अग्नि, जीव-रसायन-घर्षा, देहाग्नि-कर्म के लिए विशेष रूप से उत्तरदायी, सूक्ष्म किन्तु वीर्यवान् द्रव्यों का समूह है। पित्त के विपरीत अग्नि, निर्जीव भौतिक द्रव्यों में भी रहता है। यह खाद्य पेय आदि द्रव्यों के माध्यम से देह के भीतर आता है और आवश्यकता पड़ने पर देह अपने लिए इस अग्नि का निर्माण भी कर लेता है। हमारे भीतर का यह अग्नि, कोष्ठ में, यद्यपि अपने मूल स्रोत नाभि में स्थित 'अग्न्याशय' से—विशेषरूपेण परिस्तृत होता है, किन्तु अन्य पैत्तिक स्रावों में भी रहता है। कोष्ठ में यह पित्त के साथ तद्रूप हो जाता है। धानु-उपवासतुओं के भीतर यह स्वतन्त्र रूप में (धात्वग्नियों के नाम से) भी रहता है। 'मामान्य' और 'विशेष' के अनुसार अग्नि एक भी है (देहाग्नि), और अनेक भी (तेरह अग्नियाँ)। आधुनिक समय में विशेष-विशेष अग्नियों पर अधिक खोजें हुई हैं, और इनके बहुत से प्रकार ज्ञात करके उन्हें

उपलब्ध भी किया गया है।^३ इन अग्नियों को प्रयोगशालाओं में कृत्रिम रूप से तैयार करके मन्दाग्नि, विषमाग्नि आदि में सेवन कराया जा रहा है।

पित्त और अग्नि से पृथक्—‘ऊष्मा’ ताप को कहते हैं। यह स्थूल भौतिक अग्नि का रूपान्तर है और दैहिक अग्नि का एक अंश है; उसका पूर्णरूप नहीं है। ऊष्मा या ताप को स्पर्श से अनुभव करते हैं और अब इसे तापमापक यन्त्र से मापा जा सकता है। अग्नि-द्रव्य इस ऊष्मा को उत्पन्न भी करते हैं और अपनी रासायनिक क्रियाओं के लिए इसकी अपेक्षा भी रखते हैं। अग्नि और ऊष्मा प्रायः साथ-साथ रहते हैं; परन्तु ऊष्मा प्रसरणशील है। अतः देह भर में व्याप्त रहती है। यह बनती है, देहावयवों में रहती है और ऊर्जा या शक्ति में बदल भी जाती है।^४ इस प्रकार यह उत्पन्न होकर व्यय होती रहती है। देह में ऊष्मा की न्यूनाधिकता अग्नि की विकृति को सूचित करती है। आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में तात्विक दृष्टि से ऊष्मा को अग्नि से पृथक् ही स्वीकार किया गया है।^५

इस प्रकार आयुर्वेदीय क्रिया-शारीर में पित्त, अग्नि, ऊष्मा इन तीनों की पृथक्-पृथक् सत्ता है। चिकित्सा क्षेत्र में पित्त और अग्नि के प्रायः एक समान उपचार के कारण, दोनों का किसी एक शब्द से उल्लेख कर दिया जाता है, जो औपचारिक है। इसी तरह अग्नि और ऊष्मा को भी, इनके साहचर्य के कारण, अभिन्न मानकर किसी एक शब्द से संबोधित कर देते हैं, वह भी औपचारिक ही प्रयोग है।

अग्नि या अन्तरूष्मा और उसकी उत्पत्ति

यहाँ पर मुख्य रूप से पित्तोष्मा या अग्नि की चर्चा की जा रही है। इसके ‘देहाग्नि’ और ‘अन्तरूष्मा’ नाम भी प्राचीन ग्रन्थों में यत्र-यत्र दिये गये हैं। जिजासा हो सकती है कि उक्त अग्नि हमारे शरीर में उत्पन्न कैसे होती है?

इस विषय में आयुर्वेद की मान्यता है कि जिन पाञ्चभौतिक देहवीजों के—शुक्र शोणित के—सम्मूच्छ्वन् या रासायनिक सम्मिश्रण से गर्भोत्पत्ति होती है, उन्हीं के साथ-साथ अग्नि-तत्व भी देह में संक्रान्त होता है।

२३. पाश्चात्य क्रियाशारीर में इन्हें ‘एन्जाइम’ कहा जाता है।

२४. ‘अग्निमूलं वलं पुंसाम्।

२५. वैहोष्माणो विशन्तोऽन्तः शीते शीताऽनिलाऽऽहताः।

जठरे पिण्डोष्माणं प्रबलं कुर्वतेऽनलम्॥ (अ० सं० सू० अ० ४)

यतः इन वीजों में से शुक 'सीम्य' और शोणित 'आग्नेय' है, इसलिए गर्भ में सोम और अग्नि दोनों के सूक्ष्म अंश पहुँचते हैं। गर्भ-स्थापना हो चुकने के उपरान्त यही अग्नि, देहवृद्धि में सहायक होता है। पश्चात् देहधारक धातुओं का—अर्थात् दोषों, धातुओं, मलों का—पारस्परिक सन्निपात (परस्पर संघटन-विघटन) होते रहने के परिणामस्वरूप, प्रतिक्षण, अन्तरूपमा या अग्निद्रव्य का देह में आविर्भाव होता रहता है। ये नित्य नवीन उत्पन्न अग्नियाँ ही अपने-अपने नियत क्षेत्रों में दोषाग्नि कर्म (पाचन, रंजन आदि), धात्वग्नि कर्म (धातुओं के स्वकीय अंश-प्रसादांश-मलांश निर्माण) और मलाग्नि कर्म (मल पाचन-क्लेदोपशोषण आदि) सम्पन्न किया करती हैं।^{१६}

देहधारक भाव और अग्नि

उपर्युक्त स्थापना से यह भी स्पष्ट है कि यतः हमारा सजीव शरीर, मूर्त रूप में, पाँच महाभूतों से निष्पन्न होता है; इसलिए इसमें पाँचों महाभूतों की अग्नियाँ स्वभावतः प्रतिष्ठित हैं। शरीर-क्रिया-विज्ञान के क्षेत्र में आकर विचार करें तो यह देह जिन-जिन दोषों, धातुओं, मलों का समवेत रूप है; उन् सबमें भी अग्नि को स्वभावतः विद्यमानता है और उनकी इन अग्नियों को दोषाग्नि, धात्वग्नि-मलाग्नि की संज्ञा दी जाती है।^{१७}

दोषाग्नियों के विषय में यह ज्ञातव्य है कि 'पृतं आग्नेयम्' के अनुसार पित में तो अग्नि की सत्ता स्वाभाविक होने से समझ में आती है, पर वात और क्लेष्मा में अग्नि का अंश सम्भव नहीं जान पड़ता। परन्तु चक्रपाणिदत्त जैसे सूक्ष्मदर्शी शरीर-क्रिया-विज्ञानी का मत है कि 'पाञ्चभौतिक या भौतिक द्रव्य' होने के कारण, वात और क्लेष्मा में भी ऊष्मा या अग्नि अवश्य है; भले ही वह अल्पांश में या अव्यक्त रूप में हो। अग्नि वस्तुतः तीनों दोषों में विद्यमान होती है।^{१८}

२६. 'दोष-धातु-मल-सन्निपातजनितोऽन्तरूपमा यथा निर्दिष्ट-अधिष्ठानकर्म अग्निः, इति'। (अ० सं० शा० अ० ६)

२७. 'दोष-धातु-मलादीनां-ऊष्मेत्यत्रेय शासनम्'। (अ० ह० शा० ३४९)

२८. 'वातश्लेष्मणोऽस्तु यद्यपि पित्तवत् ऊष्मा नास्ति तथापि तयोः भूतत्वेन ऊष्मा योऽस्ति स इह ग्राह्यः॥'

(च० चि० अ० ३-१२९ की टीका में चक्रपाणिदत्त)

धातुओं और मलों में तो अग्नि की विद्यमानता आयुर्वेद जगत् में सर्वविदित ही है।

तीन या तेरह अग्नियाँ

धातु-उपधातुओं में और मलों में, अग्नि की दृष्टि से, यदि सूक्ष्मतापूर्वक विचार किया जाय तब तो देह की अगणित नस नाड़ियों और पेशियों-तन्तुओं तक में अग्नि की विद्यमानता है; देह-परमाणुओं में भी अग्नि है; उन अग्नियों का विस्तार किया जाय तो सैकड़ों-सहस्रों अग्नियों की सत्ता स्वीकार करनी होती है,^{१९} परन्तु क्रिया-शारीर के क्षेत्र में मुख्य रूप से तीन या तेरह अग्नियों (पित्तोष्माओं या जीवरसायन द्रव्यों के बर्गों) की ही पृथक्-पृथक् सत्ता को स्वीकार किया जाता है। तीन वर्ग रखें तो उनमें अन्नपाचकाग्नि, भूताग्नि और धात्वग्नि की गणना है। इन्हीं तीन को विशेष विचार की सुविधा के लिए तेरह बर्गों में विभक्त किया गया है, यथा—एक अन्नपाचकाग्नि, पाँच भूताग्नियाँ और सात धात्वग्नियाँ, ये सब मिलकर तेरह होते हैं।

भूताग्नियों में दोपाग्नि, मलाग्नि, उपधात्वग्नि आदि अवान्तर अग्नियों का अन्तर्भर्व कर लिया जाता है।^{२०}

भूताग्नि-धात्वग्नि-पाचकाग्नि

पाँच भूताग्नियों में—भौमाग्नि, आप्याग्नि, अग्नेयाग्नि, वायव्याग्नि, आकाशाग्नि की गणना है।^{२१} भूताग्नियों की विवेचना, ‘भौतिक विज्ञान’ या ‘पदार्थ-विज्ञान’ का विषय है। यहाँ संक्षेप में कहा जाय तो भूताग्नियाँ पंच-महाभूतों से निर्मित इस जगत् के भौतिक पदार्थों में सञ्चितिष्ठ हैं। चिकित्सा से सम्बद्ध औपध द्रव्य, आहार द्रव्य और शारीर अवयव—इन सबके भौतिक होने के

२९. 'अथे तु एवं आहुः—। तथा सप्तसु सिराशतेषु सप्त अग्निशतानि पंचसु मांसपेशीशतेषु पंच अग्निशतानि'।

(अ० ह० शा० अ० ३-६० की टीका में अरुणदत्त)

३०. 'भौतिका : पंच'-धात्वग्नयः सप्त, अन्नपक्ता एकः। अत्र च यानि अन्यत्तराणि उपधातुमलादिगतानि तानि अपि अवरद्वानि भूताग्निषु एव'। (च० चि० अ० १५-२८ की टीका में चक्रपाणिदत्त)

३१. 'भौम-आप्य-आग्नेय-वायव्यः पंच ऊष्माणः सनाभसाः'।

(च० चि० अ० १५-१३)

कारण—इनमें स्वभावतः भूताग्नियों का सन्धिवेश है। शरीर-क्रिया-विज्ञान के क्षेत्र में, शारीर भाव और इनका निर्माण करने वाले आहार-पदार्थ, इन दो का विशेष महत्त्व है, क्योंकि यह 'शरीरवस्तु' आहार द्रव्यों का ही परिवर्तित रूप है।^३ आहार-द्रव्य-गत अग्नियाँ 'भौतिक' अग्नियाँ हैं। ये आहार के साथ-साथ हमारे उदर में जाती हैं। इन अग्नियों का ही यह प्रभाव है कि शरीर के पार्थिव आप्य आदि अंश, प्रतिक्षण संघटित-विघटित होते हुए, नित्य नवीन रूप लिए रहते हैं और यथापूर्व दिखाई पड़ते हैं। भूताग्नियाँ यद्यपि खाद्य पेय आदि द्रव्यों में स्थित हैं, परन्तु इनकी कियायें—हमारे देह के भीतर इन द्रव्यों के पहुँचने के उपरान्त—विशेष-विशेष समयों पर होती हैं। इन अग्नियों पर आगे एक पृथक् प्रकरण में विचार हुआ है।

'धात्वग्निं' देह की उन सात धातुओं में स्थित है; जिन्हें रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र—इन सात श्रेणियों में विभक्त किया गया है। इन सातों का स्वरूप और इनकी विशेषतायें पृथक्-पृथक् हैं। इन धातुओं का अपना निर्माण, और इनके मलों का निर्माण आदि कार्य, इनकी अलग-अलग अग्नि द्वारा होते हैं। इस प्रकार इन सबकी अपनी-अपनी स्वतंत्र अग्नि है। सात धात्वग्नियों में—रसाग्नि, रक्ताग्नि, मांसाग्नि, मेदोग्नि, अस्थ्यग्नि, मज्जाग्नि, शुक्राग्नि की गणना है। इन सातों पर पृथक्-पृथक् स्वतंत्र प्रकरणों में विचार हुआ है।

अन्नपाचकाग्नि या पाचकाग्नि एक है। दोष-प्रकरण में इसे 'पाचक पित्त' नाम दिया जाता है। पाचकाग्नि का स्थान उदर या जठर में भीतर की ओर गह्वर में होने से इसे—'ओदर्यतेजस्', 'ओदर्याग्निं' या 'जाठराग्निं' कहते हैं। आमाशय, ग्रहणी, अग्न्याशय, यकृत् आदि कोष्ठांगों में निहित होने से इसे 'कोष्ठाग्निं' कहा है। इस अग्नि के अंश आन्तरिक अवयवों में समाविष्ट रहने से तथा स्वयं इसके 'सूक्ष्म आन्तरिक द्रव्य' के रूप में भी होने से इसे 'अन्तरग्निं' नाम से पुकारा गया है। सब अग्नियों में प्रमुख होने के कारण पाचकाग्नि को केवल 'अग्नि' शब्द से भी सम्बोधित कर दिया जाता है। पाचकाग्नि पर अन्यत्र विस्तृत विचार प्रस्तुत किया गया है।

देहाग्नियों के संक्षिप्त कर्म

शरीर-क्रिया-विज्ञान की दृष्टि से इन अग्नियों का क्रम निम्न प्रकार रखा

जा सकता है—पाचकाग्नि, भूताग्नि, धृत्वग्नि । इन अग्नियों के संक्षिप्त कार्य निम्नलिखित हैं ॥

पाचकाग्नि या जठराग्नि आहार का, आहार रस का और आहार रस से पृथक् किये गये मलों का पचन करती है । पचाते समय यह आहार से किटू रूप दोषों को, अन्नरस को, क्लेद को और अन्न मल को पृथक्-पृथक् करती है । पाचकाग्नि द्वारा आहार का संघातभेद होकर, अर्थात् पार्थिव आप्य आदि अंश पृथक् होकर और पच कर, पचन की एक प्रक्रिया पूरी होती है । इसके परिणामस्वरूप 'आहार रस' बनता है, पाचकाग्नि और समान वात के सहकार में इस रस का उपशोषण किया जाता है, और यह रस पच्यमानाशय से भीतर देह में पहुँचता है ।

भूताग्नियाँ अर्थात् भौमाग्नि आप्याग्नि आदि अग्नियाँ, अन्नरसगत पार्थिव जलीय आदि आंशिक द्रव्यों का पचन करके उस आहार रस में अपने-अपने भीतिक गुणों को जन्म देती हैं—अर्थात् आहार का संघातभेद होकर इसका प्रारम्भिक पचन तो पाचकाग्नि से होता है, पर इस पचन के उपरान्त रूपपरिवर्तन होकर जब वह 'आहार' 'आहार रस' में परिणत हो चुकता है, और अन्त्र द्वारा भीतर उपशोषित होता है, तब भूताग्नियाँ कार्य करती हैं । भूताग्नियों का कार्यस्थल 'कोष्ठ' (विशेषतः कोष्ठांगरूप यकृत् और पित्तधरा कला) है । ये अग्नियाँ पार्थिव आप्य आदि द्रव्यांशों का पचन करके उनमें अपने-अपने भूतगुणों को—मूर्तत्व, काठिन्य, गुरुता, स्नेह, मार्दव, उष्णता, रुक्षता, लघुता, सुषिरता आदि उत्पन्न कर सकते की क्षमता को—उन भूतों की अपनी-अपनी विशेषताओं को, जन्म देती हैं । आहाररस के साथ-साथ ये भूताग्नियाँ भीतर रसवह, रक्तवह, पित्तवह आदि स्रोतसों तक पहुँचती हैं और आहाररस पर क्रियायें करती हैं । फिर, रसाग्नि द्वारा इसका पाक होते समय तथा इस रस के रक्त-मांस-मेद आदि धातुओं में पहुँचने पर ये भूताग्नियाँ पुनः क्रियाशील होती हैं और वहाँ भी अपने-अपने अंशों को

३३. 'तत्र जाठराग्निः सर्वान् एव आहार-रस-मल विपाकान् पचति, भौमादयः तु अग्नयः स्वान् स्वान् गुणान् जनयन्ति उक्तं च—'जाठराग्निना पूर्वं कृते संघातभेदे पश्चात् भूताग्नयः पञ्च स्वं स्वं द्रव्यं पचन्ति' इति । अयं च भूताग्निव्यापारो धातुष्वपि अस्ति, यतो धातुष्वपि पञ्चभूतानि सन्ति' ।

(च० च० अ० १५-१३ की टीका में चक्रपाणिदत्त)

पचाते हुए—धातुकणों को तथा उन धातुओं में विद्यमान भौतिक गुणों को—
समृद्ध सम्पूर्ण करती हैं।

धात्वग्नियों की—रसाग्नि, रक्ताग्नि आदि अग्नियों की—किया से उक्त रस
का प्रसादपाक, धातुपाक और मलपाक होकर, नवीन धातुकणों का संघटन एवं
जीर्ण अंशों का विघटन होता है। पूर्व धातु की अपेक्षा उत्कृष्टतर उत्तर
धातु के निर्माणकारक अंश भी उसमें प्रस्तुत किये जाते हैं।

उपर्युक्त पाचकाग्नि, भूताग्नि, धात्वग्नियों के विशेष प्रयोजन, स्वरूप,
अधिष्ठान, कार्यक्षेत्र और क्रियाओं आदि का वर्णन आगे भिन्न-भिन्न प्रकरणों में
किया गया है।

२ : प्राकृत पाचकाग्नि-विमर्श

पाचकाग्नि का प्रयोजन

यह प्रथम कहा जा चुका है कि मनुष्य का शरीर खाद्य पेय आदि आहार द्रव्यों से निर्मित है, अर्थात् मूर्त रूप में जो देहस्तु दिखाई देती है, उसको बनाने वाली सामग्री या उपादान द्रव्य हमारे दैनिक आहार (अन्नपान) से प्राप्त होते हैं, इन्हीं का परिवर्तित रूप हमारा यह शरीर है।^१

परन्तु अन्न आदि का उत्त आहार हमारे लिए तब तक व्यर्थ है, जब तक इसका रूप-परिवर्तन होकर—यह, हमारे देहधारक—दोष धातु मलों का तथा उनके भी सूक्ष्म और सार रूप—ओज का एवं अन्तोगत्वा बल, ऊर्जा या शक्ति का, रूप ग्रहण न कर ले।

आहार का यह सोहेश्य और सार्थक परिवर्तन, अग्नि के—अर्थात् देहाग्नि के—द्वारा होता है। अग्नि से ही खाद्य पेय आदि द्रव्यों का पचन होकर उनसे आहार-रस प्रस्तुत होता है, जिससे आगे रस, रक्त, मांस आदि धातुएँ बनती हैं। यदि उत्त आहार पदार्थों का यह आरभिक पचन न हो तो देहधारक द्रव्यों का उत्पादन—अर्थात् नवधातु निर्माण—असम्भव है।^२

उत्त आहार एक प्रकार का ईंधन भी है, जो अग्नि को प्रबुद्ध या प्रदीप्त बनाये रखता है। परन्तु आहार की एक नियमित मात्रा ही अग्निदीपन का कार्य कर सकती है।^३ यह भी एक विचित्र स्थिति है कि आहार तो अग्नि को प्रबुद्ध करता है और आहार-मात्रा का निर्णय पाचकाग्नि की शक्ति पर निर्भर होता है।^४ अभिप्राय यह हुआ कि पाचकाग्नि को ठीक-ठीक प्रदीप्त बनाये रखने के लिए आहार की एक नपी-तुली मात्रा अपेक्षित है और

१. 'इदं शरीरं अशित-पीत-खादित-लीढ प्रभवम्।' (च० सू० अ० २९)

२. 'यदन्नं देहधात्वोजो बलवर्णादिपोषकम्।'

{ तत्राग्निहेतुराहादारात्, नह्यपवात् रसादयः॥'

(च० चि० अ० १५)

३. 'मात्रा हि अग्नेः प्रवर्तिका'। (अ० ह० सू० अ० ८-२)

४. 'आहारमात्रा हि अग्निबलापेक्षिणी'।

(च० सू० अ० ५-३)

आहार को पचाने के लिए प्रवृद्ध अग्नि की आवश्यकता है, इस प्रकार दोनों परस्परापेक्षी हैं।

आहार पर अग्नि की किया के लिए एक अन्य देहतत्व आवश्यक है, जो इस किया के निश्चित समयों पर कराये और अग्नि-कर्म का नियमन करे। यह तत्व है—'वात'। मूहास्रोतस् में आरम्भ से लेकर अन्त तक प्राण, समान, अपान वात की क्रियायें पाचकाग्निकर्म के लिए नितान्त आवश्यक हैं।^४ वात के सहकार के बिना अग्निकर्म ठीक-ठीक सम्पन्न नहीं होता।

अग्नि की आहार पर सुगमता से और समुचित क्रिया हो सके, इसके लिए, उस अन्न पान आदि का एक नियत समय पर और विधि-विधान-पूर्वक ही, सेवन किया जाता है; अर्थात् 'काल' का भी अग्निकर्म के लिए महत्व है।

मुख में जाकर चर्वण, लालामिश्रण और निगरण के उपरान्त, प्राणवात की गतियों के सहारे यह आहार कोष्ठ के भीतर सर्वप्रथम आमाशय में पहुँचता है। यहाँ यह कुछ काल तक ठहरता है, इस अवधि में तरल द्रव्यों की सहायता से कणशः विभक्त होने योग्य बनता है और स्नेह द्रव्यों से इसके कठोर अंशों में मृदुता आती है। इसी समय समान वात की प्रेरणा पर सम्पूर्ण पच्यमानाशय में पाचकाग्नि का उद्बोधन होता है और आहार पर पचन-क्रिया जारी हो जाती है। यह पचनक्रिया लगभग उसी प्रकार होती है जिस प्रकार चूल्हे की आग पर चढ़ी हुई पतीली के भीतर चावल पानी आदि पर पाक क्रिया हुआ करती है, क्योंकि पतीली रूपी आमाशय में भी चावल रूप खाद्य एवं तरल पदार्थ रूपी जल भरे होते हैं, उससे नीचे पच्यमानाशय रूपी चूल्हे में अग्नि या अंतरग्नि (पाचकाग्नि) प्रज्वलित (प्रदीप्त) हो रही होती है।^५

५. प्राणापानसमानस्तु सर्वतः पवनस्त्रिभिः।

ध्यायते पात्यते चापि स्वे स्वे स्थाने व्यवस्थितः॥ (सु० स० अ० ३५)

६. 'काले भुक्तं सम्यक् पचति, ...' (च० स० अ० ५-३)

७. 'स खल् विधिवद् अभ्यवहृतं अन्नजातं प्राणेन वायुना कोष्ठं आकृष्टं द्रवैः भिन्नसंघातं स्नेहेन मृदूकृतं अभिसंघुक्षितः समानेन आमाशयस्थः स्थालीस्यं इव अम्बुतण्डुलं अग्निः अन्तरग्निः पचति'। (अ० स० शा० अ० १)

ऊपर दिये गये संक्षिप्त विवरण से आहार-पाक-क्रिया का हमें कुछ आभास होता है, परन्तु पचन-क्रिया-विषयक उक्त विवरण सूत्ररूप है। इसके द्वारा प्राप्त ज्ञान भी आरम्भिक और अत्यन्त अल्प है, क्योंकि पाचकार्मिन का स्वरूप, स्थान, कार्यक्षेत्र, अग्नि का उद्बुद्ध या प्रदीप्त होना, अग्नि की क्रियाएँ, उनके परिणाम आदि वहुत-सी ऐसी वातें हैं जिनके विषय में जिज्ञासा बनी रहती है।

देह के भीतर की अग्नि का स्वरूप भी विचारणीय है। दैनिक लोक-व्यवहार में 'अग्नि' का अर्थ है—'लौकिक आग', जो काठ आदि भौतिक पदार्थों को जलाने, वस्तुओं को गरम करने, भूतने या भोजन पकाने आदि का कार्य करती है; जिसमें धुआँ और ज्वालायें उठती है, अंगार बनते हैं।

परन्तु प्राणवान् और सजीव शरीर से सम्बद्ध अग्नि का उक्त रूप नहीं होता। शरीर देह या काया के भीतर रहने वाली इस अग्नि का-अन्तरग्नि कार्य, वाह्य लौकिक अग्नि से कुछ भिन्न प्रकार का होता है। यह अग्नि अपने स्वरूप में भी उस आग से भिन्न है। यहाँ इस अग्नि का मुख्य कार्य है—खाद्य पेय आदि (सामग्री) का परिणमन या रूप परिवर्तन करके उन्हें देह-धातुओं द्वारा ग्रहण कर सकने योग्य एक विशिष्ट रूप प्रदान करना और अन्ततोगत्वा उसे ओज ऊष्मा तथा वल (शक्ति) में परिवर्तित कर देना।

स्पष्ट है कि उक्त संदर्भ में 'अग्नि' शब्द का अभिप्राय वहुत बदल जाता है और इसके नाम, रूप, क्रिया आदि में अनेक विलक्षणतायें आ जाती हैं। फिर भी अग्नि तो 'अग्नि' ही है। अतः लौकिक अग्नि और शारीरिक अन्तरग्नि में अनेक समानतायें भी रहती हैं।

लौकिक अग्नि का हमारे भोजन के पकाने में भी नित्य-प्रति-उपयोग किया जाता है। उक्त पाक कर्म के द्वारा खाद्य पदार्थ जहाँ सहजग्राह्य और सुस्वादु बनते हैं, वहाँ इसका मुख्य प्रयोजन तो यही होता है कि भोजनगत देहोपयोगी पदार्थ ऐसे रूप में आ जायें कि भीतर पहुँचने पर ये सुगमता से धातुओं में अर्थात् दोष-धातु-मलों में रूपान्तरित हो सकें।

आधुनिक समय में रसायन-विज्ञान की प्रयोगशालाओं के भीतर ऐसे अव-सर नित्यप्रति आते हैं, जिनमें लौकिक अग्नि या आग का उपयोग करते हुए भिन्न-भिन्न वस्तुओं का तपन (तपाना), ज्वलन (जलाना), क्वथन (उबालना),

८. '.....वाह्यात् अग्नेः विशिष्टः अयं अग्निः आरभ्यते.....'।
(सु० सू० अ० २१-१० की टोका में चक्रपाणिदत्त)

दहन (दरध करना या जलाकर भस्म कर देना), परिणमन (रूपान्तरीकरण), संशोषण (सुखाना), द्रावण (पिघलाना), संघटन (कणों का जोड़ना), विघटन (कणों को पृथक्-पृथक् करना), संयोजन (परस्पर मिलाना) आदि नाना क्रियायें की जाएँ होती हैं ।

कुछ-कुछ इसी प्रकार की प्रयोगशालायें हमारे देह के भीतर भी आमाशय, यकृत, पच्यमानाशय, पवाशय आदि के रूपों में विद्यमान हैं । इनमें पहुँचे हुए आहारद्रव्यों का भी तपन, विभजन, संघात भेदन, वियोजन, संयोजन, विच्छेदन, संघटन, विघटन, परिणमन, दहन, उपशोषण आदि होकर इनका ऐसा रूप-परिवर्तन हो जाता है कि इन्हें हमारे भीतर के देहावयव सहज ही आयत्त कर सकते हैं ।

उक्त प्रकार की क्रियाओं में से महास्रोतस् एवं कोष्ठ के भीतर होने वाली विविध रासायनिक क्रियाओं (आहार पचनात्मक अग्निकर्मों) को सम्पन्न करने वाली अग्नि के लिए अन्तरग्नि पाचकाग्नि या पाचकपित्त नाम दिये गये हैं ।

वैसे तो आहार पर रसबोधक इलेष्मा, प्राणवात, क्लेदक इलेष्मा, समानवात, पाचकाग्नि—इन सबकी क्रियायें होती हैं, इनकी सम्मिलित क्रियाओं से ही आहार पचता है; परन्तु इनमें पाचकाग्नि प्रमुख है और यहाँ के अग्निकर्मों के लिए यही अग्नि उत्तरदायी है ।

पाचकाग्नि का स्वरूप

गत प्रकरण के अन्त में आये हुए 'पाचकाग्नि' और 'पाचकपित्त' शब्द व्याज देने योग्य हैं, क्योंकि ये आहार पचाने वाली इस अग्नि के 'स्वरूप' पर प्रकाश डालते हैं । वैसे तो दोनों शब्दों का अन्तिम अभिप्राय एक ही है, फिर भी इनमें से पाचकाग्नि—'अग्नि' शब्द पर बल देता है और पाचकपित्त 'पित्त' शब्द पर । 'अग्नि' शब्द इस प्रसंग में विशेष रूप से रसायन-क्रियाकारक द्रव्यों के लिए एवं रसायन-कर्मोपयोगी ऊष्मा (ताप) के लिए; और 'पित्त' शब्द किन्हीं दीपन पाचन गुणयुक्त द्रव्यों के लिए संकेत करता हुआ प्रतीत होता है । रसायनधर्म या दीपन पाचन द्रव्यों के लिए प्राचीन आर्य चिकित्सकों ने पित्त, पाचकांश एवं पाचनांश शब्दों का भी प्रयोग किया है ।

उपर्युक्त पाचकांश या पाचनांश एवं रसायनकर्म के लिए अपेक्षित ऊष्मा—ये दोनों ही—इस पचाने वाली अग्नि या अन्तरग्नि के अन्तर्गत हैं ।

स्वभावतः जिज्ञासा होती है कि ये 'अग्नि', 'आग्नेयद्रव्य' या 'पाचनांश' क्या वस्तु हैं? इनका स्वरूप क्या है? और ये कौन-कौन से होते हैं?

आधुनिक समय के वैज्ञानिकों ने इन अग्नियों या पाचनांशों की खोजें की हैं और विदित हुआ है कि इनमें दीपन, पाचन, भेदन, संघटन, विघटन, संयोजन, वियोजन, विच्छेदन, तपन, दहन, परिणमन आदि रासायनिक क्रियायें करने वाले नाना प्रकृति के वहुसंख्यक सूक्ष्म द्रव्य प्राप्त होते हैं।

उक्त द्रव्य, जैसा कि आयुर्वेदीय पाचकपित्त के प्रकरण से भी प्रकट होता है—पांचभौतिक किन्तु रसायनधर्मा (आग्नेय प्रकृति के) द्रव्य हैं। ये मुख, आमाशय, यकृत, अग्न्याशय और ग्रहणी में से द्रव रूप में परिस्थुत हुआ करते हैं। इनमें अम्ल, ध्वनि, लवण आदि तरह-तरह के द्रव्य छुले होते हैं। वहुसंख्यक ऐसे सूक्ष्म द्रव्य भी इनमें हैं, जो 'सेन्द्रिय' हैं, अर्थात् देहजन्मा अतएव 'प्राणिज' हैं। ये सब अन्त को याकृत पित्त के साथ मिलकर एकाकार हो जाते हैं। इसी से प्राचीन आयुर्वेदज्ञों ने इन सभी को एक 'सामान्य' प्राणिज द्रव्य के नाम से—'पाचकपित्त' से—सम्बोधित कर दिया है।

पाचकपित्त को या रसायनधर्मा इस सावसमूह को, विश्लिष्ट किये जाने पर, जो बहुत प्रकार के सूक्ष्म द्रव्य उपलब्ध हुए हैं, उनमें वहुसंख्यक पाचनांश हमारे सजीव देह के भीतर जीव रसायन द्रव्यों के रूप में तैयार होते हैं और वहुत से ऐसे भी हैं, जो खाद्य पदार्थों के पारस्परिक सम्मूर्छन से आविर्भूत होकर हमें प्राप्त होते रहते हैं।

उक्त पाचनांशों को अपनी रसायन क्रियाओं के निमित्त जितनी ऊष्मा (ताप) की अपेक्षा होती है उतनी मुख से गुदा पर्यन्त सुदीर्घ महाक्षोत्तर के भीतर प्रतिक्षण बनी रहती है।

स्मरण रहे कि उल्लिखित जिन सूक्ष्म पाचनांशों^९ या पाचकाग्नि द्रव्यों

^{९.} 'वायोकेमिकल सबस्टेन्सेज'

१० इन पाचनांशों या पाचकाग्नि-द्रव्यों का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है—

(क) टायलीन—यह आग्नेय द्रव्य मुख की 'कर्णमूलिक' तथा 'हनुअधरीय' ग्रन्थियों से परिस्थुत होता है और मुखगत श्लेष्मा तथा लालालाव में लीन होकर रहता है। यह हमारे पांचभौतिक आहार के अन्यतम पार्थिव भाग—'पिण्ड' या पिण्डसार का—पाचक है। उबले

को आज के वैज्ञानिकों ने प्रयत्न करके पृथक्-पृथक् खोज निकाला है और अब भी जिनकी खोज में संलग्न हैं, उनकी तालिका पूर्ण नहीं हुई है, और

हुए गेहूं, जौ, चावल, आलू आदि के पिष्ट को पचा कर यह उसे अर्ध-पकव रूप में (धान्यशर्करा तथा डेक्सट्रीन में) परिणत कर देता है। इस प्रकार यह, पाचकाग्नि का, पाचन द्रव्यरूप अंश या 'पाचनांश' है। इसे प्राचीन आर्य अन्वेषकों ने जिह्वामूलक 'अनल' (अग्नि) नाम से स्मरण किया प्रतीत होता है। यह पाचनांश, आग्नेय प्रकृति का होते हुए भी, स्वरूप से पार्थिव (या प्रोटीनमय) है।

(ख) लवणाम्ल या हाइड्रोक्लोरिक एसिड—यह आमाशय में वहाँ की अम्लोत्पादक ग्रन्थियों में से प्रकट होता है और अम्लरूप आग्नेय द्रव्य है। यह, हमारे भोजन में विद्यमान पार्थिव (प्रोटीन तथा पिष्टसार) और आप्य (स्नेहद्रव्य) दोनों प्रकार के द्रव्यांशों पर चढ़े हुए आवरणों को गलाता है, जिससे वे सुपाच्य बनते हैं। फिर यह इनको पचाकर अर्धपकव रूप देता है—अर्थात् प्रोटीन को पेप्टोन बनाता है, इभुशर्करा को द्राक्षशर्करा एवं फलशर्करा में परिणत करता है। यही अम्लरूप अग्नि, पार्थिवांश खटिक धातु को (कैलिश-यम को) भी सुपाच्य बनाता है। इस प्रकार यह, पाचकाग्नि का 'पाचन द्रव्य'—रूप अंश है। यह अम्लरूप अग्नि, हमारे आहार के साथ मिलकर जब आगे ग्रहणी में पहुँचता है, तब अन्य आग्नेय स्वावों को परिस्थुत कराने में उद्दीपन का कार्य भी करता है, अर्थात् दोपन द्रव्य या 'दोपनांश' रूप अग्नि भी है।

(ग) पैप्सीन—यह भी आमाशय में अपनी उत्पादक-ग्रन्थियों से उत्पन्न होता है और पार्थिवांश प्रोटीन को एक सीमा तक पचाकर उसे प्रोटीयोज एवं पैप्टोन में परिवर्तित करता है। यह स्वरूप से पार्थिव (प्रोटीन निर्मित) है, परन्तु प्रकृति से आग्नेय—अर्थात् 'पाचनांशरूप' प्राणिज अग्नि (एन्जाइम) है।

(घ) रेनीन—यह आमाशय में अपनी विशिष्ट ग्रन्थियों से, देह की आवश्यकतानुसार, परिस्थुत होता है। अम्ल की उपस्थिति में ही यह कार्य करता है। यह 'पाचनांश' रूप अग्नि है और दुग्ध का पाचक है। उसे यह एक सीमा तक पचाकर वही में परिवर्तित करता है।

(ङ) डेक्सट्रीन—यह उस समय आविर्भूत होता है, जब मुख में भोजनगत

वह सदा ही अपूर्ण बनी रहेगी, क्योंकि नित्य ही नवीन गवेषणाओं के परिणाम-स्वरूप किसी भी नूतन अग्नि द्रव्य का कभी भी अन्वेषण होकर, आविर्भवि-

पार्थिवांश—‘पिट’ पर, अग्निद्रव्य (टाइलीन या एमाइलेज) को किया हो रही होती है। मुख से यह आमाशय में पहुँचकर उसे उद्धीप्त करता है और उसके भिन्न-भिन्न पाचक रसों का स्राव कराता है। इस प्रकार यह ‘दीपनांश रूप’ अग्नि है।

- (च) **गैस्ट्रीन या गैस्ट्रिक सिकीटीन**—यह भी आमाशय में आहारपचन के समय उत्पन्न आग्नेय द्रव्य है, जो आमाशय के लिए उद्धीपक है और उसके स्राव उत्पन्न कराता है। इस प्रकार यह ‘दीपनांश रूप’ अग्नि है।
- (छ) **गैस्ट्रिक लायपेज**—यह आमाशय में प्राप्त होने वाला आग्नेय द्रव्य है। भोजन-द्रव्यों के आप्य अंश (स्नेहभाग) का यह किंचित् पचन करता है। इस प्रकार यह ‘स्नेह पाचनांश रूप’ अग्नि है।
- (ज) **याकृत स्राव**—यह यकृत में बनकर ग्रहणी में गिरने वाला स्राव है। इसका रंग भूरा-पीला या भूरा-हरा-सा होता है। इसमें अनेक लवण, रंजक द्रव्य तथा स्नेह यौगिक घुले रहते हैं। यह पांचभौतिक होने पर भी क्षारप्रकृति का आग्नेय द्रव्य है। भोजनगत पार्थिव (प्रोटीन तथा पिट) और आप्य (स्नेह द्रव्य) दोनों भावों के पचाने में यह सहायक है, साथ ही अन्याशय से स्राव कराने में, उसके उद्धीपन का भी कार्य करता है। इस प्रकार यह ‘पाचन दीपन द्रव्य रूप’ अग्नि है। इसी के कारण महास्रोतस् के अग्नि को ‘पित’ कहा जाता है।
- (झ) **ट्रिप्सीन**—यह अन्याशय के बहिःस्राव में रहने वाला एक पाचनांश है। यह अन्य रूप में आविर्भूत होकर ग्रहणी में पहुँचता है और वहाँ परिवर्तित होकर स्वकोय रूप में आता है। यह पार्थिवांश (प्रोटीन) का पाचक है, उसे यह क्रमशः प्रोटीयोज, पेप्टोन और पेप्टाइड में परिणत करता है। यह अम्ल माध्यम में क्रिया करता है। स्वरूप से पार्थिव (अर्थात् प्रोटीन निर्मित) होते हुए भी प्रकृति से आग्नेय है। यह ‘पाचनांश रूप’ अग्नि है।
- (झ) **कायमोट्रिप्सीन**—यह अन्याशय के बहिःस्राव का अंश है और पार्थिव भाग (प्रोटीन) का पाचक होने से ‘पाचनांश रूप’ अग्नि है।
- (ट) **कार्बाक्सिस पेप्टाइडेज**—यह भी अन्याशय के बहिःस्राव में रहने

हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि पाचकाग्नि का पूरा-पूरा विवेद-

वाला और पार्थिवांश (प्रोटीन) पर क्रिया करने वाला 'पाचनांश-रूप' अग्नि है।

- (३) एमाइलेज—यह अग्न्याशय के बहिःस्राव में रहने वाला अन्य पाचनांश है, जो पिष्ट भाग का सशक्त पचाकर है। यह मुखाग्नि द्वारा न पचाये जा सकने वाले और बिना उबले हुए पिष्ट का कुछ अधिक पचन करके उसे धान्यशर्करा (माल्टोज) तथा एक्रूडेंक्सट्रीन में परिणत करता है। यह भी 'पाचनांश रूप' अग्नि है।
- (४) लायपेज—यह अग्न्याशय के बहिःस्राव का एक पाचनांश है। याकृत स्राव के सहयोग से यह भोजनगत आप्य भाग (स्नेहद्रव्य) का पचन करता है। इस प्रकार 'स्नेह पाचनांश रूप' अग्नि है।
- (५) इरेंप्सिन—यह ग्रहणी क्षेत्र या पच्यमानाशय की पित्तधरा कला से परिवृत्त अग्निद्रव्य है। यह पार्थिवांश (प्रोटीन) के अर्धपक्व रूप 'पेंटाइड' को पूरा पचाकर 'एमाइनो एसिड' में परिणत कर देता है और उसे भीतर उपशोषण के योग्य बनाता है। प्रोटीन को पचाने वाले पेंसीन और ट्रिप्सीन के अधूरे पचन कार्य को इरेंप्सिन पूर्ण करता है। यह 'पाचनांशरूप अग्नि' रक्त धातु के क्षत्रकणों में तथा कई अन्य धातुओं में भी पाया जाता है।
- (६) अन्त्रीय माल्टेज—यह पित्तधराकला से उत्पन्न पिष्टपाचकाग्नि या 'पिष्ट पाचनांश' है, जो धान्यशर्करा तथा डॉक्सट्रीन को द्राक्षाशर्करा (ग्लुकोज) में परिणत कर देता है और इस प्रकार पिष्ट का पचन पूर्ण करके उसे आहाररस का अंग होने योग्य बनाता है।
- (७) अन्त्रीय लैक्टेज—यह पित्तधराकला से उत्पन्न एक पिष्टपाचक अग्नि या 'पिष्ट पाचन' है, जो पिष्ट के अर्धपक्व रूप 'दुग्धशर्करा' को पूरा पचाकर उसे 'द्राक्षाशर्करा' में परिणत करता है और इस प्रकार उसे रस धातु के योग्य बनाता है।
- (८) अन्त्रीय सुक्रेज या इन्वेंटेज—यह भी पित्तधराकला से उत्पन्न एक 'पिष्ट पाचकाग्नि' है, जो इक्षुशर्करा (सामान्य खाँड़ या चीनों) को पचाकर द्राक्षाशर्करा तथा फलशर्करा में परिणत करता है और उन्हें रस धातु के योग्य बनाता है।
- (९) अन्त्रीय लायपेज—यह ग्रहणी क्षेत्र या पच्यमानाशय को पित्तधरा-

चन कर देना तथा इसकी इयत्ता को निश्चित करके इसे सीमित कर देना संभव नहीं जान पड़ता ॥^{११} अस्तु, इतना होने पर भी पाचकाग्नि के स्वरूप को निर्धारित करते हुए कहा जा सकता है कि ‘महास्रोतस् में क्रियाशील दीपन पाचन स्नाव, जीव-रसायन-धर्मा या आग्नेय द्रव्य तथा इनके साथ-साथ सदा विद्यमान ऊष्मा’—इन सबको समवेत रूप में ‘पाचकाग्नि’ कहा गया है ।

धान्वन्तर सम्प्रदाय ने इसके द्वारा होने वाले ‘अग्निकर्म’ (जीव-रसायन-क्रिया) का विशेष महत्व प्रतिपादित करते हुए इसे ‘पचन करने वाली अग्नि’ (पाचकाग्नि) कहा है । आत्रेय सम्प्रदाय ने इसी के भौतिक—आग्नेय-

कला के स्नाव में रहने वाला अग्नि है, जो स्नेह का पचन करता है । यह अधिक सशक्त न होने पर भी उपयोगी है ।

- (घ) एन्ट्रोकायनेज—यह ग्रहणी क्षेत्र में उत्पन्न अग्नि है, जो अग्न्याशय के ‘ट्रिप्सीनोजन’ नामक द्रव्य को परिवर्तित करके उसे ‘ट्रिप्सीन’ में परिणत करता है और इस प्रकार उसे यथार्थ ‘पाचनांश’ का रूप प्रदान करता है । अभिप्राय यह कि एन्ट्रोकायनेज भी रसायनधर्मा होने से ‘पाचन’ या ‘अग्नि’ है ।
- (न) सिकीटीन—यह ग्रहणी में उत्पन्न सूक्ष्म द्रव्य है, जो वहीं उपशोषित होकर और रस-रक्त मार्ग से जाकर यकृत् एवं अग्न्याशय को उत्तेजित या उद्दीप्त करता है तथा इनसे अग्निस्नाव कराता है । इसे ‘दीपनांश रूप’ अग्निद्रव्य जानना चाहिए । यह स्वरूप से पार्यिव किन्तु प्रकृति से रसायनधर्मा या आग्नेय है ।
- (प) पेन्क्रियोजाइमीन—यह भी ग्रहणी को कला से उत्पन्न ‘दीपनांश’ है, जो अग्न्याशय को उद्दीप्त करके उससे पाचक स्नावों को परिस्फुट कराता है । इस प्रकार यह ‘दीपनांश रूप’ अग्नि है ।
- (फ) कोलीसिस्टोकाइनोन—यह ग्रहणी को इलेष्मकला में स्नेहों को क्रिया से प्रादुर्भूत एक रसायनधर्मा अग्निद्रव्य है । यह यहाँ उपशोषित हो, रसरक्त में मिल, पित्तकोष तक पहुँचता है और उसे उद्दीप्त करके पित्तस्नाव को ग्रहणी में परिस्फुट करने के लिये प्रेरित करता है । उद्दीपक या उत्तेजक होने से यह ‘दीपनांश रूप’ अग्नि है ।

११. ‘जाठरो भगवानग्निः, ईश्वरोऽन्नस्यपाचकः ।

सौक्ष्म्यात् रसानाददासो, विवेकतुं नैव शक्यते ॥ (सु० स० ३५)

द्रव्यमय—रूप को यथायोग्य निर्धारित करने के लिए इसे 'पचाने वाला प्राणिज द्रव्य विशेष' (पाचकपित) कहकर सम्बोधित किया है। वास्तविकता यह है कि दोनों एक हैं और पाचक पित ही पाचकाग्नि है।^{१२}

पाचकाग्नि का विशिष्ट विशद भौतिक रूप प्रस्तुत करना हो तो कह सकते हैं कि यह अनेकानेक दीपन, पाचन, भेदन, संयोजन, वियोजन, ज्वलन, दहन, परिणमन आदि रसायन-कर्ममूलक सूक्ष्मद्रव्यसमूह के रूप में, एक पीतवर्ण, द्रवीभूत, ईपत स्त्रिगंध स्नाव है, जो स्वाद या रस में—योनि भेद से—अम्लता एवं कटुतायुक्त होता है, इसमें प्राणिज पदार्थों जैसी विस्तरगंध (विसाइंध) उठती है और यह ऊष्मायुक्त जीव-रसायन-धर्मा द्रव्य है।

पाचकाग्नि का 'सूत्र' निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

पाचकाग्नि = { महास्रोतस् के दीपन पाचन स्नाव + जीव-रसायन-धर्मा या आग्नेय द्रव्य समूह + ऊष्मा या ताप।

यह स्मरणीय है कि उक्त पाचकाग्नि 'पांचभौतिक' है। दृश्य रूप में यह द्रव या आप्य होने पर भी, गुण धर्म में आप्य या सौम्य नहीं है, प्रत्युत द्रवरूप दिखाई देने पर भी प्रकृति से यह आग्नेय है। इसमें महाभूतों का तैजस अंश प्रमुख रहता है, इस तैजस अंश के कारण यह अपने में से अप् महाभूत के सौम्य गुण को क्षीण कर देता है और आहार द्रव्यों में से भी द्रवांश को पृथक् करता रहता है।^{१३}

पाचकाग्नि के अन्तर्गत महास्रोतस् में परिस्तुत होने वाले सभी स्नावों का यद्यपि अपना-अपना उपयोग है, परन्तु आग्नेय—अर्थात् जीव-रसायन-धर्मा द्रव्यों का एवं ताप का विशेष महत्त्व है। इन्हीं दोनों को—इनके समवेत रूप को—प्राचीन संहिताकारों ने 'अग्नि', 'ऊष्मा' या 'तेज' नामों से पुकारा है। पित्तान्तर्गत^{१४} यही वह 'अग्नि' है, जिसे स्पष्ट करने के लिए

१२. 'पित्तं एव अग्निं अभिधानम्'। (अ० सं० शा० अ० ५)

'तत्र पित्तविशेषः पाचकसंज्ञोऽग्निः प्रागभिहितः'। (अ० सं० शा० अ० ६)

१३. 'रूक्षोष्णमम्लं पित्तं तु कटुकं च प्रचक्षते'। (भेल सं०—विमान—१)

१४. 'तत्र यत् आमपकवाशयमध्यस्यं पंचमहाभूतात्मकत्वेऽपि तेजो गुणोत्कर्षत् क्षणितसोमगुणं ततश्च त्यक्तद्रवस्वभावं—लब्धाग्निशब्दं पित्तं अन्नं पचति

‘‘‘तत् पाचकं इति उच्यते’। (अ० सं० सू० अ० २०)

१५. 'अग्निः एव पित्तान्तर्गतः शरीरे शुभाऽशुभानि करोति'। (च० सू० अ० १२)

'पित्तोष्मा' १६ (पित्त + ऊष्मा) शब्द से कहा गया है। भेल ने इन्हें 'तेज + ऊष्मा' नाम से स्मरण किया है ।^{१७}

उदरावयवों या कोण्ठांगों की दृष्टि से विचार करें तो पित्तस्राव का मुख्य केन्द्र 'यकृत्' और अग्निस्राव का मुख्य केन्द्र 'अग्न्याशय' है। इस प्रकार महाक्षोत्स् से ही पित्त और अग्नि का पार्थक्य भी देखने में आता है। धातुओं में पहुँच कर तो धात्वग्नि रूप में 'अग्नि' पृथक् ही हो गया है, परन्तु महाक्षोत्स् में पित्तस्राव और अग्निस्राव दोनों एकाकार हो जाते हैं और मिश्रित होकर ही पचन सम्बन्धी क्रिया व्यापारों को सम्पन्न करते हैं, अतः दोनों अभिन्न माने गये हैं।

पाचकपित्त या पाचकाग्नि के आग्नेय अंश का तथा ताप का—दोनों का—विशिष्ट महत्त्व है। इन्हीं को स्थान-स्थान पर 'ऊष्मा' शब्द से कहा जाता है। आत्रेय तथा धात्वन्तर दोनों सम्प्रदाय इस विषय पर एकमत हैं, क्योंकि आत्रेय मत से, आहार परिणमन रूप 'पचन कर्म' के लिए अपेक्षित भावों में 'ऊष्मा' का (अर्थात् पित्तोष्मा = आग्नेय द्रव्य + ताप, दोनों का) प्रथम स्थान है, "दूसरी

१६. 'पित्तान्तर्गत इति वचनेन शरीरे ज्वालादियुत वह्नि निवेदेन पित्तोष्मा रूपस्य वह्नेः सद्भावं दर्शयति' (च० सू० अ० १८-११ की टीका में चक्रपाणि दत्त)

X X X

इस प्रसंग में 'पित्तजग्रहणो' और 'पित्तज्वर' रोग भी ध्यान देने योग्य हैं, क्योंकि इनसे पित्त और अग्नि की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है।

उक्त दोनों रोगों में पित्त की वृद्धि हो जाती है, जबकि अग्नि की मन्दता रहती है। अग्नि की मन्दता का स्पष्ट अभिप्राय है—आग्नेय प्रकृति के (जीवरसायनधर्म) द्रव्यों का न्यून हो जाना। पित्तवृद्धि का अर्थ है—अग्नि द्रव्यों से हीन आमाशय यकृत् आदि के स्रावों का तथा स्थानीय ताप का बढ़ा होना। रोगावस्था में महाक्षोत्स् के जो पित्तस्राव बढ़े होते हैं, वे अग्निद्रव्य-हीन होने से विगुण अतएव हानिकर सिद्ध होते हैं। इनके साथ-साथ बढ़ा हुआ ताप भी हानिप्रद ही होता है। अतः इन दोनोंको विरेचन द्वारा निकालना पड़ता है।

१७. 'अथ अस्य ऊष्मा तेजश्च शरीरस्थं आहारं पचतः, ते कायाग्निः इति विद्यात्' (भेल सं० शा० ४)

१८. 'आहारपरिणामकरास्तु इमे भावा भवन्ति तद्यथा—ऊष्मा, वायुः, क्लेदः, स्नेहः, कालः, समयश्चेति। तत्र खल्वेषां आहारपरिणामकराणां भावानां इमे कर्मविशेषा भवन्ति, तद्यथा—ऊष्मा पचति। (च० वि० अ० ६)

ओर धान्वन्तर सम्प्रदाय तो पित्तगत आग्नेय द्रव्य समूह-ताप—दोनों को, 'अग्नि' शब्द से स्मरण करता ही है, इन्हें वह पित्तोष्मा न कहकर 'अग्नि' कहता है, इस प्रकार अग्नि को प्रधानता देता है। उसके प्रामाणिक आचार्यों ने 'पित्त' को ही नहीं, पित्त के अवान्तर भेदों^{१९} तक को, 'अग्नि' कहकर पुकारा है। पाचकपित्त को तो 'जाठरो भगवान् अग्निः' कहकर स्पष्ट रूप से ही पचनकर्म में 'अग्नि' की महत्ता को प्रतिपादित कर दिया है।

पाचकाग्नि या अन्तरग्नि का स्थान और क्रियास्थल

पाचकाग्नि का स्थान स्वभावतः: वह स्थल है, जहाँ अन्नपचन कर्म सम्पन्न होता है। यह स्थान है महास्रोतस्, अर्थात् मुख से आरम्भ करके पीछे भीतर की ओर एक स्वाभाविक खोखला गुहामार्ग नीचे उत्तर गया है, जो क्लोम, आमाशय, क्षुद्रान्त्र, स्थूलान्त्र में होता हुआ गुदा पर आकर समाप्त होता है, सामान्यतः यही पाचकाग्नि का अधिष्ठान अर्थात् आवासस्थल जौर क्रिया क्षेत्र है। इस प्रदेश में स्थान-स्थान पर छोटे-बड़े अग्निस्रोत या अन्यधिष्ठान हैं। यहीं पर अग्नि (या अग्नियों) द्वारा नाना प्रकार के रसायनकर्म किये जाते हैं। ये अन्यधिष्ठान मुख से ही प्रारम्भ हो जाते हैं।^{२०}

महास्रोतस् का ऊपर से नीचे की ओर जाने वाला उक्त गुहासदृश या नलकाङ्कित मार्ग टेढ़ा-मेढ़ा और बहुत लम्बा—लाभग तीस फुट—है, यह आगे जाकर, दक्षिण वाम दिशा में भी—भीतर ही भीतर—प्रसार लेता हुआ नीचे की ओर उत्तर गया है।

वैसे तो इस सम्पूर्ण गुहामार्ग में ताप या ऊष्मा भी व्याप्त है, और दीपन-पाचन स्राव भी स्थान-स्थान पर परिस्थुत होते हैं, फिर भी पाचकाग्नि का मुख्य

१९. 'तस्मिन् पित्ते' पाचकोऽग्निः' इति संज्ञा,—'रंजकोऽग्निः' इति संज्ञा—'साधकोऽग्निः' इति संज्ञा,.....' (सु० सू० अ० २१)

२०. जिह्वामूले स्थितो देवि ! सर्वतेजोमयोऽमलः ।

तदग्रे भास्करश्चन्द्रः, तालुमूले प्रतिष्ठितः ॥ (प्राणाग्नि होत्रोपनिषद्)

इस श्लोक में जिस अनल या आग्नेय स्राव का उल्लेख है वह, जिह्वा के पीछे—दोनों ओर स्थित—'कर्णमूलिक' ग्रन्थियों में से तथा निचले जबड़े के दोनों ओर स्थित 'हनुअघरीय' ग्रन्थियों में से निकलता है। इस स्राव में टायलीन नामक पिण्टपाचक (अमायलेज) अग्निद्रव्य पाया गया है।

आवासस्थल या केन्द्रीय स्रोत—‘आमाशय और पक्वाशय का मध्यवर्ती भाग’ अर्थात् ‘पच्यमानाशय’ या ‘ग्रहणीक्षेत्र’ माना गया है।^{१२}

शरीर-रचना-शास्त्र के अनुसार ‘ग्रहणी’ हमारे क्षुद्रान्त्र का वह आरम्भिक भाग है, जो वक्र या मुड़ा हुआ है और आमाशय के अधोमुख के साथ जुड़ा होता है। इस मुड़े हुए भाग की लम्बाई १०-१२ अंगुल के लगभग है। इसके भीतर यकृत् और अग्न्याशय से आने वाले पाचक त्रावों की नलिकायें खुलती हैं और उक्त स्राव यथासमय निकल-निकल कर भ्रुक्त द्रव्यों पर क्रियायें करते रहते हैं।

परन्तु इस मुड़े हुए ग्रहणी भाग के साथ संयुक्त क्षुद्रान्त्र भी मुड़ता-नुड़ता हुआ नीचे तक चला गया है। आरम्भ के मुड़े हुए भाग में अर्थात् ग्रहणी अवयव की भीतरी भित्तियों पर, चतुर्दिक् एक कला आच्छादित रहती है, जो आगे क्षुद्रान्त्र पर भी लगी हुई दूर तक चली गई है। इस कला में से भी आग्नेय स्राव निकलते हैं और ये भी पचन क्रियाओं में योग देते हैं। उक्त कला को आर्यचिकित्साशास्त्र में ‘पित्तधराकला’ नाम दिया गया है।

पचन क्रिया में, ग्रहणी के वक्र अवयव के भीतर गिरने वाले तथा आगे पित्तधराकला से परिस्फुट होने वाले—दोनों स्राव महत्त्वपूर्ण योग देते हैं। ये सब स्राव आग्नेय प्रकृति के हैं। इनमें एक निश्चित मान तक ताप या ऊषा व्याप्त रहती है।

शरीर-रचना-शास्त्र की दृष्टि से यद्यपि ग्रहणी अवयव वह है, जो वक्र और बारह अंगुल प्रमाण है; परन्तु शरीर-क्रिया-विज्ञान की दृष्टि से क्षुद्रान्त्र का वह समस्त भाग ही ‘पित्तधराकला’ या ‘ग्रहणी’ शब्द से सम्बोधित है, जो आमाशय के अधोमुख से आरम्भ होकर स्थूलान्त्र में जाकर जुड़ गया है। पूर्वोक्त वक्र ‘ग्रहणी अवयव’ तथा पित्तधराकला या ‘ग्रहणी क्षेत्र’ ये दोनों ही, मिलकर ‘ग्रहणी’ हैं और यही अन्तरग्नि या पाचकाग्नि का केन्द्र एवं क्रिया स्थल है।^{१३} यह स्मरणीय है कि ‘ग्रहणी’ और अन्तरग्नि (पाचकाग्नि) —ये

21. इवस्थानं कायाग्नेः पक्वामाशययोमध्यम्

(अ० ह० सू० अ० ११३४ की टीका में अरुण दत्त)

✓ इवस्थानस्थस्य ग्रहणीस्थस्य कायाग्नेः अन्तपक्तुः।

(अ० ह० सू० अ० ११३४ की टीका में हेमाद्रि)

22. षष्ठी पित्तधरानाम कला या परिकीर्तिता।

पक्वामाशयमध्यस्या ग्रहणी सा प्रकोर्तिता॥ (सु० उ० अ० ४०)

दोनों परस्पराश्रित हैं, एक के समर्थ या असमर्थ होने पर दूसरे की भी कार्य-क्षमता या अक्षमता निर्भर करती है।^{१३}

मुख एवं आमाशय से कुछ-कुछ पचता हुआ आने वाला, अर्थात् अर्धपक्व, आहार जब ग्रहणी मुख पर आता है, तब इस अवयव का मुख खुलता है और यह आहार के कुछ अंश को अपने भीतर ले लेता है। इसे लेकर यह अपना मुख बन्द कर लेता है। थोड़ी देर बाद पुनः मुख खोलता है और फिर कुछ आहारांश को लेकर मुख बन्द कर लेता है। इसी प्रकार थोड़ा-थोड़ा अर्धपक्व आहार इसके द्वारा ग्रहण किया जाता है। जितने आहारांश को एक बार में यह ग्रहणी ग्रहण करती है, उतने को कुछ काल तक रोक रखती है और अपने भीतर गिरने वाले पित्त स्राव (याकृतपित्त) तथा अग्नि-स्राव (अग्न्याशय स्राव) से—अर्थात् ‘पित्तोष्मा’ से इसको पचाती रहती है। फिर इस पचे हुए द्रव्य को अपने दूसरे द्वार से निकाल कर उसे स्थूलान्त्र में पहुँचाती जाती है। वारम्बार उक्त ग्रहण कर्म करते रहने के कारण ही इसका “ग्रहणी” नाम पड़ा है।^{१४}

यह ग्रहणी, जिसे शरीर-क्रिया-विज्ञान की दृष्टि से ‘पित्तधराकला’ भी कहा जाता है, एक सशक्त पाचक अवयव या ‘पाचन यन्त्र’ है। अपनी इस शक्ति के कारण यह आहार को क्रमशः थोड़ा-थोड़ा लेकर तब तक अपने भीतर रोके रखता है, जब तक कि उसे पचाना अभीष्ट होता है। यह यन्त्र एक ऐसे अवरोधक (अर्गला) का सा कार्य कर रहा होता है, जिसके कारण हमारा आहार अपक्व, अर्धपक्व या आम रूप में ऊपर—आमाशय के भीतर नहीं आ सकता, ग्रहणी द्वारा लाये जाने पर भी वह इस सुदीर्घं गुहामार्ग के भीतर से आगे की ओर पक्वाशय में शीघ्र खिसक नहीं पाता। ग्रहणी उसे रोके रखकर और पचाकर ही नीचे की ओर जाने देती है।^{१५}

२३. ग्रहण्या वलमग्निर्हि स चापि ग्रहणीश्रितः।

तस्मात् सन्दूषिते वन्हौ ग्रहणी सम्प्रदुष्यति ॥ (सु० उ० अ० ४०)

२४. अग्न्यधिष्ठानमन्तस्य ग्रहणाद् ग्रहणी भता।

नभेरुपरि सा ह्यग्नि वलोपस्तम्भवृहिता ॥

अद्वयं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति चाप्यवः ॥ (च० चि० अ० १५)

२५. ‘स्त्यता पक्वाशयद्वारि भुक्त-मार्ग-अर्गलेव सा।

भुक्तं आमाशये रुद्ध्वा सा विपाच्य नयत्यधः ॥

वलवती,

(अ० ह० शा० अ० ३)

वैसे तो ग्रहणी या पित्तधराकला को पुष्ट सशक्त रखने वाला (वृंदण) 'कफ', अशिथिल-प्राणवान् और क्रियाशील बनाये रखने वाला 'वात' और इसमें सदा विद्यमान तैजस 'पित्त', इन तीनों में से कोई भी विगुण और न्यूनाधिक हो जाय तो यह कार्य करने में असमर्थ हो जाती है; पर इसके अग्निकर्म की वृष्टि से, इसमें परिस्फुत होने वाले पाचक पित्तस्थावों के भीतर विद्यमान 'आग्नेय द्रव्य' ही इसकी मुख्य शक्ति है। पाचक पित्त या पाचकाग्नि के इन अग्निकर्ममूलक अंशों को आयुर्वेद में 'पित्त तेज' कहा गया है। ग्रहणी के पाचक रस में इस तेज या अग्निद्रव्य की कमी होते ही यह यन्त्र निस्तेज और निर्वल पड़ता है; इसका कार्य शिथिल हो जाता है, अर्थात् आहार को रोके रखना, उसमें रासायनिक परिवर्तन करना और आहार रस का उपशोषण करना—ये सब क्रियायें रुकने लगती हैं। परिणामतः विना पचे हुए या अपक्व अंश को तथा आहार के द्रव अंश को यह यन्त्र आगे की ओर फेंकने लगता है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार अन्य प्रमुख देहावयवों (हृदय, मस्तिष्क, फुफ्फुस आदि) को क्षण भर के लिए भी यदि उनका पोषक रस न मिले, या उस पोषक रस में उनके अपने योग्य विशेष उपयोगी अंशों की कमी हो जाये, तो वे शीघ्र अशक्त होने लगते हैं, उसी प्रकार इस ग्रहणी यन्त्र की दशा है। इसको निरन्तर पोषण पहुँचाने वाले रस में भी उपचयमूलक कफ और क्रियामूलक वात के साथ-साथ आग्नेय अंश या 'पित्त तेज' सर्वाधिक महत्व-पूर्ण है। यही इसका जीवनाधार है।^{१६} अस्तु,

इस प्रकरण में मुख्य वक्तव्य इतना ही है कि पाचकाग्नि या अन्तरग्नि सामान्यतः मुख से लेकर समस्त महास्रोतस् में व्याप्त है; परन्तु इसका प्रधान अधिष्ठान 'ग्रहणी' है। यह ग्रहणी या पित्तधराकला क्रियाशारीर की वृष्टि से—अधो आमाशय से लेकर क्षुद्रान्त्र के अन्तिम सिरे तक का भाग है, और यह भाग पाचकाग्नि का मुख्य कार्यक्षेत्र या क्रिया स्थल है, इससे आगे

२६. 'बछ्ठो पित्तधरानाम पक्वाभाशयमध्यस्था, साहि अन्तरग्निअधिष्ठानतया आमाशयात् पक्वाशयोन्मुखं अन्तं ब्लेन विद्यार्थं पित्ततेजसा शोषयति पचति पक्वं च विमुचति। दोषाधिष्ठिता तु दौर्बल्यात् आमं एव। ततः असौ अन्तस्य ग्रहणात् पुनः ग्रहणीसंज्ञा, बलं च तस्याः पित्तं एव अग्निअभिघानम्, अतः सा अग्निना उपस्तव्य-उपवृहितैकयोगक्षेमा शरीरं वर्तयति।'

(अ० सं० शा० अ० ५)

पक्वाशय में यह अग्नि 'मलपाक' का कार्य सम्पन्न करती है और 'मलपाचकाग्नि' कहाती है।

पाचकाग्नि की क्रियायें या पाचकाग्नि कर्म

पाचक अग्नि के कार्यक्षेत्र या क्रियास्थल में आये हुए आहार द्रव्यों पर वहाँ के विविध पाचक रसों की और उनके अन्तर्गत वीर्यवान् अग्निद्रव्यों या अग्नियों को बहुविध रासायनिक क्रियाओं को 'पाचकाग्नि कर्म' कहा गया है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि आयुर्वेदीय शरीर-क्रिया-विज्ञान में क्रियाओं के प्रवर्तक मूलद्रव्य 'त्रिधातु' या त्रिदोष हैं। देह की विभिन्न क्रियायें इन्हीं के द्वारा सम्पन्न होती हैं। आहार-पाक-कर्म को भी त्रिधातु ही सम्पन्न करते हैं, जिनमें 'पित्त' प्रधान है।

पाक-कर्म एक ऐसा व्यापार है, जिसमें हमारे देह में से उत्पन्न अनेक प्रकार के आग्नेय स्राव या जीव-रसायन-द्रव्य देह के भीतर पहुँचे हुए खाद्य पदार्थों पर, विविध भौतिक एवं रासायनिक क्रियायें क्रिया करते हैं। ये जीव-रसायन-द्रव्य आयुर्वेदीय क्रिया-शारीर की परिभाषा में पाचक पित्त—पाचकाग्नि या पाचक ऊष्मा कहे गये हैं, इन्हीं की अन्न आदि पर रासायनिक क्रियायें होती हैं, जिन्हें पचनात्मक अग्निकर्म कहते हैं।

पचन के इस रसायन कर्म को जो सम्पन्न करता है, उसे 'पाचक पित्त' और जो सम्पन्न कराता है, उसे 'समान वात' कहा गया है।

पाचकपित्त में वीर्यवान् रासायनिक द्रव्यों की प्रमुखता के कारण इसे अग्नि या ऊष्मा नाम दिया गया है। यह अग्नि या ऊष्मा बहुत-से आग्नेय द्रव्यों का समाहार है। आग्नेय द्रव्य (या अग्नियाँ), पचनात्मक व्यापार की आवश्यकता के अनुसार, महात्मोत्तम् में यथासमय प्रकट होते रहते हैं।

'पाचकाग्नि' से स्पष्ट है कि वह काल्पनिक नहीं, प्रत्युत सत्तात्मक द्रव्य है। इसी प्रकार समान वात भी सत्तात्मक है। यह क्रिया-कारक या क्रियाप्रेरक द्रव्यों का एक वर्ग है।

पाचकाग्नि के सदृश 'समानवात' में भी अनेक सूक्ष्म द्रव्यों का समावेश है। ये द्रव्य स्थानीय नाडीसूत्रों में तथा रस-रक्त आदि में संचार करते हुए यथासमय भिन्न-भिन्न क्रियाओं के लिए प्रेरणायें देते हैं।

आहार पचाने वाले व्यापारों को एक शब्द में पचनकर्म या 'पाक' कह देते हैं, परन्तु यह पचन व्यापार बहुत-सी जटिल प्रक्रियाओं का समष्टि रूप है।

इन प्रक्रियाओं को समझने के लिए पचन या पाक को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।^{१०}

(क) सामान्य पाक,

(ख) विशेष पाक।

(क) सामान्य पाक—यह मुख में तथा आमाशय में होता है। इसके सम्पन्न कराने के लिए प्रायः भौतिक क्रियायें ही पर्याप्त सिद्ध होती हैं।

(ख) विशेष पाक—यह ग्रहणी तथा अन्य कोष्ठांगों में होता है। इसे सम्पन्न कराने में आग्नेय प्रकृति के अनेक द्रव्य (सावों तथा रसों के रूप में) विशेष योग देते हैं। ये अग्नि द्रव्य, भोजन गत अन्न, दुग्ध आदि पर अलग-अलग प्रकार की रसायन क्रियायें करते हैं। कतिपय आग्नेय द्रव्य इस प्रकार के भी होते हैं, जो उत्तेजन कर्म करके उन रसायन-कर्म-कारक विशिष्ट अग्नियों को, उनके अपने-अपने स्रोतों से प्रकट कराते हैं। इन दोनों के अतिरिक्त कुछ अन्य चलप्रकृति के सूक्ष्म द्रव्य भी पाक कर्म में महत्त्वपूर्ण सहयोग देते हैं। ये चल या गतिमूलक द्रव्य, निम्नआमाशय, यकृत्, अग्न्याशय तथा पित्तधराकला के उन आग्नेय द्रव्यों या पाचनांशों को यथासमय स्रोतों से बाहर आने के लिए प्रेरित किया करते हैं, जो सुदीर्घ पचनक्षेत्र में होने वाली रसायन क्रियाओं के लिए समय-समय पर अपेक्षित हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त पाचन तथा दीपन द्रव्य अर्थात् 'अग्नि' और प्रेरक द्रव्य अर्थात् 'वात'—इन दोनों के सहयोग से यह पचनात्मक विशेष पाक सम्पन्न होता है। इस पाक का स्थान ग्रहणी क्षेत्र या पच्यमानाशय है।

प्रथम प्रकार का पाक, भोजन के मुख में आने, चर्वण करने और लाला-मिश्रण होने के साथ-साथ आरम्भ हो जाता है। इसे सम्पन्न करने में लाला-रस के साथ-साथ 'रसवोधक इलेष्मा' भी सहायता करता है। इलेष्मा, चर्वित आहार के साथ मिलकर इसके मधुर अम्ल आदि रसों को प्रस्फुटित करता है। इसी समय जिह्वामूलस्थ या मुखस्थ अग्नि अर्थात् एक विशिष्ट

२७. यह विभाजन केवल इन अग्निकर्मों या रासायनिक क्रियाओं को समझने की दृष्टि से किया गया है। अत्युद्दीय 'विपाक' से इसका सम्बन्ध नहीं है, जिसका वर्णन आगे किया गया है।

आग्नेय रस प्रकट होकर,^{१०} आहार के पार्थिव भाग में से पैष्टिक (पिष्टसार प्रधान) अंश पर क्रिया करता है और इसे अपनी शक्ति भर विवरित एवं पुनः संघटित करके, अर्थात् पचाकर, इसका किंचित् परिणमन (रूप परिवर्तन) करता है ।

हमारे दैनिक आहार में पार्थिव अंश के अन्यतम रूप में, इस 'पिष्टसार' से युक्त अनाज ही मुख्यतः रहते हैं । गेहूँ, जौ, मकई, बाजरा, ज्वार में, जई—बेणुयव आदि क्षुद्र अनाजों में तथा आलू—शक्कराकन्द (शकरकन्दी) आदि कन्द मूलों में भी पिष्ट की प्रचुरता है । पिष्ट^{११} युक्त अनाज, गेहूँ-जौ को छोड़कर, विशेष सारवान^{१२} और पौष्टिक नहीं होते । इसी से ये देह के कठिन पार्थिव भाग—अस्थि, तरुणास्थि, दन्त आदि का तो निर्माण और संवर्द्धन नहीं करते, परन्तु पचने तथा मधुर भाव^{१३} में परिणत होने के उपरान्त, यदि इनका निष्ठापाक* भी मधुर हो तो ये कफ, रस, रक्त, मेद स्तन्य, शुक्र, ओज आदि का संवर्द्धन करते हैं, इन्द्रियों के लिए तृप्तिकारक—केश्य, वर्ण्य और वल्य हैं ।^{१४} जो पिष्ट द्रव्य निष्ठापाक में मधुर नहीं होते, वे भी पार्थिव तो हैं ही; अतः वाह्य अग्नि में जिस प्रकार पार्थिव 'इंधन' के रूप में लकड़ियाँ जलती हैं, उसी प्रकार हमारी देहांति के लिए ये 'पिष्ट द्रव्य' पचकर और 'शक्करा' बन कर (छोटी-छोटी लकड़ियों के समान विभक्त होकर) दग्ध होते रहते हैं,

२८. इसे आधुनिक क्रिया-शारीर में 'टायलीन' नाम दिया गया है । यह 'पिष्ट-पाचकाग्नि' रूप 'पाचनांश' है ।

२९. पिष्ट या पिष्टसार को पाच्चात्य क्रियाशारीर में 'कार्बोहाइड्रेट' कहा जाता है ।

३०. अवृष्टं पैष्टिकं सर्वं यवगोध्यमवर्जितम् । (भेल, अन्न पान विधीय-२७)

३१. अग्नियों को आहार पर होने वाली रसायन क्रिया से, पार्थिवांश 'पिष्टसार' में, द्रव्यपरिणाम होकर उसके गुण में भी परिवर्तन होता है, जिससे वह 'शक्करा' में बदलता है और उसमें मधुर रस प्रकट होता है । मुख में चर्वण करते समय कतियय पैष्टिक द्रव्यों में मिठास अनुभव हुआ करता है, यह मिठास या माधुर्य, पिष्ट पर आग्नेय (रसायन) द्रव्य की पचन क्रिया से, उसके 'शक्करा' में परिणत होने का परिणाम है ।

*निष्ठापाक का वर्णन आगे किया गया है ।—ले०

३२. 'तत्र मधुरो रसः रस-रक्त-मांस-मेदः-अस्थि-मज्जा-ओजः-शुक्र-स्तन्य वर्धनः चक्षुष्यः केश्यः वर्णः वलकृत्... ।'

(सु० सू० अ० ४२)

तथा कायाग्नि के इंधन के रूप में दिन-रात दहन के काम आते हैं।^{३३} कायाग्नि या देहाग्नि में दग्ध होकर भस्मसात् होते हुए ये आग्नेय शक्ति^{३४} में परिणत हो जाते हैं और अन्त को ऊर्जाकृत या बलकृत होते हैं।^{३५}

पूर्वोक्त मुखवर्ती 'अग्निद्रव्य' द्वारा पार्थिवांश पिष्टसार पर पचन किया, मुख में चर्वण के साथ-साथ तो होती ही है; परन्तु जब यह 'अग्नि द्रव्य' आहार में मिलकर आगे जाता है, तब आमाशय में भी आव एक घंटे तक (जब तक आमाशय का अम्ल-पाचकाग्नि इसे उदासीन न कर दे) इसके द्वारा अग्नि कर्म होता रहता है। यह स्मरणोदय है कि यदि 'पिष्टधात्य' या पिष्टान उवले हुए रूप में न हो तो यह मुखस्थ अग्नि उस पर अग्निकर्म नहीं कर पाता।

मुखाग्नि के अग्निकर्म से पिष्टद्रव्य किञ्चित् पचता हुआ एवं रूप-परिवर्तन करता हुआ नीचे आमाशय में उत्तर जाता है।^{३६}

पार्थिवांश 'पिष्ट द्रव्य' के ही अन्यतम रूप 'खाँड़' या 'चीनी' का प्रायः ही सेवन किया जाता है। यह चीनी मुख में नहीं पचती। जल का संसर्ग पाकर यह उसमें विलीन हो जाती है और पचने के लिये नीचे चली जाती है। चीनी या शर्करा के कई रूप हैं।

फलों में विद्यमान 'कल शर्करा' और दूध की 'दुग्ध शर्करा' भी पिष्ट के ही विभिन्न परिवर्तित रूप हैं। ये सब शर्करायें मुख में होती हुई पूर्ण पचन के लिए अन्नवहा में से नीचे चली जाती हैं।

आहारद्रव्यों में महत्त्वपूर्ण पार्थिव भाग वह है, जो देह भर को मूर्त रूप प्रदान करता है। इसमें दो वस्तुयें प्रमुख हैं।

एक वह, जो मांस, त्वचा, नस, नाड़ी आदि देह के मृदु और लुचलुचे भागों में पाया जाता है। इसके बहुत से रूप हैं। यह रस, रक्त, शुक्र, श्लेष्म आदि तरल धातुओं में भी घुला रहता है। प्रायः प्रत्येक देहघट को यह बनाता है। पाचक स्रावों और अग्निद्रव्यों का भी यह उपादान है। इस पार्थिव

३३. 'ऑक्सिडाइजेशन'।

३४. 'र्मल इनर्जी'।

३५. 'विविव' अशितपीतं—सम्यक् विपच्यमातं—शरीर धातृन् ऊर्जयति च।

(च० स० अ० २८)

३६. उक्त अग्निकर्म या रासायनिक क्रिया द्वारा 'पिष्टद्रव्य',—डैक्सट्रीन आदि कई रूपों में से गुज़र कर, धात्यशर्करा (माल्टोज) में परिणत होता है।

अन्न भाग को हिन्दी में अखजन (अंग्रेजी में प्रोटीन) नाम दिया जाता है। पार्थिव अखजन, हमारे आहार के द्विलों—बीजों, मेवाओं तथा आमिषों में प्रचुर परिमाण में होता है। दुध एवं अण्ड भी इसके अच्छे स्रोत हैं। परन्तु सबसे अधिक यह दालों और आमिषों में होता है। अखजनयुक्त अन्न द्रव्य मुख में नहीं पचते। चर्वित होकर और लालारस एवं वोधक कफ से मिश्रित होकर, अग्रिम पचन के लिए ये आगे चले जाते हैं।

दूसरा प्रमुख पार्थिव अंश वह है, जो देह के ठोस, कठोर एवं गुरुतम (सबसे अधिक भारी) भागों के, अस्थि-तरुणास्थि और दन्त के निर्माण में काम जाता है। यह खटिक (या कैलिसियम) धातु है। यह धातु हमारे भोजनों के—दूध आदि के—साथ हमें प्राप्त होता है। यह भी मुख में नहीं पचता।

एक अन्य निस्सार पार्थिव अंश^{३७} भी मुख में केवल चर्वित और कफ-मिश्रित ही होता है।

पार्थिव भागों के पश्चात् आहार के आप्य भागों में—स्नेह द्रव्य, फल-रस, यूप, दुध, जल आदि तरल आते हैं। ये भी मुख में नहीं पचते। अन्न-वहा में से होते हुए ये प्राणवात् द्वारा नीचे उतार दिये जाते हैं।

पार्थिव और आप्य अंशों के अतिरिक्त आहारगत आग्नेय भागों में मरिच, लवण, अचार, चटनी, नीबू आदि अम्लरस युक्त वस्तुयें; जीरक, शुन्ठी, हिंगु प्रभृति उष्णवीर्य, राजिका आदि तीक्ष्ण गुण और मेथी आदि तिक्त रस युक्त दीपन पाचन वस्तुयें आती हैं। इलायची, दालचीनी, लौंग, तेजपात, केशर आदि सुगन्धि द्रव्य, लौह, ताम्र, सौडियम, पोटासियम आदि धातुओं के यौगिक, गन्धक प्रस्फुरक आदि तैजस खनिज भी इन्हीं में हैं। शाक, फल, दूध और मेवाओं के साथ भी सूक्ष्म आग्नेय अंश रहते हैं। भोजन के ये सब आग्नेय अंश हमारे मुख में नहीं पचते। इनसे युक्त द्रव्य, चवाये जाकर और छिन्न-विच्छिन्न होकर नीचे आमाशय में ले जाये जाते हैं।

यही स्थिति उन वायवीय अंशों की है जो हमारे आहार द्रव्यों के भीतर प्राणशक्ति-वर्धक और प्रेरणादायक सूक्ष्म खाद्योजों एवं गैसों के रूप में रहा करते हैं। ये भी मुख से आमाशय में चले जाते हैं।

३७. इसे अंगल भाषा में 'सेल्युलोज' नाम दिया गया है। यह आटे के चोकर में तथा शाक-सब्जियों और फलों के छिलकों में अधिक रहता है।

इस प्रकार उक्त पाथिव-आप्य-आग्नेय-वायव्य अंशयुक्त पांच भीतिक आहार मुख में लालासित्त, चर्वित एवं कफ-मिश्रित हो-होकर प्राण वात की प्रेरणावश, अववहा में होता हुआ, नीचे आमाशय में उतारा जाता है।^{३८} अववहा नीचे जाकर ऊर्ध्व आमाशय में संयुक्त होती है। यह भाग देह के वाम पार्श्व में अवस्थित है।^{३९}

नीचे आकर सर्वप्रथम यह पच्यमान अन्न इस 'ऊर्ध्व आमाशय' के सम्पर्क में आता है। 'ऊर्ध्व आमाशय' के इस भाग में अवस्थित और अपने ग्रन्थि-स्रोतों से यथासमय परिस्फुट होने वाला 'क्लेदक इलेष्मा' अब उक्त पच्यमान आहार के साथ मिश्रित होता है। इस समय तक समस्त आहार चर्वित अतएव खण्डित हो चुकता है, 'क्लेदक कफ' के कुछ देर तक मिश्रण होते रहने से यह, अब पिञ्चिलद्रवयुक्त होकर, अच्छी तरह आद्रं या गीला हो जाता है; और कुछ काल तक भीगता रहता है।^{४०} सारा अन्न समूह इस प्रकार भीगकर शिथिल पड़ जाता है।

अन्न के साथ-साथ आये हुए स्नेह द्रव्य भी—इस काल—इसमें अच्छी तरह मिलते रहते हैं। आद्रंकरण और स्नेहन के कारण अन्न के छोटे-बड़े टुकड़े खूब मुलायम और भंगुर पड़ जाते हैं।

तब आमाशयस्व वात, यहाँ की पेशियों को दक्षिण वाम दिशा में आगे पीछे की ओर गतियाँ दें-देकर, इस खण्डित, मृदु, शिथिल और भंगुर 'अन्न द्रव्य' का आलोड़न-विलोड़न-सा करने लगता है। लगभग आधे घंटे तक यह क्रिया होती रहती है।

दाँतों द्वारा चर्वण, लालारस एवं बोधक इलेष्मा का मिश्रण, मुखाग्नि द्वारा निरन्तर अग्निकर्म करते रहने से अन्न में माधुर्य-जनन, जल-यूष-स्नेह आदि के रूप में आप्य संयोग, 'क्लेदक कफ' द्वारा ब्लेदन, पचन संस्थान की सदा विद्यमान ऊष्मा में वात-प्रेरित आमाशय-पेशियों का आलोड़न-विलोड़न, इन सबका परिणाम यह होता है कि मधुर लवण आदि भिन्न-भिन्न रसों वाला आहार परि-

३८. 'अतं आदानकर्मा तु प्राणः कोऽन्तं प्रकर्षति'। (च० चि० अ० १५)

३९. 'अन्नवहानां स्रोतसां आमाशयो मूलं, वासं च पार्श्वम्'। (च० वि० २-८)

४०. '..... यस्त्वामाशयसंस्थितः।

क्लेदकः सोन्नसंघात्क्लेदनात् ॥'। (अ० ह० स० अ० १२)

पिष्ट और मथित हो-होकर—यवागू जैसा अर्धतरल पदार्थ बन जाता है और इसमें मधुररस-प्रधान 'फेनिल इलेज्मा' आविभूत होता है।^{११}

स्पष्ट है कि इस स्थिति तक आहार-द्रव्यों की पिछली पिण्डरूप और स्थूल सघन आकृति तो छिन्न-भिन्न हो ही चुकती है, परन्तु अब प्रथम पाक के अन्त में परिपिष्ट, विलन्न, फेनिल और मधुर हो चुकने पर इसका भौतिक संघात भी हूट जाता है; अर्थात् इसके पार्थिव आप्य, आग्नेय, वायव्य, अन्न भाग भी अब पृथक्-पृथक् हो जाते हैं।^{१२} आयुर्वेद में इसे 'संघातभेद' कहा गया है। संघात भेद होने से आमाशयस्थ अन्न के पार्थिव-आप्य आदि अंशों पर अग्निकर्म होना सुगम हो जाता है।^{१३}

४१. अन्नस्य भुक्तमानस्य षड्रसस्य प्रपाकतः ।

मधुराद्यात् कफो भावात् फेनभूत उदीर्घते ॥ (च० चि० १५-९)

+

+

+

'भुक्तमानस्य भुक्तानन्तरम् । 'प्रपाकतः' इति प्रथम पाकतः प्रशब्दः आदि कर्मणि । फेनभूत इति फेनसदृशः, अघनः इत्यर्थः । (चक्रपाणि)

४२. आधुनिक क्रिया-शारीर-विशारदों ने इन संघातभिन्न पार्थिव आदि अंशों का रासायनिक विश्लेषण करके इन्हें पृथक्-पृथक् संज्ञायें दे दी हैं, आयुर्वेदीय भौतिक संघटन की दृष्टि से इन्हें निम्न प्रकार रखा जा सकता है:
पार्थिव अंश—कार्बोहाइड्रेट, शुगर (शर्करा), प्रोटीन, कैल्सियम, सैल्युलोज आदि, गौरव-काठिन्य-मूर्तिउत्पादक एवं इंधनरूप द्रव्य।

आप्य अंश—स्नेहद्रव्य (घृत, तेल, वसा आदि) या-फैट, जल, दुग्ध, यूध, फलरस इत्यादि स्नेहन-तर्पण-द्वेष-मार्दव कारक द्रव्य।

आग्नेय अंश—अम्ल-क्षार, कटु-ऊण-तीक्षणगुणयुक्त, दीपन-पाचन-जवलन-दहन-रूपान्तरीकरणादि रसायनकर्मकारक द्रव्य, आग्नेय प्रकृति के खाद्योज (विटामिन्स), पाचनांश (एमाइलेज-लायपेज प्रभृति एन्जाइम्स), मद्य, आदि।

वायव्य अंश—प्रेरक प्रकृति के खाद्योज (विटामिन्स), ओषजन सदृश प्राणप्रद गैसें, विभिन्न गतिमूलक द्रव्य।

४३. तत्र आमाशयः—चतुर्विधस्य अन्नस्य आधारः । स च औदकैः गुणैः आहारः प्रक्रिलन्नः भिन्नसंघातः सुखजरो भवति । (सु० स० २१)

+

+

+

'औदकैः गुणैः द्रव्यस्नेहादिभिः' ।

(डलहन)

उक्त फेनिल द्रव्य वन जाने तक प्रथम पाक, अर्थात् सामान्य पाक की प्रक्रिया पूर्ण हो चुकती है।

इसके उपरान्त विशेष पाक आरम्भ होता है। यह पाक 'पित्ततेज' अर्थात् पाचकपित्त के भीतर रहने वाले तैजस या आग्नेय अंश से, अर्थात् अन्तरग्नि^{४४} से होता है। इस पाककर्ता आग्नेय अंश को 'ऊष्मा'^{४५} भी कहा जाता रहा है। इसी से आहार पचता जाता है और जो पकव होकर 'अन्न रस' वन चुका हो, वह इस अग्नि के प्रभाव से उपशोषित भी होता रहता है।^{४६}

पाचकपित्त द्वारा आहारपाक का अधिक विस्तृत वर्णन क्रिया-शारीर के ग्रन्थों में वर्णित है। यहाँ इस प्रसंग में पाचकपित्त या पाचकाग्नि के वीर्यवान् आग्नेय अंशों द्वारा किए जाने वाले 'अग्नि कर्म' पर ही एक छटिट डालना संगत और अभीष्ट है।

पाचकपित्त, जैसी कि आयुर्वेद की मान्यता है, एक भौतिक द्रव्य है। पांच भौतिक होने पर भी इसमें दीपन, पाचन, रंजन, रसायनधर्मा (अग्निकर्ममूलक) द्रव्यों की विद्यमानता के कारण तथा स्थानीय ताप्त के कारण 'आग्नेय' भाव की प्रधानता है। इसी से इसे 'अन्ल' या 'अग्नि' नाम दिया गया है। अपने इस आग्नेय या 'तैजस अंश' से यह आहार पर विशेष-विशेष प्रकार के 'पाक' आदि कर्म या आहारपरिणमन (रूप परिवर्तन) सम्बन्धी रासायनिक क्रियायें करता है। 'विशेष पाक' इन्हीं क्रियाओं का समाहार समझना चाहिए।

यह प्रथम स्पष्ट हो चुका है कि आहार के संघातभेद के समय इसके पार्थिव-आप्त्य आदि अन्न भागों का परिणमन करना, किसी एक प्रकार के अग्नि के सामर्थ्य की वात नहीं है। इसके लिए वहुसंख्यक अग्निद्रव्य अपेक्षित हैं। उक्त अन्नभाग, पाचकाग्नि के अपने-अपने आग्नेयांशों से ही पचते हैं।^{४७} उनकी क्रियायें भी स्वभावतः नानारूपा हैं।

पचता हुआ आहार जब चर्वित-मथित होकर फेनिल हो चुकता है, तब यह

४४. 'पित्तं अत्र अन्तरग्निसंज्ञकम्'

(सु० शा० ४-१८, १९ को टीका में डलहन)

४५. 'ऊष्मा पचति'। (च० शा० अ० ६)

४६. 'तज्जीर्यति यथाकालं शोषितं पित्ततेजसा'। (सु० शा० ४-१८)

४७. 'विविधं अशितपीतं—यथास्वेन ऊष्मणा सम्यग् विपच्यमानं।

(च० सू० अ० २८)

‘अधो आमाशय’ में होता है। उसी समय इसमें से दीपन अग्नियों^{४८} का जन्म होता है। इनसे उद्दीप्त होकर अधो-आमाशय में अन्य नानाहृषा पचनात्मक अग्नियों के प्रकट होने में सहायता मिलती है। इन अग्नियों में एक प्रमुख ‘अम्लरूप अग्नि’ (लवणाम्ल) है। यह आवश्यकतानुसार न्यूनाधिक प्रमाण में अपने ग्रन्थिनोतों से निकल-निकल कर शनैःशनैः समस्त फेनिल अन्नद्रव्य में मिश्रित हो जाता है और इसे अम्लीय बना देता है।

अन्नकणों के ऊपर विशेषतः इसके पार्थिव और आप्य (विशेषतः स्नेह द्रव्यों के) कणों के चतुर्दिक् चढ़े रहने वाले आवरणों को यह अम्लाग्नि गला देता है, जिससे वह सुपाच्य बनते हैं। यह ‘अग्नि’ पार्थिव अन्नभागों पर—विशेषतः पिष्टसार पर—और खटिक (कैल्सियम) पर अग्निकर्म करके इन्हें यथाशक्ति पचाता है।

आमाशय में अम्लाग्नि के क्रिया करते समय ‘पॅप्सीन’ नामक एक अन्य आग्नेय द्रव्य भी प्रकट होता है। यह अम्लाग्नि की उपस्थिति में, अन्नगत मुख्य पार्थिवांश अस्तजन (प्रोटीन) का यथाशक्ति पचन करता है।

यदि दूध का सेवन किया गया हो तो आमाशय में अन्यतम अग्नि ‘रेनीन’ प्रकट होता और दूध पर पचनकर्म करके इसका दही में परिणमन (रूप परिवर्तन) करता है।

आप्य अन्नभाग ‘स्नेह’ को पचाने के लिए आमाशय में एक अन्य अग्निद्रव्य ‘स्नेह पाचनांश’^{४९} की भी पचनक्रिया कभी-कभी देखी गई है। अन्य आप्य भाग—जल, यूप, फलरस आदि तथा मद्य आदि तीक्ष्ण तरल, यर्त्तिकचित् मात्रा में यहाँ ही उपशोषित होने लगते हैं। अस्तु,

आमाशय में यहाँ की अग्नियों की क्रिया के उपरान्त, पार्थिव और आप्य अन्नभाग तो, ‘अर्धपक्व’^{५०}-सी अवस्था को प्राप्त होते हैं और आग्नेय तथा

४८. इन दीपन अग्निद्रव्यों को आधुनिक क्रिया-शारीर में ‘गॅस्ट्रोन’ तथा ‘डॉक्सट्रोन’ नाम दिये गये हैं।

४९. ‘गॅस्ट्रिक लायपेज़।’

५०. पार्थिव अन्नभाग—दाल-आमिष आदि ‘प्रोटीन’, इस समय तक ‘प्रोटीयोन’ और ‘पैप्टोन’ बन चुकता है। यह अर्धपक्व रूप है। पार्थिव अन्नभाग—रोटी या चावल रूप पिष्टसार तथा मधुर द्रव्यगत इक्षुशकरा आदि, इस समय तक, अंशतः पचकर ‘द्राक्षाशकरा’ (ग्लूकोज) और ‘फल शकरा’ (फ्रुक्टोज) में परिणत होते हैं। अधिकांश पिष्ट और इक्षुशकरा यथापूर्व बने रहते हैं। यह इनकी पक्वापक्व अवस्था है।

पार्थिव अन्नभाग खटिक या कैल्सियम धातु, इस समय तक, अम्लाग्नि

वायव्य अन्नभाग—अब पृथक्-पृथक् होकर—स्वतन्त्र रूप में आ जाते हैं। अन्नगत आग्नेय अम्ल पदार्थ, आमाशय के अम्लाग्नि की शक्ति बढ़ाते हैं और द्वितीय अवस्था पाक में, आहार को अम्लीय करने में सहायक होते हैं। अन्य आग्नेय और वायव्य अन्नभाग—अणुरूप और मात्रा में अल्प होते हुए भी—बहुसंख्यक होते हैं। ये स्वतन्त्र होकर 'स्व-रूप' में ही देह के भीतर रह जाते हैं, अर्थात् स्वतः पक्व हैं। इनके महास्रोतस् में पचने या रूपपरिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, अतः ये पच्यमानाशय से उपशोषित होने लगते हैं।^{११}

अभिप्राय यह कि यहाँ की कतिपय अग्नियों की क्रियाओं के उपरान्त, पड़रसयुक्त आहार, संघातभिन्न होकर, पक्वापक्व और अम्लीय बन चुकता है। अन्न के इस रूप को आयुर्वेद में 'विदग्ध' कहा गया है।

विदग्ध, अम्लीय और पच्यमान आहार पर अब अग्रिम पचन या अग्निकर्म की मुख्य प्रक्रिया आरम्भ होती है और समानवात—इस पच्यमान आहार को—मुख्य अग्निस्थल की ओर जाने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रेरणा से

के संसर्ग से उपशोषित होने योग्य बन जाता है। इसे उसकी पक्वावस्था ही समझना चाहिये।

पार्थिव अन्न भाग 'सैल्युलोज', अपक्व किन्तु मृदुरूप ग्रहण कर लेता है। आप्य अन्नभाग—धूत, तेल, वसा आदि स्नेह, इस समय तक, जल के साथ मिलकर और द्वयिता बनकर, 'धौत' रूप में ही आ पते हैं। ये प्रायः पच्यमान अर्थात् अपूर्णपक्व दशा में होते हैं।

आप्यअन्न भाग दुर्गंध, इस समय तक कुछ-कुछ पचकर, दही बन पाता है और अपूर्णपक्व दशा में रहता है।

आप्य 'जल' का कुछ अंश पच्यमान आहार के साथ-साथ रहता है, और कुछ अंश उपशोषित होना आरम्भ हो जाता है।

५१. ये आग्नेय तथा वायव्य प्रकृति के अन्नभाग बहुत प्रकार के हैं, इनका विशेष विचार 'भूताग्नि' प्रकरण में हुआ है। इनमें से कुछ को खाद्योज या विटामिन्स के नाम से खोज निकाला गया है। खाद्योज, आहारपाक काल में संघात-भिन्न होकर स्वतन्त्र हो जाते हैं। इनके महास्रोतस् में पचने की आवश्यकता नहीं होती। खाद्योज, खनिज, लवण तथा जल पच्यमानाशय से ही उपशोषित होने लगते हैं।

(देखें वैस्ट तथा टांड की वायोकैमिस्ट्री का १३ अध्याय)

‘पच्यमान आहार’ नीचे ग्रहणी की ओर जाने लगता है। इसे ‘वायु द्वारा अन्न का अपकर्षण’ कहा गया है।^{१३}

इस समय प्राणदा नाड़ी के महास्रोतोगत सूत्रों में प्रवाहित ‘समानवात्’ की प्रेरणा द्वारा और उपर्युक्त अम्लाग्नि-मिश्रित आहार के संस्पर्श से, प्रबुद्ध होकर, ग्रहणी का मुद्रिकाद्वारा उद्घाटित होने लगता है। जिससे ‘ग्रहणीमुख’ पुनः-पुनः खुलकर, ग्रासों के रूप में, उक्त ‘विदग्ध’ अन्न को ग्रहण करना आरम्भ करता है। एक-एक ग्रास को ले-लेकर ग्रहणी अपना मुख बन्द कर लेता है। यह इसलिए ताकि एक बार के ग्रास पर, ग्रहणी के आगेय रसों का मिश्रण होकर, अग्निकर्म भले प्रकार हो सके। यह व्यापार तब तक चलता है, जब तक कि आमाशय का सम्पूर्ण विदग्ध अन्न ग्रहणी के भीतर नहीं आ चुकता है। इसके बाद ग्रहणीमुख बन्द हो जाता है।

ग्रहणी में विदग्ध और अम्लीय आहार का स्पर्श पाकर, याकृतस्नाव, अपने स्रोत से निःखुत होता है। यह स्नाव पार्थिव और आप्य दोनों प्रकार के अन्न भागों को पचाने में महत्वपूर्ण योग देता है। आप्य अंश ‘स्नेह द्रव्य’ तो इसके अभाव में पच ही नहीं सकते। पचनकर्म करने के साथ-साथ यह दीपन कर्म भी सम्पन्न करता है और अग्न्याशय* के स्रोत को उद्बुद्ध करता रहता है, जिससे ग्रहणीगत अग्निद्वार भी खुल जाता है और उसमें से अग्नियाँ प्रवाहित होने लगती हैं। ये अग्नियाँ नीरंग और निर्मल द्रव के रूप में धूली हुई होती हैं। उक्त याकृतस्नाव रूपी ‘पित्त’ का और अग्न्याशयस्नाव रूप ‘अग्नि’ का तरल, पच्यमान आहार पर गिर-गिर कर उसमें मिश्रित होने लगता है।

आमाशय में कुछ पचे और कुछ बिना पचे हुए अर्थात् पक्वापक्व (विदग्ध) एवं अम्लोभूत, इस पच्यमान अन्न को, समानवात् ज्यों-ज्यों ग्रहणी में लाता जाता है, त्यों-त्यों उसका अम्लीय स्पर्श पाकर ग्रहणी के भीतर याकृत स्नाव और अग्न्याशय रसों की (अच्छपित्त की) एक धारा-सी छूटने लगती

५२. ‘.....वायुः अपकर्षति’।

(च० शा० अ० ६)

+ + +

‘वायुः अपकर्षति इति ऊष्मस्थानात् विद्वरस्थं अन्नं ऊष्मसमीपं नयति’।

(चक्रपाणि)

+ + +

* ‘वामदिशायां अनलो नाभेण्ड्वोऽस्ति जन्तूनाम्।’ (योगरत्नाकर)

है। इस दृश्य का अंखों देखा-सा वर्णन चरक ने अपने महान् ग्रन्थ में दे दिया है।^{११}

पच्यमान खाद्य के संघातभिन्न अतएव पार्थिव आदि अंशों पर, उपर्युक्त अच्छिप्ति की या द्रवरूप विविध अग्निद्रव्यों की, अपनी अलग-अलग क्रियायें होती हैं।

इन क्रियाओं के परिणामस्वरूप अर्धपक्व पार्थिव-आप्य आदि अन्न भागों का पहिले की अपेक्षा भी अधिक पचन होता है।^{१२}

ग्रहणी में होने वाली उक्त पचनक्रिया के उपरान्त यह पचता हुआ आहार, क्रम-क्रम से और शनैः-शनैः ग्रहणी अवयव के आगे ग्रहणीक्षेत्र में या पच्यमानाशय में (सूक्ष्मान्त्र भाग में) लाया जाता है। ग्रहणीक्षेत्र में, पूर्वपक्व आहारांशों का उपशोषण भी होता रहता है और अर्धपक्व भागों का अन्तिम पचन भी होता है।

परन्तु मुख्य रूप से तो सम्पूर्ण, संघातभिन्न और ईपत्पक्व, अर्धपक्व

५३. 'परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः।'

आशयात् च्यवमानस्य पित्तं अच्छं उदीर्यते ॥ (चि० चि० अ० १५-१०)

+ + +

'परं इति आद्यमधुरपाकानन्तरं, विदग्धस्य पक्वापक्वस्य, अम्लभावतः इति जातअम्लस्वरूपतः, आशयात् अमाशयात् च्यवमानस्य वायुना अधोभागं नीयमानस्य। अतेन च पित्तस्थानसम्बन्धं विदग्धाहारस्य दर्शयति। अच्छं अवनम्, उदीर्यते पित्तं उत्पद्यते।'

(चक्रपाणि)

५४. उदाहरणार्थ—पार्थिव अन्नभाग प्रोटीन, जो अर्धपक्व होकर पेटोन बन चुका था, वह अब अग्न्याशयस्त्राव के 'ट्रिप्सीन' नामक अग्निद्रव्य से और अधिक पचकर, 'पैप्टाइड' बन जाता है।

पार्थिव अन्नभाग 'पिष्टसार' जिसका बहुत-सा अंश मुखाग्नि तथा अमाशयाग्नि द्वारा नहीं पच सका था, उसे अग्न्याशय का 'एमायलेज' नामक 'पिष्टपाचकाग्नि', अब अधिक पचाकर, 'धान्य शर्करा' (माल्टोज) व एक्रूडेक्सट्रैन में परिणत कर देता है।

आप्य अन्नभाग 'स्नेह द्रव्य', जो आमाशय में विलोड़न क्रिया से धौत-द्रव का रूप ग्रहण कर सका था, वह वाकृत स्त्राव से पचकर, अब 'ग्लिसरोल' एवं 'फैटी एसिड' में विवरित हो जाता है। यही इसका पचन है। इस रूप में यह सुगमता से उपशोषित होता है।

या अपक्व अन्न भागों का, अन्तिम पचन यहाँ पूर्ण हो जाता है। इस पाक का कर्ता वह अग्नि या अग्निपुंज है, जो पच्यमान आहार के यहाँ आते ही, ग्रहणी क्षेत्र के स्रोतों से द्रवलूप में परिस्तुत होने लगता है।

ग्रहणी क्षेत्र के इस अग्निपुंज को क्रियाओं से समस्त पार्थिव तथा आप्य अन्न भागों का महास्रोतोगत 'अन्तिम पाक' हो जाता है।¹⁴

अन्नगत आग्नेयभाग, जो संघातभेद के समय पृथक् हो जाते हैं, उनका अम्लीय अंश तो पहले ही उपयोग में आ चुका होता है, शेष भाग में मुख्यतः

५५. इस पाक के परिणामस्वरूप—पार्थिव अन्नभाग प्रोटीन, जो कुछ-कुछ पचकर अभी तक पैप्टाइड बन सका था, उसे ग्रहणीक्षेत्र का प्रचण्ड 'अग्नि'—'इरेप्सिन' पचाकर, 'एमाइनो एसिड्स' में परिणत कर देता है। एमाइनो एसिड्स देह के लिए निर्विष और निर्दोष हैं। ये पच्यमानाशय से भीतर उपशोषित हो जाते हैं। जिन प्रोटीनों को आमाशय के पैप्टोन और अम्लाशय के ट्रिप्सीन नहीं पचा पाये थे, या अर्धपक्व बना सके थे, उन्हें इरेप्सिन पूरा पचा देता है। पार्थिव द्वितील, पनीर, छत्रक शाक और आमिषवर्गीय द्रव्यों का, यह अग्नि, प्रबल पाचक है।

पार्थिव अन्न का दूसरा भाग 'पिष्टसार', जो मुख-आमाशय और अम्लाशय के अग्निद्रव्यों द्वारा पचाया जाकर, धान्यशर्करा तथा डैक्सट्रीन रूप में अर्धपक्व बनाया जा सका था, वह 'अन्त्रीयमाल्टेज' नामक पिष्टपाचकाग्नि द्वारा अब पूर्ण पचाया जाकर—'द्राक्षाशर्करा' (ग्लूकोज) में परिणत किया जाता है। पिष्टसार का, पाचकाग्नि द्वारा, यही पूर्ण पचन है। इस रूप में यह पच्यमानाशय में उपशोषित हो जाता है। पिष्टसार का अन्यतम रूप—'इक्सुशर्करा' या साधारण चीनी (खाण्ड) है, जिसका नित्यप्रति सेवन किया जाता है। ग्रहणी क्षेत्र में आने के पूर्व तक यह पूरा नहीं पच पाता। इसे यहाँ का 'इन्वेटेज' या 'अन्त्रीय सुक्रेज' नामक अग्नि पूर्ण रूप से पचाकर, 'द्राक्षाशर्करा' तथा 'फल शर्करा' में परिणत कर देता है। इस रूप में यह भी उपशोषित हो जाता है। सेवन किए हुए दुग्ध में रहने वाली 'दुग्धशर्करा' को, या पिष्टसार के अर्धपक्वरूप में उत्पन्न 'दुग्धशर्करा') को, 'अन्त्रीय लैंकेज' नामक अग्नि, अन्तिम रूप से पचाकर 'द्राक्षाशर्करा' में परिणत कर देता है।

इस प्रकार आहार के अन्यतम पार्थिवांश 'पिष्टसार' का तथा उसके

—पाचनांश और दीपनांश, “आग्नेय प्रकृति के खाद्योज, धात्वीय लवण और खनिज आते हैं। पाचनांश और दीपनांश अणुरूप हैं। ये आहार रस में विलीन होकर ग्रहणी की कला के माध्यम से देह के भीतर चले जाते हैं। आग्नेय प्रकृति के ‘खाद्योज’ भी सूक्ष्म होते हैं, ये भी आहाररस के साथ भीतर उपशोषित हो जाते हैं। आग्नेय प्रकृति के धातु—धात्वीय लवण—और खनिज भी विलेय बन चुकते हैं और आहाररस में लोन होकर उपशोषित होते हैं। स्मरण रहे कि आहारगत इन आग्नेय अंशों से हमारे देह के ‘आग्नेय भावों’ की पुष्टि होती है, और ये भीतर पहुँचकर तथा “अग्नि” रूप लेकर, नाना प्रकार के अग्निकर्म सम्पन्न करने में काम आते हैं।^{१०}

शर्करामय रूपों का, ग्रहणीक्षेत्र के अग्नियुंज द्वारा पूर्ण पचन हो जाता है, और वे यहाँ उपशोषित होते हैं।

पार्थिव अन्न का अन्यतम भाग ‘सेल्युलोज’ अपाच्य है। यहाँ तक आकर यह कोष्ठ की अग्नियों के प्रभाव से मृदु पड़ चुकता है। इसके अधिक पचन या रूपपरिवर्तन की आवश्यकता नहीं होती। यह अन्नकिटू के साथ साथ पच्यमानाशय से आगे बढ़ जाता है, क्योंकि यह अन्नमल की पुष्टि के प्रयोजन के आहार में रहता है।

अन्न के आप्य अंश में से ‘स्नेहद्रव्य’ पहिले ही पचकर उपशोषित हो चुकते हैं। अवशिष्ट अंश यहाँ के ‘अन्त्रीय लायपेज’ नामक ‘स्नेहपाचकाग्नि’ द्वारा पचाये जाकर मधुरोल (गिलसरोल) तथा स्नेहाम्लों (फैटी एसिड्स) में परिणत कर दिये जाते हैं और इन्हीं रूपों में उपशोषित हो जाते हैं।

५६. देह धातुओं में पहुँचकर नाना प्रकार के अग्निकर्म करने वाले इन पाचन दीपन सूक्ष्म द्रव्यों को, आघुनिक क्रिया-शारीर में, ‘एन्जाइम्स’ नाम दिया गया है।

५७. उदाहरणार्थ—पाचनांश ‘इरेप्सिन’ उपशोषित होकर अन्नरस के साथ भीतर रक्त धातु में पहुँचता है, रक्त से यह बृक्ष आदि अवयवों में जाकर पार्थिवांश प्रोटीन के ‘धात्वग्निपाक’ में सहायता करता है।

अन्य पाचनांश ‘लायपेज’ अन्नरस के साथ रक्त में, और वहाँ से गम्भीर धातु मेदस् और मज्जा तक पहुँचकर स्नेहों का धात्वग्निपाक सम्पन्न करता है।

आग्नेय प्रकृति का खाद्योज ‘ए’—उपशोषित होकर रस रक्त के साथ

आहाररस का अन्य महत्वपूर्ण भाग उसका 'वायवीय अंश' है। वायु शब्द साथ लगे होने से इस अंश को केवल हानिकारक समझ लेना उचित प्रतीत नहीं होता। वायवीय आहार-रसांश से हमारे देह के वायवीय भावों की—स्पर्शनेन्द्रिय, वातवहा नाडीचक्र, प्राण—तथा गति, संवेदन, चेष्टा और प्रेरणादायक अंशों की पुष्टि होती है। इसी से देहगत प्राकृत वात का जर्म होता है तथा धातु-मल-गत 'प्रेरक द्रव्य' उत्पन्न होते हैं। वायवीय अंश, देह के भीतर पहुँचकर, शोत लघु रूक्ष चल विशद खर गुणयुक्त द्रव्यों के रूप में रहता है और सूक्ष्म होता है। यह प्राणवायु, शीतोदक, शाक, पत्र, पुष्प, फल कन्द, मूल, मेवा, अनाज, द्विदल, दुध, अण्ड, आमिष आदि के माध्यम से देह में पहुँचता है। संघातभेद के उपरान्त ये 'वायवीय अंश' अन्न से पृथक् हो जाते हैं। अनेकानेक खाद्योज-एन्जाइम्स—खनिज पदार्थ—वातवीय समास और गैसें इस वर्ग में भी आते हैं। आग्नेय अंश के समान वायवीय द्रव्यों के भी महाल्लोत्सु में पचन की प्रायः आवश्यकता नहीं पड़ती। सूक्ष्म और घुलनशील होने से ये वायवीय अंश या चल प्रकृति के सूक्ष्मद्रव्य आहाररस के साथ-साथ उपशोषित हो जाते हैं।^{१८}

अवस्थापाक एवं निष्ठापाक या विपाक

गत प्रकरण में पाचकाग्नि की जितनी क्रियाओं का उल्लेख हुआ है, उनमें पचन-क्रिया या पाक प्रमुख है। आहार के सामान्य पचन का (स्थूलपाक का) वर्णन वहाँ किया जा चुका है, इस स्थल पर कठिपय विशिष्ट पाकों का (अणुपाक का) विचार किया जा रहा है।

पांचभौतिक आहार के पार्यव आप्य आदि अंशों पर पाचकाग्नि की जो क्रियाएँ प्रदर्शित की गई हैं उनसे स्पष्ट है, कि सम्पूर्ण आहार एक समय में—एक प्रकार से—तथा एक साथ नहीं पचता, भिन्न-भिन्न समयों में विभिन्न

साथ नेत्रों तक जाता है। वहाँ यह आलोचन या रूपदर्शन के सम्पन्न कराने में आलोचकाग्नि का रूप ग्रहण करता है।

इसी प्रकार आग्नेय प्रकृति का खाद्योज 'बी १२'—उपशोषित होकर, रस रक्त द्वारा यकृत, हृदय और अस्थि-मज्जा तक जा पहुँचता है। यह 'रक्ताग्नि' रूप में रक्तनिर्माण के अनिकर्म का प्रवर्तक है। ५८. आहारगत आग्नेय और वायवीय अंशों का विशेष विचार 'भूताग्नि' के प्रकरण में हुआ है।

प्रकार से तथा पृथक्-पृथक् रूप में क्रमशः उसका पचन होता है। पच्यमान आहार-पचन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में से होता हुआ अन्तिम रूप में—सार-असार भागों में—परिणत होता है। सार भाग से दोपों एवं धातुओं की तथा असार भाग से मलों की—पुरीप मूत्र वायु की—पुष्टि हुआ करती है।

अवस्था पाक—आयुर्वेदीय क्रियाशारीर के दोप, धातु, मलों में दोपों का स्थान सर्वोपरि है। पाचकाग्नि से आहार जिस समय पचना आरम्भ होता है, उस समय से लेकर पचनान्त की क्रियायें सम्पन्न होने तक पच्यमान आहार की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का कफ आदि दोपों पर जो प्रभाव होता है, उस ओर आयुर्वेदज्ञों की विशेष वृष्टि रही है। इस वृष्टि से उन्होंने पच्यमान आहार की तीन अवस्थायें निर्धारित कीं, जिन्हें 'अवस्थापाक' नाम दिया गया है।

आहार का आयुर्वेद में पांचभौतिक वृष्टि से तो विचार हुआ ही है, परन्तु दोपों पर भौतिक आहार-द्रव्यों के मधुर-अम्ल आदि रसों का साक्षात् प्रभाव होने से भोजन में पद्धरस का विशेष महत्व है। इस स्थिति का ध्यान-पूर्वक अवलोकन किया जाता रहा कि पच्यमान आहार की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में रूपान्तरित होते हुए द्रव्य के भीतर कौन-कौन से रस उत्पन्न हो जाते हैं तथा उनका बात, पित्त, श्लेष्मा पर क्या-क्या प्रभाव पड़ता है।

उपर्युक्त वृष्टि से विचार करने पर जात हुआ कि सम्पूर्ण आहार पर पचन-कर्म आरम्भ होने के पूर्व उसकी 'भूमिका' तैयार होती है। यह प्रथम अवस्था है, जब मुख आदि की ऊष्मा से एवं वोधक क्लेदक आदि श्लेष्मरसों के संयोग-सम्मिश्रण से पचनोन्मुख अतएव किंचित् रूपान्तर को प्राप्त, किन्तु अविदर्घ (अपक्व) द्रव्य में मधुर रस का प्रादुर्भाव होता है, यह मधुर अवस्थापाक है।^{११}

मधुर अवस्थापाक तब विशेष होता है, जब भूक्त आहार में मधुर, अम्ल, लवण रसों से युक्त पदार्थ प्रचुर मात्रा में हों।

५९. सामान्यतः दैनिक आहार में—गेहूं, आलू, चावल, चीनी आदि पदार्थ अधिक रहते हैं। इनके पैष्ठिक (पिष्टसारबहुल) अंश का प्रथम अवस्थापाक में भी किंचित् पचन आरम्भ हो सकता है; रोटी, आलू, चावल आदि को मुख में देर तक चबाया जाय तो उनमें वहुधा माधुर्य का इस कारण अनुभव हुआ करता है, क्योंकि उनका पिष्टसारीय अंश किंचित् पचता हुआ 'शर्करा' में परिणत हो रहा होता है। 'मधुर अवस्थापाक' मुख से ऊर्ध्व आमाशय तक के क्षेत्र में सम्भावित है।

उक्त मधुर अवस्थापाक में आहार अविदग्ध या अपक्व होते हुए भी इलेष्ममिथित एवं परिक्लिन्न रहता है,^{१०} आमाशय में वातकृत भीतिक गतियों के कारण इसका मन्यन होने से इसमें फेनिल इलेष्मा (इलेष्म धातु के उपादान भूत द्रव्य) का प्रादुर्भाव हो जाता है, अतः मधुर अवस्थापाक का अपक्व आहार भी—स्वभावतः—देह के इलेष्मा का संवर्धन करता है,।^{११} आहार में यदि कटु, तिक्त, कषाय, रसयुक्त द्रव्य अधिक रहे हों तो इनका यह प्रथम अवस्थापाक, रसवोधक एवं क्लेदक इलेष्माओं के तथा जल दुग्ध आदि के मिश्रणवश स्वभावतः मधुर होने पर भी, इसमें फेनिल इलेष्मा का प्रादुर्भाव कम मात्रा में होता है।^{१२}

प्रथम अवस्थापाक के उपरान्त पाचकाग्नि की क्रियायें जारी हो जाती हैं, जिससे आहार में अम्लीय पाचक रस का मिश्रण होता है, सम्पूर्ण आहार-द्रव्य अम्लीभूत हो जाता है। अब आहार पच्यमान (पचती हुई) स्थिति में होता है, इसका कुछ अंश पक्व तथा कुछ अपक्व रहता है, इस पक्वापक्व के मिश्रण को 'विदग्ध' कहते हैं। विदग्ध एवं पच्यमान आहार अम्ल-रसप्रधान हो जाता है। यह द्वितीय पाक है, जो 'अम्ल अवस्थापाक' कहाता है।^{१३} इस पाक के समय अम्लीभूत-विदग्ध आहार जब अपने आशय से आगे बढ़ने को (च्यवमान) होता है, उस समय इसमें से स्वभावतः पित्त (के उपादानभूत द्रव्य) का प्रादुर्भाव होता है।^{१४}

६०. अन्नस्यमुक्तमात्रस्य षड्रसस्य स्वभावतः ।

मधुराद्यात् कफो भावात् फेनभूत उदीर्यते ॥ (च० च० अ० १५-९)

६१. 'अविदग्धः कफम्' (सु० सू० अ० ४६-५२७) ।

६२. अयं तु विशेषः यत् मधुराद्यस्य अवस्थापाकस्य मधुरादयः इलेष्मजनका रसा अनुगुणा भवन्ति तदा स बहुश्लेष्माणं जनयति । यदा तु अवस्थापाको विपरीत-कटुकादि-परिगृहीतो भवति तदा स्तोकमात्रं कफं जनयति...।

चक्रपाणि

६३. अम्ल अवस्थापाक आमाशय के निम्न अर्धभाग में सम्भावित है।

६४. परंतु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः ।

आशयाच् च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदोर्यते ॥

(च० च० अ० १५-१०)

×

×

×

'पित्तं विदग्धः' । (सु० सू० अ० ४६-५२७)

अम्ल अवस्थापाक तब विशेष हुआ करता है, जब आहार में अम्ल रस (युक्त खाद्य पदार्थ—चटनी, अचार, खट्टा दही, कांजी, अमचूर आदि) प्रचुर मात्रा में हों। आहार में यदि मधुर, तिक्त, क्षयाय रस युक्त द्रव्य अधिक रहे हों तो यह द्वितीय अवस्थापाक, अम्ल एवं विदग्ध होने पर भी, इसमें पित्त का प्रादुर्भाव अल्प मात्रा में होता है।

उपर्युक्त अम्ल अवस्थापाक में पच्यमान एवं विदग्ध आहार जब भली प्रकार अम्लीभूत हो जाता है, तब यह अपने आशय (निम्न आमाशय) से आगे—अग्रिम पचन के निमित्त—ग्रहणी अवयव एवं पच्यमानाशय (क्षुद्रान्त्र विवर) की पित्तधराकला के सम्पर्क में क्रमशः आता रहता है तथा पक्व होता जाता है। अब इसकी अम्लता क्रमशः घटती जाती है, तथा पूर्ण पक्व होने तक समाप्त हो जाती है। पच्यमानाशय के अन्त तक पहुँचा हुआ आहार परिपक्व हो चुकता है, यह सार-असार दो भागों में विभक्त होता है, सार भाग अग्नि एवं वात की सहायता से देह के भीतर उपशोषित हो जाता है, शेष असार अर्थात् निर्गतसार ‘आहार किटू’ अवशिष्ट रहता है।

आहारकिटू अग्नि द्वारा अग्रिम पचन के लिये पक्वाशय में पहुँचता है।^{१४} यहाँ इसके क्लेद का अधिक उपशोषण होता है, जिससे यह पिण्डीभूत होने लगता है।^{१५} आहारकिटू निर्गतसार है, यह वह भाग है जो प्रायः पक्व तो होता है, पर इसमें से स्नेह माधुर्य आदि सारभूत वंश (आहारीय सार भाग के अन्तर्गत होकर देह के भीतर चले जाने से) पृथक्क्ष्वान्त्र हो चुकते हैं। इसके क्लेद का अधिकांश उपशोषित हो जाता है, अब यह रूक्ष एवं कटुरसप्रधान^{१६} होता है, अतः इससे

६५. पक्वाशय—क्रिया शारीर के अनुसार—महाक्षोत्स का वह भाग (स्थूलान्त्र का प्रायमिक दो तिहाई भाग) है, जहाँ पक्वआहार का अवशेष-आहार किटू—पहुँचता है। यहाँ इसके पचन से वायु-मूत्र-पुरीष रूप भलों का संवर्धन होता है।

६६. पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वहिना।

परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः॥

(च० च० अ० १५-११)

६७. आहारकिटू की कटुता का सम्भावित कारण यह है कि पच्यमान अम्लीभूत आहार में ज्यों-ज्यों पित्तधराकला के क्षारीय पाचक रसों का मिश्रण होता जाता है, त्यों-त्यों उसकी अम्लता नष्ट होती रहती है, अन्त में यह क्षारप्रधान या कटुरस-बहुल हो चुकता है।

बात^{६८} का संवर्धन होता है।^{६९} यह तृतीयपाक है जिसे 'कटु अवस्थापाक' कहा गया है।

आहार में यदि मधुर, अम्ल, लवण रसयुक्त तथा स्त्रिग्ध-पिच्छिल-द्रवगुणयुक्त पदार्थ अधिक रहे हों तो कटु अवस्थापाक होने पर भी इसमें बात की विशेष उत्पत्ति नहीं होती।

पाचकाग्नि द्वारा उपर्युक्त प्रकार से षड्रसयुक्त आहार के ये तीन अवस्थापाक सम्पन्न हुआ करते हैं।^{७०}

निष्ठापाक या विपाक—अवस्थापाकों में जब क्रमशः मधुर, अम्ल, कटु रस उत्पन्न हो चुकते हैं; अर्थात् मधुरपाक, अम्लपाक, कटुपाक के समय नवीन द्रव्योत्पत्ति के साथ-साथ उनमें मधुर, अम्ल, कटु रसों का प्रादुर्भाव हो लेता है तथा रस, मल आदि का विवेचन होकर पकव आहार के सार भाग का उपशोषण हो रहा होता है, तब अन्त में भी 'आहार सार' पर पाचकाग्नि की क्रियायें होती हैं। इन क्रियाओं से उसका स्वभावतः और अधिक परिणमन (रूपपरिवर्तन) होता है; अर्थात् वह नवीन द्रव्य के रूप में परिवर्तित होता है। सारभाग में इस रूपपरिवर्तन के साथ-साथ इसके भीतर 'रस' भी नवीन ही उत्पन्न हो जाता है। आहार रस एवं जाठराग्नि के संयोग से उत्पन्न उक्त नवीन रस या 'रसान्तर' 'विपाक' कहाता है।^{७१}

मधुर आदि रसों का विशेष महत्त्व होने से आयुर्वेद में द्रव्यपाक^{७२} को रसपाक कहा है, अन्यथा अग्नि से पचन तो द्रव्य का ही होता है, रस का पचन

६८. पच्यमान आहार का 'अम्लरस' अन्त्रगत वैकारिक अवैकारिक क्रिमियों का घातक या, उस अम्लरस के न रहने से अब आहार किटू में अवशिष्ट पार्थिव (अपक्वरूप प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, सेल्युलोज) एवं अवशिष्ट आप्य (अपक्व स्नेह आदि के) भागों पर अग्नि के साथ-साथ अणुक्रिमियों की भी रासायनिक क्रियायें होने लगती हैं, उनके परिणामरूप में वायु द्रव्यों की (गंसों की तथा चल प्रकृति के कतिपय खाद्योजों की) उत्पत्ति होती है। इनसे बात का संवर्धन होता है।

६९. '.....पचनं पुनः।'

सम्यग् विपक्वोनिःसार आहारः परिवृहयेत्॥ (सु० स० अ० ४६-५२७)

७०. एवं ईदृशः षड्रसाहारस्य अवस्थापाको भवति। (चक्रपाणि)

७१. जाठरेणाग्निना योगाद् यदुदेति रसान्तरम्।

रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः॥ (अ० ह० स० अ० ९-२०)

७२. रसानां इति रसवतां द्रव्याणाम्। (हेमाद्रि)

नहीं होता ।^{१०} द्रव्य-पचन होने पर जो द्रव्य का रूपान्तर होता है, उसमें नवीन रस का प्रादुर्भाव हो जाया करता है ।

उपर्युक्त विपाकजन्य नवीन द्रव्य तथा नवीन रस, पाचकाग्नि की आहार पर अन्तिम क्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है, पाकान्त में होने के कारण इसे 'निष्ठापाक' कहते हैं ।^{११}

पाचकाग्नि के इस अन्तिम पाक से परिवर्तित आहार सार में विशिष्ट ही रस उत्पन्न होता है, अतः इसे विशिष्ट पाक या 'विपाक' कहा है ।^{१२}

विपाक में उत्पन्न नवीन द्रव्य का यह विशिष्ट रस, सेवन किये गये, आहार के अपने मधुर अम्ल आदि रस के समान भी हो सकता है तथा अनेक बार उससे भिन्न भी होता है । उदाहरणार्थ—गोदुख मधुर है, इसका विपाक इसी के समान मधुर होता है । इसके विपरीत पिष्पली शुण्ठी कट्टु हैं, इनका विपाक मधुर होता है ।

विपाक विषयक सामान्य नियम यह है कि मधुर एवं लवण रस से युक्त द्रव्यों के विपाक में द्रव्यान्तर उत्पन्न होकर उसमें मधुर रस का आविभाव होता है । अम्ल द्रव्य के विपाक में अम्ल रस उत्पन्न होता है । कट्टु, तिक्त, कषाय रसयुक्त द्रव्यों का विपाक प्रायः कट्टु हुआ करता है ।^{१३}

इस प्रकार विपाक में तीन रस उत्पन्न हो सकते हैं । गुणों की टृष्णि से इनमें मधुर विपाक 'गुरु' है, अम्ल एवं कट्टु विपाक 'लघु' हैं ।^{१४}

यह अनुभव किया गया है कि मधुरविपाकी द्रव्यों का सेवन करने के उपरान्त-पचन हो चुकने पर—उनके विपाक के परिणामस्वरूप मल-मूत्रादि का

७३. 'यतोन रसाः पच्यन्ते किन्तु द्रव्यमेव । (च० सू० अ० २६-५८ पर चक्रपाणि)

७४. रसानां परिणामान्ते जरणनिष्ठा काले । (अरुणदत्त)

७५. कायाग्निपाकजो विशिष्टो रसो विपाकः ।

(अ० ह० सू० अ० १-१४ पर अरुणदत्त)

७६. कटुतिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कट्टः ।

अस्लोऽस्लं पच्यते स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा ॥ (च० सू० अ० २६-५८)

७७. तेषांगुहःस्यान्मधुरः कटुकास्लावतोऽन्या । (च० सू० अ० २६-६२)

X X X

'अतोऽन्यया' इति लघुः । (चक्रपाणि)

विसर्जन सम्यक् प्रकार से होता है, ऐसे द्रव्यों से रस-श्लेष्मा-शुक्र आदि देह-धारक शरीर-वस्तुओं का संवर्धन होता है। अम्लविपाकी द्रव्यों के सेवन से मल-मूत्रादि का विसर्जन तो होता है, किन्तु ये पित्तकारक एवं शुक्रनाशक हैं। कटुविपाकी द्रव्यों के सेवन से मल-मूत्रादि का अवरोध होने लगता है। इनका ठीक-ठीक विसर्जन नहीं होता, ये वातवृद्धिकारक एवं शुक्रनाशक होते हैं।^{१८}

उक्त विपाकजनित मधुर अम्ल आदि रस (से युक्त सार द्रव्य) जब देह के भीतर पहुँचता है तथा उसकी क्रिया हो चुकने पर जब उससे कफ, पित्त, वात की अथवा रस-रक्त-शुक्र आदि की, दोषों एवं धातुओं की, वृद्धि या न्यूनता अनुभव की जाती है; तब उससे यह निश्चय किया जाता है कि अमुक द्रव्य का मधुर अम्ल या कटु विपाक हुआ है।^{१९}

'विपाक' रस, गुण, वीर्य की परम्परा में परिणित है। ये सब 'द्रव्य' से संबंध रखते हैं, अतः विपाक के भेद कर्म आदि का अधिक विस्तार 'द्रव्यगुण विज्ञान' के ग्रन्थों में देखना चाहिये।

पाचकाग्नि की विशेषतायें

पाचकाग्नि की पूर्वोक्त क्रियाओं द्वारा पार्थिव आप्य आदि पांचभौतिक अन्न भागों का परिणमन या रूपपरिवर्तन होता है। इन क्रियाओं में द्रव्यपाचन अर्थात् पाच्य द्रव्यों का रासायनिक रूपपरिवर्तन तो होता ही है, परन्तु अग्नि द्वारा अग्नि का 'दीपन कर्म' भी वीच-वीच में सम्पन्न होता है।

वैसे तो कई प्रकार से अग्नि का दीपन या उत्तेजन हुआ करता है, परन्तु

७८. मधुरः सृष्टविष्मूत्रो विपाकः कफशुक्रलः।

पित्तकृत् सृष्टविष्मूत्रः पाकोऽम्लः शुक्रनाशनः।

शुक्रहा वद्धविष्मूत्रो विपाको वातलः कटुः। (च० सू० अ० २६)

७९. '.....विपाकः कर्मनिष्ठया। (च० सू० अ० २६-६६)

X

X

X

'कर्मनिष्ठया' इति कर्मणो निष्ठा निष्पत्तिः कर्मनिष्ठा क्रिया परिसमाप्तिः रसोपयोगे सति यः अन्त्य-आहार-परिणामकृतः कर्मविशेषः कफशुक्र-जभिवृद्धि आदि लक्षणः तेन विपाको निश्चीयते। (चक्रपाणि)

'पाचकाग्नि के कुछ अंश' भी, दूसरे अंशों को परिस्तुत कराकर, इस दीपन कर्म को सम्पन्न करते हैं।^{१०} इसे 'अग्नि द्वारा अग्नि का संधुक्षण' कहा जाता है।^{११}

८०. 'अग्निदीपन'—अर्थात् पाचक स्नावों का अन्य आग्नेय द्रव्यों द्वारा आविर्भाव कराना—यह कार्य महालोतस् में निम्न प्रकार लक्षित होता है :

- (क) गैंस्ट्रीन नामक दीपन द्रव्य, आमाशयाग्नि का उद्दीपन करता है।
- (ख) डॉक्सट्रीन नामक द्रव्य, मुख से आमाशय में पहुँचकर, आमाशयाग्नि का उद्दीपक होता है।

(ग) लवणाम्ल (हाइड्रोक्लोरिक एसिड), यह तरल अम्लद्रव्य—आमाशयस्थित पच्यमान आहार में मिश्रित होकर—ग्रहणी में पहुँचता और ग्रहणी को उद्दीप्त करके उससे पाचनांशों का स्नाव कराता है। चरक ने आहारगत इस अम्लभाव से जिस 'अच्छपित्त' के उदोरण होनेकी चर्चा की है, वह इसी अम्ल की उद्दीपन किया का परिणाम है।

(घ) याकृत स्नाव—यह पाचकाग्नि का एक प्रमुख दीपन पाचन अंश है। पचन सम्बन्धी क्रियायें करने के अतिरिक्त यह पच्यमान आहार के साथ मिलकर, अग्न्याशय के स्रोत का उद्दीपन करता है, जिससे पच्यमानाशय में आग्नेयांश परिस्तुत होते हैं।

(ङ) सिक्कीटीन—यह क्षार प्रकृति का विशुद्ध दीपनाग्नि है, जो ग्रहणी में उत्पन्न होकर और वहीं उपशोषित होकर रस रक्त में मिलता है तथा वात की प्रेरणा से अनुधावन करता हुआ अग्न्याशय तक जा पहुँचता है। उसे यह उद्दीप्त करता है, परिणामतः 'भार-धर्मा पाचकाग्नि स्नाव' उत्पन्न होता है।

(च) पैन्कियोजाइमीन—यह ग्रहणी की पित्तधराकला से उत्पन्न दीपनांश है। यह भी अग्न्याशय को दोप्त करता है, जिसके परिणामस्वरूप पाचनधर्मा और विशेष प्रबल अग्निद्रव्यों का स्नाव करने लगता है।

(छ) कोलीसिस्टोकाइनीन—यह ग्रहणी में खाद्य द्रव्यों पर अग्नि की क्रिया से उद्भूत 'दीपनाग्नि' है। यह स्थानीय अग्नि वायु के प्रभाव से उपशोषित होकर रस रक्त में मिलता है। फिर व्यान द्वारा प्रेरित होकर अनुधावन करता हुआ पित्ताशय तक जा पहुँचता है। उसके पैत्तिक स्नाव को ग्रहणी में परिस्तुत होने के लिए, यह उसे उद्दीप्त या उत्तेजित करता है।

८१. 'विविधं अशितपोतं—अन्तरग्निसंधुक्षितवलेन ऊष्मणा सम्यग् विपच्यमानं,
(च० सू० अ० २८)

यह स्मरणीय है कि पित्त का प्रमुख भेद होने से पाचकपित्त या पाच-काग्नि पंगु है। यह स्वयं सक्रिय नहीं। परन्तु यह 'आग्नेय' अवश्य है, अतः उद्दीपन या 'संस्पर्श' द्वारा उत्तेजन' का कार्य तो कर सकता है। दूसरे को प्रेरणा देना—या दूसरे से कार्य कराना—यह विशेषता 'वात' में ही है। अग्नि के दीपनांशों द्वारा होने वाले जिस दीपन कर्म का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है, उसके मूल में वस्तुतः 'वात' प्रतिष्ठित है। जो दीपन द्रव्य या दीपनांश ग्रहणी-क्षेत्र में इत्स्ततः गति कर रहे होते हैं वे 'समान' वात द्वारा प्रेरित होते हैं;^{१३} जो ग्रहणी की पित्तधराकला द्वारा उपशोषित होकर रस रक्त में अनुधावन करते हैं, उन्हें 'व्यान' की प्रेरणा प्राप्त होती है। विभिन्न अग्निस्रोतों से सम्बद्ध 'प्राणदा' नाड़ी के सूत्रों में 'प्राण' वात का संचार रहता है। इस प्रकार अग्नि के प्रदीपन में प्राण, समान, व्यान, अर्थात् 'वात' ही मूल रूप से प्रतिष्ठित है। इसे आयुर्वेदीय किया शारीर में 'औदर्यवात' द्वारा अग्नि का ध्यापन या अवधूनन कर्म कहा गया है। अस्तु

पाचकाग्नि की अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता उसका 'उपशोषण' कर्म है। बाह्य लौकिक अग्नि का अपनी ऊष्मा द्वारा द्रवांश को सुखाना प्रत्यक्षसिद्ध है। देहस्थ अग्नि भी अपनी ऊष्मा से द्रव का शोषण करती है। इस शोषण के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं।

पाचकाग्नि के जिस क्षेत्र में भोज्य पदार्थ पहुँचते हैं और पचना आरम्भ करते हैं, वह आमाशय से क्षुद्रान्त्र तक का, २०-२२ फुट लम्बा, भाग है। इस अन्तीय गुहामार्ग के भीतरी स्तर पर कला आवृत होती है, जिसमें नानागुणधर्मा और विविध कर्म-कारक अनेक प्रकार के असंख्य देहघट विछेहोते हैं। इसी कला में स्थान-स्थान पर हस्तिशुणिङ्काओं के सदृश सूक्ष्म अंकुरिकायें पास-पास उभरी होती हैं।^{१४} समान वात इन्हें यथासमय सक्रिय बनाता है और ये आहार में से रस का आचूपण करने लगती हैं। इस क्षेत्र में आग्नेयांश रूप में 'ऊष्मा' व्याप्त होती है और आग्नेय द्रव्य-रूप विविध पाचकरस भी अपने-अपने पचन-कर्म में व्यापृत होते हैं। उक्त ऊष्मा द्वारा उद्दीप्त और वात द्वारा प्रेरित होकर,

८२. '.....अग्नि उत्तेजनमपि समानाख्यस्य वायोः वोद्वव्यम्।

उक्तं हि—'समानेनावधूतोऽग्निः, उदर्यः पवनेन तु।'

--(च० च० अ० १५ की टीका में चक्रपाणि)

८३. ये अंकुरिकाये अन्त्र के दस वर्ग मीटर में पचास लाख के लगभग पाई गई हैं।

अन्त्रकला में स्थित ये देहघट, पचते हुए अन्नरस में से थोड़े-थोड़े द्रवांश का आचूपण करना आरम्भ कर देते हैं। जलीय अंश, विलयनयोग्य धात्वीय योगिक, खनिज द्रव्य, खाद्योज, पाचनांश और मद्य प्रभृति को—अर्थात् आप्य, आग्नेय, वायव्य अंशों को ये घट ग्रहण कर लेते हैं। परन्तु अधिकांश पार्थिव और कुछ आप्य अंश^{८४} को, अन्त्रस्थित अंकुरिकायें ही आचूपित किया करती हैं। यही वह 'उपशोषण' कर्म है, जिसे पाचकाग्नि, समान वात के सहयोग से सम्पन्न करती है।

पाचकाग्नि की अन्य विशेषता इसका 'विवेक' या 'विवेचन कर्म' है। पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि हमारे द्वारा सेवन किया गया सारे का सारा आहार न तो पचकर रूपरिवर्तन कर लेता है, न ही उक्त प्रकार से सबका सब उपशोषित ही हो पाता है। देहाग्नि या पाचकाग्नि, पुष्कल आहार द्रव्यों के पच्यमान भाग में से, परिपक्व एवं परिमित कुछ उपयोगी अंश का ही ग्रहण करती है और अपने सामर्थ्य के अनुसार न्यूनाधिक भाग को ले पाती है। अवशिष्ट अनुपयोगी भाग को वह प्रायः ग्रहण नहीं करती। दूसरे शब्दों में कहें तो पाचकाग्नि पच्यमान आहार के सार-असार भागों को पृथक्-पृथक् कर लेती है और उसमें से साररूप —'रस भाग' का उपशोषण करके असाररूप 'किटू भाग' का त्याग कर देती है। उक्त उपशोषित रसभाग में वह अंश तो है ही, जो देह के धातु-उपधातुओं का पोषक है, परन्तु वह अंश भी रहता है जो देहधारक है, इस धारक अंश को ही दोषांश कहा जाता है।

इस प्रकार पचन और उपशोषण कर्म के साथ-साथ पाचकाग्नि, दोष-रस-मल विभजनकर्म^{८५} या विवेचन कर्म भी करती रहती है।

पाचकाग्नि की अन्य महत्वपूर्ण 'विशेषता' यह है कि अपने स्थान में रहती हुई, दूसरे-दूसरे देहभागों में कार्य करने वाली अन्य अग्नियों को यह उनके योग्य, उपयुक्त एवं अभीष्ट अंश, प्रदान करती है और इस प्रकार उनके कार्य-सामर्थ्य को बनाये रखती है। अभिप्राय यह हुआ कि पाचकाग्नि या कायाग्नि

८४. अर्थात् एमाइनो एसिड्स व द्राक्षाशर्करा और फैटोएसिड्स व ग्लिसरोल आदि को।

८५. '....तत् च पित्तं चतुर्विधं अन्नपानं पचति विवेचयति च दोष-रस-मूत्र-पुरीषाणि (सु० स० अ० २१)

अपने मुख्य केन्द्र में सदा बनी रहती है, वहाँ से इसके कुछ अंश इतर अग्नियों को, भूताग्नि, धात्वाग्नि आदि को पहुँचते रहते हैं।^{१५}

पाचकाग्नि का स्वस्थान या अपना स्थान जैसा कि हम पहिले विचार कर चुके हैं—ग्रहणी या पच्यमानाशय (आमाशय पक्वाशय का मध्यवर्ती क्षेत्र) है। इस क्षेत्र में पाचकाग्नि के अंश अर्थात् नाना रूपधारी सूक्ष्म द्रव्य,^{१६} जो कि दीपन, पाचन, विघटन, दहन आदि अग्निकर्मकारक हैं, इतस्ततः अपनी-अपनी क्रियायें कर रहे होते हैं, क्योंकि संघातभेद के उपरान्त पार्थिव आप्य आदि अन्नभागों को पृथक्-पृथक् ही पचाना होता है। इनमें से कतिपय आग्नेयांश व्यान वात द्वारा धातुओं में पहुँचा दिये जाते हैं। वहाँ ये 'धात्वग्नि' कहाते हैं, और धातुपचन कर्म या धात्वग्निपाक में सहायता करते हैं।^{१७}

८६. 'स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेः अंशा धातुषु संश्रिता:' ।

(अ० ह० स० अ० ११-३४ को टीका में अरुणदत्त)

८७. 'अंशाः भुद्राणि रूपान्तराणि' । (हेमाद्रि)

८८. आधुनिक गवेषणाओं से सिद्ध होता है कि पाचकाग्नि के कतिपय अंश वास्तव में ही धातुओं में उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थः

(क) 'एमायलेज'—यह अग्नि, महाल्पोतस् में, पार्थिवांश 'पिण्टसार' को पचाकर 'धान्य शर्करा' में परिणत करता है। यही एमायलेज धातुओं में, रस रक्त में, उपलब्ध होता है। वहाँ यह 'धात्वग्नि' रूप है और 'एन्डोएन्जाइम' कहाता है। इस रूप में यह शर्करा का दहन करके 'धात्वग्निपाक' का कार्य करता है।

(ख) 'लायपेज'—यह अग्नि, आमाशय अग्न्याशय और ग्रहणी में, आप्य अंश (स्नेह द्रव्यों) का पचन करके, उसे स्नेहाम्ल और मधुरोल में परिवर्तित करता है। यही 'स्नेह पाचनांश' रक्त में तथा मेद और मज्जा में भी उपलब्ध होता है। वहाँ यह स्नेहों को विघटित करके उनका अन्तिम रूप से परिणमन करता है।

(ग) 'फाँस्फेटेज'—यह अग्निद्रव्य, महाल्पोतस् में (पच्यमानाशय की कला में) होता है, और खटिका (कैलिसियम) के पचन में सहायक है। यही अग्नि, अस्थि धातु में भी, उपलब्ध होता है। वहाँ यह खटिक से अस्थि के निर्माण का कार्य सम्पन्न करता है।

(घ) 'इरेप्सिन'—यह आग्नेयांश, ग्रहणीक्षेत्र में पित्तधराकला में से परिसृत होता है। यह महाल्पोतस् में पार्थिवांश प्रोटीन का पचन करके उसे 'एमीनो एसिड्स' में परिणत करता है। यही अग्नि रक्त धातु

पाचकाग्नि का अन्य महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट कर्म है—आहारगत मधुर अम्ल आदि विभिन्न रसों से युक्त पदार्थों को पृथक्-पृथक् आयत्त करके उन पर विविध रासायनिक क्रियायें करना और उनके पाक (मधुरपाक, अम्लपाक, कटुपाक) प्रस्तुत करना।

यतः देहधारक द्रव्यों का (वात-पित्त-श्लेष्मा का) संबंधन करने और उनमें समता बनाये रखने में मधुर अम्ल आदि छहों रस सहायक हैं, अतः आहार रूप में पड़रसयुक्त भोजन लेने का विधान है। इन रसों को हम पार्थिव आप्य आदि भौतिक द्रव्यों के साथ संमिश्रित रूप में ग्रहण करते हैं और भीठें, नम-कीन, खट्टे, चरपरे आदि सभी रसों को प्रायः एक दूसरे के साथ-साथ सेवन किया करते हैं।

मुख में चवाये जाने और आमाशय में विलोड़न किए जाने के उपरान्त ये सब रसद्रव्य परस्पर घुलमिल कर एकाकार हो जाते हैं। जब पचन किया आरम्भ होती है तब पाचकाग्नि अपने पृथक्-पृथक् अंशों को क्रमशः उद्भुद्ध या प्रकट करती है और भौतिक द्रव्यों का संघातभेद करने के साथ-साथ भिन्न-भिन्न रसों को भी पृथक्-पृथक् रूप में आयत्त करती हुई उन पर अलग-अलग ही क्रियायें करती जाती हैं।

आहारवर्ती अम्ल द्रव्यों के अम्लरस से, पाचकाग्नि अपना संबंधन करती है और आहार को अम्लभाव प्रदान करने में इसका उपयोग लेती है। अम्लरस अत्प हो तो यह आगे जाकर और पाचकरसवर्ती धार के साथ मिलकर 'मधुर' में परिणत होता है (उदासीन हो जाता है)। अधिक मात्रा में हो तो अन्नरस को भी अन्त तक अम्लीय बनाये रखता है। इस प्रकार यह अम्लपाकी है।

मधुररस प्रायः पार्थिव और आप्य द्रव्यों के साथ मिश्रित होकर (मिष्टान्न, शर्वंत, दूध आदि के रूप में) आमाशय के भीतर पहुंचता है। इस रस को (तथा मधुर रस में परिणत होने वाले पार्थिव द्रव्यों को) पृथक् से आयत्त करके अग्नि अपने भिन्न-भिन्न आनेय अंशों से^{८९} इसका पचन करती है और अन्त में जिस अन्नरस के रूप में इसे परिणत करती है वह भी मधुर^{९०} ही होता है।

- के क्षत्रकणों के भीतर 'धात्वग्नि' (एन्डोएन्जाइम) रूप में प्राप्त होता है। वहाँ यह उक्त पार्थिवांश के 'धात्वग्निपाक' में योग देता है।
 ८९. दायलीन, एमायलेज आदि अस्तियों द्वारा।
 ९०. ग्लुकोज के विलयन के कारण।

अभिप्राय यह है कि मधुर रस को पाचकाग्नि पृथक् रूप से आयत्त करती है और इस पर उसकी पृथक् प्रकार की ही क्रिया होती है।

लवणरस भी पार्थिव द्रव्यों के (दाल शाक आदि के) साथ मिश्रित होकर आमाशय में जाता है। इसके आश्रयभूत द्रव्यों को पाचकाग्नि अपने भिन्न-भिन्न अंशों से पचाती हुई, अन्त में उन्हें जिस अन्वरस के रूप में परिणत करती है वह माधुर्यप्रधान^{११} ही होता है। इस पाक प्रसंग में 'लवण' स्वयं निर्विकार बना रहता है, परन्तु उसके आश्रयभूत द्रव्य पचकर मधुर भाव में परिणत हो जाते हैं, इसी से लवण का पाक 'मधुर' कहा गया है। यहाँ उद्दंकनीय केवल यही है कि लवण को पाचकाग्नि मधुर और अम्ल के सदृश ही नहीं पचाती। लवण के प्रति उसका व्यवहार उदासीनवत् है। अतः लवण, अन्वरस में मिश्रित होकर देह के भीतर पहुँचता है। यह लेखन होने से कोष्ठवर्ती स्रोतोमुखों का शोधन करता है—अतएव पाचकाग्नि के अंशों को आविर्भूत कराने में सहायक है।

कटु रस प्रायः वायवीय और आग्नेय द्रव्यों के रूप में कोष्ठ के भीतर पहुँचता है। मात्रा में ये द्रव्य अत्यल्प होते हैं। कटुरस, आग्नेय द्रव्य के रूप में हो तो स्वभावतः अग्निगर्भी होता है। इसमें से अनेक आग्नेय अंश या पाचनांश और खाद्योज उपलब्ध भी किये जा सकते हैं।^{१२} वायवीय स्वभाव का हो तो इसका विश्लेषण किये जाने पर वातधर्मा खाद्योज तथा अन्यान्य वातवर्गीय सूक्ष्म द्रव्य उपलब्ध होते हैं। अस्तु

कटुरसयुक्त द्रव्यों का 'संघात भेद' के उपरान्त विघटन होता है और इनके पाचनधर्मा या पाक क्रियामूलक सूक्ष्मद्रव्य, पृथक् होकर, 'रस' में विलीन हो जाते हैं। मात्रा के अनुसार और प्रकृति के अनुरूप, ये द्रव्य, अपनी-अपनी क्रियायें करते हुए, अग्निवर्धक या वातवर्धक सिद्ध होते हैं।

कटुरस के समान ही तिक्त और कपाय रसयुक्त द्रव्यों पर भी पाचकाग्नि की पृथक्-पृथक् प्रकार की ही क्रियायें होती हैं।

कहने का अभिप्राय इतना ही है कि मधुर कटु आदि ६ रसों से युक्त द्रव्य

११. ग्लूकोज की प्रचुरता के कारण।

१२. उदाहरणार्थ—'चित्रक' में से इस प्रकार के पाचनांश (पूना के रिसर्च इंस्टीच्यूट में) अन्वेषकों द्वारा पृथक् भी किये गये हैं। प्राचीन आर्य वैद्यों ने चित्रक को आग्नेयांश की प्रचुरता के कारण 'अग्नि' नाम ही दे दिया है।

जब महास्रोतस् में पहुँचते हैं, तो इन सब पर पाचकाग्नि एक साथ, एक समान और एक ही काल में किया नहीं करती और इन क्रियाओं के परिणाम भी एक सहश नहीं होते। वल्कि, पाचकाग्नि के भिन्न-भिन्न आग्नेय अंश, पृथक्-पृथक् रस पर निराली क्रियायें करते हैं। ये क्रियायें अलग-अलग समयों में होती हैं और इनके भिन्न-भिन्न परिणाम प्राप्त होते हैं।

पाचकाग्नि द्वारा—उक्त प्रकार से प्रत्येक रसद्रव्य को पृथक्-पृथक् आयत्त करके—क्रिया करने को, आयुर्वेद में ‘अग्नि द्वारा रसों का आदान’ कहा गया है।^{१३} इस रसादानकर्म को अग्नि, अपने विविध और सूक्ष्म अंशों की सहायता से सम्पन्न करती है।

पाचकाग्नि की उपर्युक्त विशेषताओं के कारण आयुर्वेद में इसे देह के सर्वोच्च भावों में स्थान दिया गया है। केवल देहधारक तत्व (विशेषतः वात) और ओज को ही इसके सहश महत्व प्राप्त हुआ है।

अग्नियों में तो पाचकाग्नि का सर्वोच्च स्थान है। अपने-अपने क्षेत्रों में व्यवस्थित प्राण, समान, अपान (को वहन करने वाले देह भावों) का इस अग्नि को सहयोग रहे तो यह सर्वाधिक शक्तिशाली है। इसी से आयुर्वेद में इसे ‘ईश्वर’ शब्द से सम्बोधित किया गया है।

पाचकाग्नि यतः हमारे भीतर ही है, सदा साथ-साथ रहती है और प्रायः प्रतिक्षण क्रिया करती रहती है; इस कारण ऐसा प्रतीत होता है कि हम इससे सुपरिचित हैं और इसे सब प्रकार से जानते हैं। पर इतना निकट होते हुए भी, अपने भीतर के पाचकाग्नि को आयत्त कर लेना हमारे लिए सुगम नहीं है। कारण कि यह वहसंख्यक और भिन्न-भिन्न प्रकार के अंशों में बैठी हुई है। ये अंश सूक्ष्म होते हैं और विभिन्न समयों में प्रकट होते हैं, ये आवश्यकतानुसार न्यूनाधिक भी हो जाते हैं। यद्यपि इन सूक्ष्म आग्नेय अंशों की वैज्ञानिक लोग खोज करते रहे हैं और इनमें से बहुतों को उन्होंने उपलब्ध भी किया है; पर सबके सब आग्नेय अंश ज्ञात हो चुके हैं, ऐसा दावा आज भी नहीं किया जा सकता। भविष्य में न मालूम किस नवीन आग्नेय अंश का पता चले और वह प्रकाश में आवे, यानि भी आवे; कहना कठिन है। अभिप्राय यह कि अनेकानेक सूक्ष्म आग्नेयांशों में

१३. ‘जाठरो—अग्निः—अन्नस्य पाचकः।

... ... रसान् आददानः;॥

होने से, पाचकाग्नि की इयत्ता निश्चित करना और इसका सम्पूर्ण विवेचन करना अशक्य ही है ।^{१४}

पाचकाग्नि का संधुक्षण या प्रदीपन :

पाचकाग्नि के प्रदीपन का अर्थ है पाचकाग्नि का प्रवल होना; परिणाम-स्वरूप समय पर अच्छी भूख उत्पन्न होना तथा आहार का पच जाना ।

पाचकाग्नि, जैसा कि हम पहिले जान चुके हैं, बहुत से जीव-रसायन द्रव्यों, रसों और ऊष्मा का समवेत रूप है । ये सब मिलकर भूक्त पदार्थों के परिणमन में या रूपपरिवर्तन करने में योग देते हैं ।

इस सन्दर्भ में अग्निदीपन या अग्नि संधुक्षण का अभिप्राय भी कुछ-कुछ प्रकट होता है, अर्थात् उपर्युक्त जीवरसायन द्रव्यों या दीपन पाचन स्रावों का पर्याप्त मात्रा में उपयुक्त समयों पर और नियत अवधि तक परिस्तुत होना—‘अग्नि संधुक्षण’ है ।

अग्निसंधुक्षण का यह कार्य सामान्यतः ऊष्मा पर निर्भर करता है । स्वस्थ गनुण्य के देह में ऊष्मा या ताप की राशि अच्छी हो तो अग्नि भी प्रवल रहती है । हेमन्त आदि में यह ऊष्मा अन्तर्मुख होकर इन स्रावों की उद्दीपक होने से अग्नि को प्रदीप कर देती है ।^{१५}

परन्तु मुख्य रूप से अग्निसंधुक्षण का यह कार्य, समान वात का माना गया है । वात अर्थात् प्रेरक भाव । महास्रोतस् में पचनात्मक क्रिया-प्रतिक्रियायें नाना प्रकार की होती हैं । इनका कोई न कोई कारक या कराने वाला होना चाहिए । इस क्षेत्र के कार्यकारक या प्रेरक तत्व को आयुर्वेद में ‘समान वात’ संज्ञा दी गई है । समान वात का तथा इसके सहकारी क्रियाशील तत्वों का विवेचन करना ‘दोष विज्ञान’ का विषय है । परन्तु यहाँ इतना जानना आवश्यक है कि मात्र ऊष्मायुक्त दीपन पाचन स्रावों की विद्यमानता ही आहार

१४. ‘जाठरो भगवान् अग्निः, ईश्वरोऽन्नस्य पाचकः ।

सौक्ष्म्यात् रसान् आददानः, विवेकतुं नैव शक्यते ॥

प्राणापानसमानेस्तु सर्वतः पवनै स्त्रिभिः ।

ध्मायते पाल्यते चापि, स्वे स्वे स्थाने व्यवस्थितैः ॥

(सु० स० अ० ३५-३२, ३३)

१५. वाह्यैश्च सेकैः शीताद्यैः, ऊष्माऽन्तर्याति पीडितः ।

नरस्य स्नातमात्रस्य, दोष्यते तेन पाचकः ॥

(यो० २०)

को तब तक नहीं पचा सकती, जब तक कि वे अपने-अपने नियत समयों पर और उपयुक्त प्रमाण में न निकल रहे हों।

जैसा कि प्रथम कहा जा चुका है, पचन क्रियायें अनेक प्रकार की हैं, ये विभिन्न समयों पर आरम्भ होती हैं, नियत अवधि तक जारी रहती हैं और निश्चित समयों पर समाप्त होती हैं। इनके लिए अलग-अलग प्रकार के न्याय, भिन्न-भिन्न मात्राओं में, विभिन्न समयों पर, अपेक्षित होते हैं। इन्हें इनके अपने-अपने निर्धारित समयों पर परिस्तुत कराना—जारी रखना, रोक देना—ये सारी व्यवस्थायें और प्रेरणायें ठीक-ठीक चलती रहें, यह नितान्त आवश्यक है।

इन्हीं सम्पूर्ण प्रक्रियाओं के यथासमय सम्पन्न होने को—‘समान वात द्वारा अग्नि का संधुक्षण’—ऐसा नाम आयुर्वेद में दिया जाता है।^{१६} महासोत्स के इस ‘वात’ का यथावत् स्थिति में रहना अग्नि संधुक्षण के लिए परमावश्यक है।

अग्नि को प्रदीप्त या उद्बुद्ध रखने में अन्य आवश्यक वस्तु हमारे भोज्य पदार्थ हैं। नित्यप्रति जो आहारद्रव्य हम सेवन करते हैं, उनमें अनेक प्रकार के स्थूल सूक्ष्म अंश रहते हैं। वहुत से द्रव्य ऐसे होते हैं जो हमारे दोषों (वात पित्त इलेघ्मा) को, अथवा रक्त मांस अस्थि आदि धातुओं को, उनके पोषक अंश विशेष रूप से प्रदान करते हैं। कुछ द्रव्य मलों का अधिक निर्माण करते हैं। अन्य प्रकार के वे द्रव्य होते हैं जो हमारी अन्तरग्नि या पाचकार्मि में इंधन का काम देते हैं, और इसे प्रदीप रखने में सहायक होते हैं, इन्हें इस अग्नि का ‘इंधन’ कहा जा सकता है। इन इंधन द्रव्यों में ‘स्नेह’ अधिक महत्त्व रखते हैं। लौकिक अग्नि को जिस प्रकार तेल धृत आदि देकर प्रचण्ड किया जाता है, उसी प्रकार इस अन्तरग्नि को भी स्नेह प्रबल बनाते हैं। स्नेहों और स्निग्ध भोजन-द्रव्यों की, अग्नि को प्रदीप करने और प्रदीप रखने की हाजिर से, आयुर्वेद में बड़ी महिमा है।^{१७}

जिज्ञासा हो सकती है कि स्नेह ही पाचकार्मि के लिए विशेष उद्दीपक क्यों हैं? इस विषय में स्नेह-पचन-क्रिया की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। स्नेहों के पचते समय—हम देख चुके हैं—कि इनका विघटन होता है। परं विघटन के पूर्व ये, क्षारमिश्रित होकर फेनक या सावुन का रूप लेते हैं। यह सावुन,

१६. ‘समानेनावधूतोऽग्निः; उदर्थः पवनेन तु’। (च० चि० अ० ३-१५)

१७. ‘यथा हि सारदाविग्निः स्थिरः सन्तिष्ठते चिरम्।

स्नेहान्नविधिभिः तद्वत्, अन्तरग्निः भवेत् स्थिरः।’ (च० चि० अ० १५)

अग्नि-स्रोतों के मुखों का सहज ही शोधन और उद्घाटन करता है, साथ ही उन्हें उत्तेजित भी करता है। इन सबके परिणामरूप में उन स्रोतों से आग्नेय-अंश प्रचुर मात्रा में परिस्तुत होने लगते हैं।

स्नेहों के अतिरिक्त सुरायें और सुरांशयुक्त आसव-अरिष्ट-मिथ्रण, कटु-अम्ल-लवण-क्षाररसयुक्त पदार्थ, तक, चुक्त, सुगन्धि द्रव्य (त्वक्, लवंग, एला, केशर, तेजपत्र आदि), एवं तिक्त रसयुक्त चूणादि भी अग्नि की शक्तिवृद्धि करते हैं।^{१४} क्योंकि इन सबका सीधा सम्पर्क अग्नि-स्रोतों के लिए उत्तेजक है और ये अपने भीतर आग्नेय अंशों को रखने के कारण, उनसे, अग्नि का संवर्धन भी करते हैं।

सामान्यतः इस बात का ज्ञान होना, और ज्ञान होने पर भी नित्य इसका ध्यान रखना, कठिन होता है कि पाचकाग्नि को ठोक-ठीक प्रदीप्त अवस्था में कैसे रखा जाय, ताकि भ्रुत्त आहार पच जावे और क्षुधा लगती रहे। इस सम्बन्ध में, आहार-विहार-विषयक अनेक विधि-विधान हैं, जो 'स्वस्थ वृत्त' में विस्तार से दिये गये हैं।

संक्षेप में कहा जाय तो प्रत्येक व्यक्ति को यह जान रखना चाहिए कि मुझे कौन-कौन खाद्य पदार्थ अनुकूल पड़ते हैं, उन्हों का परिमित मात्रा में सेवन करता रहे, उनको भी पिछली आहार मात्रा पच चुकने के उपरान्त ही लेना चाहिए। इस बात का सदा ध्यान रहे कि हमारे खान-पान ऐसे न हों, जिनके कारण देहधारक मूल तत्वों में वात, पित्त, श्लेष्मा में न्यूनाधिकता या अव्यवस्था उत्पन्न होती हो। इस आचरण से मनुष्य नीरोग रहता है, और उसकी अग्नि का संवर्धन होता है।^{१५}

अधिकांश लोगों का ध्यान इस बात की ओर रहता है कि हम खूब मोटे-ताजे हो जावें या बने रहें, और इसके लिए वे वेहद पौष्टिक पदार्थों का—प्रचुर मात्रा में—वारम्बार सेवन किया करते हैं। परन्तु इसका परिणाम प्रतिकूल होता है। ऐसे व्यक्तियों को कुपच या अजीर्ण रहने लगता है और उनकी अग्नि शिथिल पड़कर क्रमशः क्षीण या मन्द हो जाती है। वास्तव में ध्यान तो इस बात का रहना चाहिये कि हमें (हमारी प्रकृति के) अनुकूल कौन-कौन से पदार्थ पड़ते हैं, कौन-से सहज में पच जाते हैं, और

१४. 'स्नेहान्नपानैः विविधैः, चूर्ण-अरिष्ट-सुरा-आसवैः।

प्रयुक्तैः भिषजा सम्यक्, वलं अग्नेश्च वद्धते॥' (च० चि० अ० १५)

१५. 'हितं जोरें भितं चाशनन्, चिरं आरोग्यमश्नुते।

अवैषम्येण धातूनां, अग्निवृद्धौ यतेत ना ॥ (च० चि० अ० १५)

किन पदार्थों को खाने के उपरान्त हमें भूख लगकर पुनः आहार लेने की इच्छा उत्पन्न होती है ? अर्थात् आहार में ऐसे पदार्थ विशेष रूप में रहने चाहिए जो हमारो अग्नि में इंधन का सा कार्य करते रहें। इन 'इन्धन रूप' आहार द्रव्यों को भी, अपने लिए अनुकूल आने वाली एक निश्चित मात्रा में और नियत समयों पर ही ग्रहण करना चाहिए। अग्नि को प्रदीप्त बनाये रखने की सबसे उत्तम युक्ति ही यह है कि अपनी क्षुधा और पाचनशक्ति^{१००} को ध्यान में रखते हुए, यथासमय आहार लिया जाय।^{१०१}

इस प्रकार अपने अनुकूल, अर्थात् पचकर क्षुधा को जागरित करने वाले आहार द्रव्यों का चुन लेना, उनकी मात्रा निश्चित कर लेना और उनको नियत समयों पर ही सेवन करना, ये कुछ ऐसी वातें हैं जो छोटी-छोटी होने पर भी महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि इनसे पाचकाग्नि प्रदीप्त रहती है। अभिप्राय यह कि दैतिक भाजन भी अग्नि को प्रदीप्त रखने के लिए आवश्यक है।

वास्तव में तो अपने आर्यजातीय जीवन में ब्रह्मयज्ञ आदि विविध यज्ञों के समान, हम अपनी अन्तराग्नि या उदराग्नि में भी नित्यप्रति 'यज्ञ' किया करते हैं। इसे 'अन्न-यज्ञ' कहना चाहिए। प्रातः उठफर, निवृत्त होकर, एक नियत समय पर हम यह अन्न यज्ञ आरम्भ करते हैं। इस यज्ञ के (भोजन के) समय, प्रभु का नाम लेकर और आचमन करके, प्रथम, वलिवैश्वदेव के रूप में कुछ भोजनांश का दान करते हैं, और तब—जिस प्रकार यज्ञाग्नि में समिधा, धूत, सामग्री आदि की क्रमशः आहुति दी जाती है, उसी प्रकार हम अपनी उदराग्नि में इसके अनुकूल द्रव्यों की—मधुर अम्ल लवण आदि पड़रस युक्त द्रव्यों की आहुति डालते हैं। आरम्भ में दोपन-पाचन-रोचक द्रव्यों से पाचकाग्नि को प्रदीप्त किया जाता है; फिर रोटी, दाल, चावल आदि का इंधन डालते हैं और धूताहुति के रूप में स्नेह द्रव्यों का सेवन करते हैं।

जिस प्रकार आहुति की—और अनुकूल आहुति की—'मात्रा' का यज्ञ में महत्त्व है, (प्रतिकूल—अर्थात् गोली और ढेर की ढेर सामग्री डाल देने से आग दुखने लगती है) उसी प्रकार अन्न यज्ञ में भी प्रतिकूल और अत्यधिक अन्नमात्रा से उदराग्नि मन्द ही पड़ती है। सामग्री की मात्रा के समान, 'काल' का भी दोनों जगह महत्त्व है। यज्ञ, प्रातः-सायं नियत समयों पर ही किया जाता है। अन्नयज्ञ भी कालापेक्षी है, यह भी यथासमय हो किया जाना चाहिए।

१००. 'यथाग्नि-अभ्यवहारः अग्निसंधुक्षणानान्'। (च० सू० अ० २५)

१०१. 'कालेभुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुक्तिवृद्धये'। (च० चि० अ० १५)

इस अन्न यज्ञ को जो व्यक्ति विधि-विधानपूर्वक सम्पन्न करते रहते हैं, उनकी उदराग्नि प्रदीप अवस्था में वनी रहती है और वे रोगों से बचे रहते हैं।^{१०२}

सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करने पर ऐसा पाया गया है कि जिस व्यक्ति के देह में देहधारक तत्व (वात-पित्त-श्लेष्मा) सन्तुलित अवस्था में कार्य कर रहे होते हैं और इस कारण जिनके महास्रोतस् में तथा धातु मल आदि में 'अग्नि' भी व्यवस्थित रूप में या साम्यावस्था में रहता है, उनमें पचन संबंधी क्रियायें उत्तम रीति पर सम्पन्न होती रहती हैं। परिणामस्वरूप, दोष धातु मलों को उनके अपने-अपने पोषक अंश पर्याति मात्रा में मिलने से मनुष्य हृष्ट-पुष्ट बना रहता है। उसकी देह-इन्द्रिय-मस्तिष्क की शक्तियाँ स्थिर रहती हैं और वह दीर्घायु होता है।^{१०३}

पाचकाग्नि का इन्धन :—

प्रथम कहा जा चुका है कि पाचकाग्नि, लौकिक अग्नि से भिन्न होती हुई भी, उससे कुछ सादृश्य रखती है। यह सादृश्य या समानता कई विषयों में देखी जाती है, यथा—दोनों ही अग्नियाँ ताप या ऊष्मा से युक्त होती हैं, दोनों पचन या पाककर्म करती हैं, दोनों शोषक हैं, दोनों प्रदीप होती हैं, दोनों मन्द पड़ती हैं—आदि-आदि। इसी प्रकार एक सादृश्य यह भी है कि दोनों अग्नियों को 'इन्धन' द्रव्यों की अपेक्षा रहती है।

लौकिक अग्नि हो या पाचकाग्नि—दोनों के विषय में यह ध्यान रखना पड़ता है कि उनकी स्थिति वनी रहे, वे नष्ट न होने पावें। लौकिक अग्नि को, हम देखते हैं कि वह तभी तक जलती रहती है जब तक उसमें लकड़ी कोयला आदि इन्धन पड़ते रहें। इनके अभाव में यह वुझ जाती है, अर्थात् इन्धन के

१०२. हिताभिः जुहुयत् नित्यं अन्तर्ग्निं समाहितः।

अन्न-पानं-समिद्भिर्ना, मात्राकालौ विचारयन्॥

अहिताग्निः सदां पृथ्यानि अन्तरग्नौ जुहोति यः।

दिवसे दिवसे व्रह्य जपत्यथ ददाति च॥

नरं निःश्रेयसे युक्तं सात्मजं पानभोजने।

भजन्ते नामयाः केचित् भाविनोप्यन्तरादृते॥ (च० सू० अ० २७)

१०३. समैः दोषैः समो मध्ये देहस्योज्ञाऽग्निं संस्थितः।

पचत्यन्नं तत् आरोग्य-पुष्टि-आयुः-वल-वृद्धये॥ (च० च० अ० १५)

आश्रय से ही लौकिक अग्नि की सत्ता और स्वरूप बने रहते हैं, अन्यथा वह नष्ट हो जातो है।

लगभग यही दशा पाचकाग्नि की है। इसके बने रहने के लिए भी कुछ ऐसे द्रव्य अपेक्षित हैं जो इसे प्रज्वलित रख सकें। ये द्रव्य काढ़ आदि के रूप में न होकर हमारे अन्न पान आदि द्रव्यों के रूप में होते हैं—यही इसके इंधन हैं।^{१०४}

जब तक ये इन्धन द्रव्य मिलते रहें, तब तक पाचकाग्नि प्रज्वलित या दीप रहती है; यदि ये मिलने वन्द हो जावें तो वह भी बुझने लगती है।^{१०५}

मनुष्य अपने दैनिक भोजन के परिणाम पर दृष्टि डाले तो ज्ञात होता है कि आहार पच चुकने के उपरान्त उसका सार भाग देह के भीतर आचूपित हो जाता है, और शेष किट्ठा भाग अन्त्रमल एवं मूत्र के रूप में बाहर हो जाता है। अगला दिन आते ही पुनः कुछ आहार ग्रहण करने की आवश्यकता अनुभव होती है—अर्थात् भूख लगा करती है। शरीर-क्रिया-विज्ञान के शब्दों में कहें तो यह भूख या क्षुधा एक प्रकार से 'हमारी पाचकाग्नि को अपने लिए इंधन की आवश्यकता' ही है।

मानवदेह की प्राकृतिक व्यवस्था के अनुसार हमारा आहार भीतर पहुँच कर और पच कर 'रस' बनता है। इस रस को देह, प्रत्येक दोष और घातु को (उनके पोषण के लिए) आहारांश के रूप में दे देता है। ये दोष घातु, इस रस में से उपलब्ध अपने-अपने आहार भाग को पचाकर, उसमें से 'सार' को आत्मसात् कर लेते हैं, और 'मल' या किट्ठा को त्याग देते हैं। इन्हें अब फिर से नये पोषक अंश की अपेक्षा होती है, जो कि अन्नरस से ही मिलना होता है। अभिप्राय यह कि पुनः हमारे महास्रोतस् में अन्नपान आदि पहुँचाये जावें, ये पचें, तब अन्नरस बने।

इस प्रकार पाचकाग्नि को नित्य (पचाने और देह के भीतर भेजने के निमित्त) नवीन आहार की आवश्यकता होती है।

पाचकाग्नि की अपनी भी स्थिति क्या है? यह अग्नि, जैसा कि हम प्रथम जान चुके हैं—आग्नेय प्रकृति के दोपन-पाचन स्त्रावों का समूह है। ये स्त्राव तभी बन सकते हैं जब देह को भौतिक—विशेषतः आग्नेय प्रकृति के आहार पर्याप्ति

१०४. 'तदिन्धना ह्यन्तरनेः स्थितिः'। (च० स० अ० २७-३)

१०५. 'अन्नपानेन्धनेश्चाग्निः, ज्वलति व्येति चान्यथा।' (च० स० अ० २७-३४२)

मिलते रहें। यदि ये मिलने बन्द हो जावें तो उक्त दीपन-पाचन स्नाव स्वतः मन्द और किर लुप्त होते जावेंगे। अतः स्पष्ट है कि पाचकाग्नि के विद्यमान रहने और उसे कार्यक्षम रखने के लिए अन्न-पान का उपादान अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

पाचकाग्नि के बढ़ने-घटने का नियम भी प्रायः लौकिक अग्नि के सदृश ही है। यह तो स्पष्ट है कि इंधन न डालने से लौकिक अग्नि मन्द पड़ जाती है, परन्तु यदि उस अग्नि पर ढेर का ढेर बहुत-सा इंधन भोक दिया जाय तो भी वह मन्द पड़कर बुझने लगती है। यहीं दशा पाचकाग्नि की है। कोई व्यक्ति यदि अत्यधिक मात्रा में आहार लेता रहे तो शीघ्र ही अजीर्ण होकर भूख लगनी कम हो जाती है, यदि अधिक समय तक यहीं दशा रहे तो विना पचा आहार भीतर जमा होने लगता है, और अन्त को भूख बन्द ही हो जाती है। कहने का अभिप्राय यह कि अपनी अग्नि की पाचनशक्ति के अनुपात से अधिक लिया जाने वाला आहार भी अग्नि को मन्द कर देता है।

बहुत से व्यक्ति समझते हैं कि शायद उपवास करते रहने या न खाने से अग्नि तीव्र हो जायेगी, परन्तु यह भी भ्रम है। उपवास से इतना तो हो सकता है कि अधपचे आहार को पचने का अवसर मिल जावे, और अजीर्ण दूर हो। अजीर्ण दूर होने से भूख भी पहिले की अपेक्षा कुछ अच्छी लगने लगेगी, क्योंकि अग्नि पर पचाने का कार्यभार कम हो जाता है। परन्तु लगातार उपवास का या लम्बे-लम्बे उपवास बारम्बार करते रहने का, अन्त को यहीं परिणाम होता है कि आग्नेय प्रकृति के पोषक अंश न मिलने के कारण दीपन-पाचन स्नाव बनने और परिस्थुत होने बन्द हो जाते हैं, फिर भूख तथा पाचन शक्ति दोनों क्षीण हो जाते हैं। वस्तुतः अत्यधिक भोजन और अभोजन, दोनों से, पाचकाग्नि मन्द ही होती है।^{१०६}

पाचकाग्नि के भेद :

ऐसे आदर्श व्यक्ति जिनकी उदराग्नि ठीक हो, अर्थात् जिन्हें आहार ठीक-ठीक पचता हो, यथासमय खुलकर मलत्याग होता हो, और समय पर अच्छी भूख लगती हो, प्रायः संसार में कम होते हैं।

आर्यचिकित्सकों द्वारा इस विषय के दीर्घकालीन अवलोकन का निष्कर्ष यह

१०६. नाऽभोजने न काचाग्निः, दीप्यते नातिभोजनात्।

यथा निरिन्धनो वह्निः, अल्पोवाऽत्तिन्धनावृतः ॥ (च० चिं० अ० १५)

है कि पचनसामर्थ्य के अनुसार चार प्रकार की अग्नियों वाले व्यक्ति देखने में आते हैं, और इन्हें चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है :

- (क) कुछ व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जो पथ्य-अपथ्य अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल सब प्रकार के, और बड़ी मात्रा में सेवन किये गये, आहार को भी शीघ्र पचा लेते हैं। इनकी अग्नि को 'तीक्ष्णाग्नि' कहा जाता है। ऐसी अग्नियाँ पित्तल व्यक्तियों की—उनके अग्निकेन्द्र पित्त से विशेष प्रभावित रहने के कारण—होती हैं।^{१०७}
- (ख) बहुत से व्यक्ति आहार की सामान्य मात्रा को भी देर से पचा पाते हैं। इनकी अग्नि को 'मन्दाग्नि' कहा जाता है। ऐसी अग्नि इलेष्मल व्यक्तियों की होती है, क्योंकि इनके अग्नि केन्द्र इलेष्मा से विशेष प्रभावित रहते हैं।^{१०८} मन्दाग्नि वाले व्यक्ति योड़े से भी आहार-विषयक अपथ्य को सहन नहीं कर-पाते।^{१०९} अल्प आहार लें तो भी इन्हें वह देर में पचता है।^{११०}
- (ग) तीसरे प्रकार की अग्नि 'विषमाग्नि' है। विषमाग्नि वाले व्यक्तियों को कभी आहार पच जाता है, कभी नहीं पचता। इस प्रकार की अग्नि उन व्यक्तियों में देखी जाती है जिनकी दोषप्रकृति वातल हो, और जिनके अग्निकेन्द्र वात दोष से विशेष^{१११} प्रभावित हों। विषमाग्नि वालों को कभी आहार ठीक पच जाता है, और कभी नहीं पचता। इन्हें, अनेक बार तो अपथ्य कर लेने पर भी, हानि नहीं होती, और कभी-कभी योड़ा-सा अपथ्य होते ही अपच, उदरशुल आदि हो जाते हैं।^{११२}
- (घ) चौथे प्रकार के ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जो भोजन को परिसित मात्रा को, एक निश्चित समय के भीतर-भीतर भले प्रकार पचा लेते हैं।^{११३} इनकी

१०७. 'तीक्ष्णःपित्तेन,—यः प्रभूतमपि उपभुक्तं अन्नं आशुतरं पचति ॥'

(सु० स० अ० ३५)

१०८. 'मन्दः इलेष्मणा'। (सु० स० अ० ३५)

१०९. 'स्वल्पापचारमपि यो न सहते स मन्दः'। (चक्रपाणि)

११०. 'चिरपाको मन्दः'। (हेमाद्रि)

१११. 'विषमोवातेन । (सु० स० अ० ३५)

११२. 'कदाचित् विषमेऽपि अपचारादिभिः न विक्रियते'। (चक्रपाणि)

११३. 'यो यथाकालं उपभुक्तं अन्नं सम्यक् पचति स समः'। (सु० स० अ० ३५)

अग्नि को 'समाग्नि' कहा जाता है। इस प्रकार की अग्नि सामान्यतः सदा ठीक बनी रहती है, केवल आहार-विहार-सम्बन्धी अपश्य अव्यवस्था या अनियम करने पर ही विकृत होती है। समाग्नि, उन व्यक्तियों में देखी जाती है जिनकी दोषप्रकृति 'सम' हो, अर्थात् जिनके देह में—अतः पाचन संस्थान में भी—वात, पित्त, श्लेष्मा सम अनुपात में हों। समाग्नि को सर्वथ्रेष्ठ माना गया है,^{११४} क्योंकि समाग्नि में विकार नहीं होते।^{११५}

पाचकाग्नि के उक्त चार भेद, इसकी शक्ति के आधार पर किए गये हैं।^{११६} उक्त चारों प्रकार की पचनशक्ति या अग्नि वाले व्यक्ति सहज ही जनसमाज में उपलब्ध हैं।

पाचकाग्नि पर वात, पित्त, श्लेष्मा का प्रभाव।

नित्यप्रति के जीवन में स्वभावतः मन्द, विषम, तीक्ष्ण और सम, अग्नि वाले व्यक्तियों के पाये जाने से यह वात प्रकट होती है कि सजीव देह में विकसित मूलतत्वों का—वात-पित्त-श्लेष्मा का, पाचकाग्नि पर सीधा प्रभाव है, और यह जन्म के साथ-साथ आता है। इसी से सम-विषम-तीक्ष्ण या मन्द अग्नि के व्यक्ति बड़ी संख्या में देखे जाते हैं।

इनमें समाग्नि वाले व्यक्ति भाग्यशाली हैं, परन्तु ऐसे विरले ही होते हैं। अधिकांश तो जन्म से ही मन्द या विषम प्रकार की अग्नि लेकर आते हैं। कुछ तीक्ष्णाग्नि के पुरुष भी देखे जाते हैं।

११४. समाग्निः श्रेष्ठ उच्चते। (मा० नि०)

११५. 'समस्य हि प्रावान्यं निर्विकारत्वेन एव सुव्यवस्थितम्'। (चक्रपाणि)

११६. 'अग्निस्तु शरीरेषु चतुर्विधो वलभेदेन भवति, तद्यथा—तीक्ष्णोमन्दः समो विषम इति। तत्र तीक्ष्णोऽग्निः सर्वपिचारसहः, तद्विपरीतलक्षणो मन्दः, समस्तु खलु अपचारतो विकृतिभायद्यते, अनपचारतस्तु प्रकृतौ अवतिष्ठते, समलक्षणविपरीतलक्षणस्तु विषमः, इत्येते चतुर्विधा भवन्त्यग्नयः चतुर्विधानमेव पुरुषाणाम्। तत्र समवातपित्तश्लेष्मणां प्रकृतिस्थानां समा भवन्त्यग्नयः, वातलानां तु वाताभिभूते अग्नि अधिष्ठाने विषमा भवन्ति अग्नयः। पित्तलानां तु पित्ताभिभूते अग्नि अधिष्ठाने तीक्ष्णा भवन्ति अग्नयः। श्लेष्मलानां तु श्लेष्माभिभूते अग्नि अधिष्ठाने मन्दा भवन्ति अग्नयः।' (च०चि० अ० ६)।

यह वात ध्यान देने योग्य है कि जन्म से ही उक्त प्रकार की अस्वाभाविक अग्नियों का होना—वैसे तो रोग की ही अवस्था है, परन्तु जब यह मनुष्य के दैनिक जीवन का अंग बन जाती है, तो वह व्यक्ति अपने खानपान को स्वतः अवस्थित कर लेता है, और स्वयं को—अपनी इस प्रकार की पचन-शक्ति या अग्नि के अनुरूप—बना लेता है। अतः दोष प्रकृति के साथ अस्वाभाविक अग्नि की भी अनुकूलता स्थापित कर चुकने के कारण उस व्यक्ति को अधिक कष्ट अनुभव नहीं होता।

यह तो हर्ई जन्मगत अग्निदोष की वात। परन्तु नित्यप्रति के व्यस्त जीवन में बुद्धिदोष के कारण, या विवशता की दशा में, बहुधा ही खानपान सम्बन्धी बहुत से अनियम और त्रुटियाँ होती रहती हैं। इनका परिणाम कालान्तर में यह होता है कि देह को स्वाभाविक अवस्था में रखने वाले मूल तत्त्व—वात-पित्त-श्लेष्मा, घट-बढ़कर अव्यवस्थित हो जाते हैं।

ये मूलतत्त्व, देह-व्यापी होने से, हमारे पचन-संस्थान में भी हैं, और ये यहाँ के अवस्थापक एवं क्रियाकारक हैं। इस क्षेत्र की इनकी स्वाभाविक क्रियाओं का वर्णन 'शारीर-क्रिया-विज्ञान' का विषय है। संक्षेप में वात, अग्नि को उद्बुद्ध करता है, पित्त पचाता है, श्लेष्मा आहार को पचन के योग्य बनाता है, और इस प्रकार पचन-कर्म में सहायक है। पर इन तीनों के अव्यवस्थित होते ही, पाचन-संस्थान पर और इसमें स्थित अन्तरग्नि या पाच-काग्नि पर दुष्प्रभाव पड़ता है।

वात ऐसा तत्त्व है, जिससे पाचक रस और उनमें विद्यमान ऊष्मा—ये सब ठीक-ठीक सशक्त रूप में प्रकट होकर यथासमय अपना पाककर्म करना आरम्भ कर दिया करते हैं। वात यदि विकृत हो तो इससे सम्पूर्ण महास्रोतस् प्रभावित होने के कारण न तू ठीक समय पर भूख लगती है, और न आहार जीर्ण ही हो पाता है। इससे जो विकृत रस बनता है उससे कालान्तर में, अनेक रोग जन्म लेते हैं।¹¹⁷

दूसरा मूल द्रव्य पित्त है। यह महास्रोतस् का मुख्य तत्त्व है। ग्रहणी इसका केन्द्र है। यथार्थ वात तो यह है कि जिस पाचकाग्नि या अन्तरग्नि की हम चर्चा करते आ रहे हैं, वह पित्त के ग्राश्रय से ही यहाँ स्थित है, और महास्रोतस् में पित्त रूप ही है। पित्त के अव्यवस्थित होते ही यह अग्नि भी

११७. 'मारुतः कुपितो वर्त्ति संछाद्य कुरुते गदान्'। (च० च० अ० १५)

निश्चित रूप से दूषित हो जाता है। पित्त यदि मात्रा से अधिक हो तो इसमें द्रवता बढ़ जाती है, जिससे पाचक स्राव पतले पड़ जाते हैं और इनमें रहने वाला दोपन-पाचन आदि आग्नेय गुण-धर्म न्यून हो जाता है।^{११८}

तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व इलेष्मा है। यह भी महास्रोतस् में अनेक उपयोगी कार्य सम्पन्न करता है। यह यदि मात्रा से अधिक हो जाय तो पैत्तिक स्राव प्रभाव-हीन होने लगते हैं और उनकी ऊष्मा भी कम पड़ने लगती है। अनेक बार तो इलेष्मा से स्रोतोरोध हो जाने के कारण, इन स्रावों का अपने स्रोतों से बाहर आना ही कम या बन्द हो जाता है और अग्नि नष्ट हो जाती है।^{११९}

ऊपर वातदूषित, पित्तदूषित और इलेष्मदूषित पाचकाग्नि की चर्चा हुई है। इन तीनों को भी क्रमशः विषमाग्नि, तीक्षणाग्नि और मन्दाग्नि ही नाम दिये जाते हैं। ये सभी अग्नियाँ विकृत और रोगजनक हैं। केवल समाग्नि है, जो रोगजनक नहीं है।

पाचकाग्नि का केन्द्रस्थल वयोंकि ग्रहणी है, अतः वातदूषित पित्त-दूषित या इलेष्मदूषित 'अग्नि' होने का सीधा अर्थ है—'ग्रहणी का दूषित हो जाना'^{१२०}

ग्रहणी के उक्त दोषों से दूषित हो जाने के बहुत से हानिकारक और कष्ट-दायक परिणाम होते हैं, इसी से 'ग्रहणीदोष' एक ऐसा रोग वर्ग है, जिसमें पाचन सम्बन्धी बहुत-से छोटे-बड़े विकारों—व्याधियों—और उपद्रवों का समावेश है।

यहाँ इस विषय का विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा कि अविकृत समाग्नि के अतिरिक्त अन्य जितनी विकृत अग्नियाँ हैं, उनका आरम्भ में ही ज्ञान कैसे कर लिया जाय, जिससे शोध उनका उपाय किया जा सके? इस सम्बन्ध में आयुर्वेद के प्राचीन चिकित्सकों ने चिरकालीन अवलोकन के आधार पर निम्नलिखित अनुभव प्रस्तुत किए हैं।

समाग्नि की पहचान यह है कि जो आहार विधि-विधानपूर्वक किया

११८. '.....पित्तमुत्कणम्।

अग्निं आपादयत् हन्ति, जलं तप्तमिवानलम्॥'(च० च० अ० १५)

११९. 'हन्त्याग्निं कुपितः कफः।' (च० च० अ० १५)

१२०. यश्चाग्निः पूर्वमुद्दिष्टो रोगानोके चतुर्विधः।

तं चापि ग्रहणोदयं समवर्जं प्रचक्षमहे॥ (च० च० अ० १५)

जाता है, उसको तो यह ठीक-ठीक पचाती रहती है; परन्तु अनियम या त्रुटि करने पर पचन क्रिया में विद्धि उपस्थित होने लगता है।^{१२१}

(१) अग्नि विषम हुई तो विधि-विधानपूर्वक खाया हुआ आहार भी कभी विना पचा रह जाता है, या कभी अग्नि के असाधारणाहृषेण प्रदीप्त हो उठने पर, अनाप-शनाप खाया हुआ भोजन भी पच जाता है।^{१२२} जब आहार विना पचा हुआ होता है, तो उसके पचते समय—अफरा, पेट दर्द, पेट का गुम होना या चढ़ा रहना, दस्त आ जाना, पेट में भारीपन, गुड़गुड़ शब्द होते रहना, जोर लगाने पर ही मल का उतरना आदि विकार होते हैं; अर्थात् इन शिकायतों के साथ-साथ आहार पच पाता है।^{१२३} उक्त प्रकार का विषम-पाक देर तक होता रहे तो रस-रक्तादि धातुयें भी विषम होने लगती हैं।^{१२४}

(२) तीक्ष्णाग्नि होने पर भोजन जल्दी-जल्दी पचने लगता है, यहाँ तक कि कुछ समय तक तो बार-बार, समय-असमय, न्यूनाधिक मात्रा में, और अनाप-शनाप खाई हुई चीजें भी पचती रहती हैं, फिर पचने के साथ-साथ गला सूखना, तालु सूखना, ओठों पर खुश्की, जलन, बुखार आदि होने लगते हैं।^{१२५} यह तीक्ष्णाग्नि ही बढ़कर अत्यग्नि (अतितीक्ष्णाग्नि या भस्मक रोग) बन जाती है।^{१२६}
मंदाग्नि में उचित विधि से, ठीक समय पर और अल्प मात्रा में लिया हुआ आहार भी पूरा पच नहीं पाता, या देर में पचता है। पचते समय पेट में भारीपन, सिर में भारीपन, मुख में पानी आना, उल्टी, खांसी, दम फूलना,

१२१. 'तत्र समो यः सम्यक् एव उपभुक्तं अन्नं सम्यक् पचति।'

(अ० सं० शा० अ० ६)

१२२. 'विषमः असम्यक् अपि उपभुक्तं पचति, सम्यक् अपि च न पचति।'

(अ० सं० शा० अ० ६)

१२३. 'कदाचित् सम्यक् पचति, कदाचित् आधमान-शूल-उदावर्त-

अतिसार-जठरगौरव-अन्त्रकूजन-प्रवाहषानि कृत्वा स विषमः।'

(सु० सू० अ० ३५)

१२४. 'विषमो धातुवैषम्यं करोति विषमं पचन्॥' (च० चि० अ० १५)

१२५. 'तीक्ष्णः असम्यक् अपि उपयुक्तं आशु पचति' (अ० सं० शा० अ० ६)

X X X

'समूहः मुद्रुः प्रभूतं अपि उपयुक्तं अन्नं आशुतरं पचति पाकान्ते च गल-तालु-ओष्ठशोष-दाह-सन्तापान् जनयति।' (सु० सू० अ० ३५)

१२६. 'यः प्रभूतं अपि उपयुक्तं अन्नं आशु पचति स तोक्षणः, स एव अभिवर्धमानः अत्यग्नि, 'इति आभाष्यते।' (सु० सू० अ० ३५)]

देह गिरी-गिरी-सी रहना, या आम दोष से उत्पन्न अफरा, कब्ज, पेट का गुम रहना, गुड़गुड़ शब्द, मुख सूखना, मलाशय और गुदा की निष्क्रियता आदि शिकायतें रहती हैं।^{१२७} मन्दाग्नि विकट है, प्रायः सभी रोग इससे उत्पन्न हो सकते हैं। उदर रोग तो अधिकांश इसी से जन्म लेते हैं।^{१२८}

दोषों की वृद्धि से विचार किया जाय तो 'समाग्नि', वात-पित्त-इलेघ्मा की समता या तीनों के सन्तुलित रहने पर होती है। तीनों दोषों में से किसी का विकार न हो तब तक ऐसी अवस्था बनी रहती है।^{१२९} इस समाग्नि की स्थिति में 'वात' अपने केन्द्रों में होता है, विशेषतः 'समान वात' अपने पाचन क्षेत्र में रहने ठीक-ठीक कार्य कर रहा होता है।^{१३०}

परन्तु वैकारिक अवस्था में अग्नि के पूर्वोक्त तीन प्रकार हो जाते हैं। इनमें दोषों की स्थिति भिन्न-भिन्न होती है, जो निम्न प्रकार हैं :

- (क) विषमाग्नि में समान वात अपने क्षेत्र से विचलित होकर अन्यत्र अवांछनीय दिशाओं में गति करने लगता है।^{१३१} जिससे पाचन क्षेत्र में इसका कार्य नियमित नहीं रह पाता।
- (ख) तीक्ष्णाग्नि में पित्त, रस-रक्त के साथ सम्मूच्छित होकर (रासायनिक रूप में सम्मिश्रित होकर) पाचक स्नावों को अधिक उग्र बनादेता है, और सम्पूर्ण पाचकाग्नि क्षेत्र कुपित पित्त से प्रभावित रहता है।^{१३२}
- (ग) मन्दाग्नि में प्रवृद्ध इलेघ्मा से पचन क्षेत्र आवृत हो जाता है। अतः अग्निस्रोतसों के पाचक रसों के स्नाव बन्द से हो जाते हैं।^{१३३}

स्पष्ट है कि ये तीनों प्रकार की दोषदूषित अग्नियाँ, वैकारिक अवस्थायें

१२७. 'मन्दस्तु सम्यक् अपि उपयुक्तं उदरगौरव-आधान-विवर्ध-आटोप-अन्त्रकूजन-मुखशोष-पायुस्तम्भादीनि अत्मलिंगानि दर्शयित्वा चिरात् पचति'। (अ० सं० शा० अ० ६)

१२८. 'रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ सुतरां उदराणि तु' (अ० ह० नि० अ० १२)

१२९. 'दोष-अनभिपन्न—एकः'। (सु० स० अ० ३५)

१३०. 'समः समाने स्थानस्थे'। (अ० सं० शा० अ० ६)

१३१. 'विषमोऽग्निः विमर्ग्ने'। (अ० सं० शा० अ० ६)

१३२. 'पित्ताभिमूच्छिते तोक्षणः'। (अ० सं० शा० अ० ६)

१३३. 'मन्दोऽस्मिन् कफरीडिते'। (अ० सं० शा० अ० ६)

होने से रोगजनक हैं, और इनसे जल्दी या देर में वे रोग जन्म लेते हैं जो वातज-पित्तज या कफज रोग कहे गये हैं।^{१३४}

पाचकार्गिन की विकृतियों के सामान्य उपाय

इससे पूर्व वैकारिक अग्नियों की—विषम, तीक्ष्ण और मन्द अग्नि की, चर्चा हुई है। इन तीनों से पृथक् 'समाग्नि' को अवैकारिक या स्वस्थ पाचकार्गिन माना गया है। इसके प्रतिकार या उपचार का प्रश्न नहीं उठता, इसकी तो रक्षा का—अर्थात् इसको सदा एक-सी स्थिति में बनाये रखने का यत्न करना चाहिए।^{१३५}

परन्तु इस प्रसंग में एक वात ध्यान देने योग्य है कि लौकिक अग्नि या सामान्य आग, जो ज्वालारूप या अंगारस्वरूप और अति तीक्षणा होती है, उससे जब हम पाक कार्य लेते हैं तो उससे भी यह पाक कर्म न्यूनाधिक हो जाता है—सदा एक सा नहीं हो पाता। तब फिर देह के भीतर रहने वाली अग्नि, जिसमें ज्वाला या अंगार जैसा रूप और दाहक तीक्ष्णता नहीं होती, जो केवल आग्नेय द्रव्य रूप और ऊष्मा युक्त है, उस अग्नि से (अर्थात् पाचकार्गिन से) यह आशा कैसे को जा सकती है कि वह सदा एक-सा पाक कर्म करती रहेगी? ऐसे वहुसंख्यक कारण हैं जिनसे हमारी यह पाचकार्गिन अव्यवस्थित हो सकती है। अतः जब यह सम्यक् या समरूप हो तब 'समाग्नि' के रूप में इसको यथावत् बनाये रखने के उपाय सदा ही करते रहने पड़ते हैं, और इसके लिए अनेकानेक प्रयत्न अपेक्षित होते हैं।^{१३६}

समाग्नि के अतिरिक्त, अन्य तीनों वैकारिक अग्नियों को स्वस्थ रूप में लाने के विस्तृत उपाय हैं, वल्कि इन उपायों ने मिलकर एक विराट् चिकित्सा विज्ञान को^{१३७} ही जन्म दे दिया है। फिर भी संक्षेप में जानना चाहें तो :

१३४. 'विषमो वातजान् रोगान् तीक्ष्णः पित्तनिमित्तजान्।'

करोत्यग्निः तथा मन्दः, विकारान् कफसम्भवान्॥ (सु० स० अ० ३५)

१३५. 'तत्र समे परिरक्षणं कुर्वोत्' (सु० स० अ० ३५)

१३६. 'बाह्येन अपि ज्वाला—अंगारात्मकेन अग्निना न एकाकारः सर्वदा पाकः भवति, किमुत अन्तरश्वयेण ऊष्मात्मना समेन अपि, तस्मात् तं प्रयत्नतः रक्षेत्'। (अ० सं० शा० अ० ६)

१३७. अन्तरग्निया देहाग्नि को इस चिकित्सा को प्राचीन आर्य चिकित्सकों ने 'कायचिकित्सा' नाम दिया है।

विषमाग्नि में वात के शमन का उपाय करने के साथ-साथ अग्नि का दीपन करना चाहिए। इसके निमित्त अनेक प्रकार के स्नेह प्रयोग और अम्ल, लवण, रस-प्रधान आहार औषध द्रव्यों का उपयोग कराया जाता है।

तीक्ष्णाग्नि में पित्त-निर्हरण के लिये विरेचन देते हैं। इसके उपरान्त मधुररस-प्रधान, स्त्रियुक्त और शीतलीय द्रव्य सेवन कराये जाते हैं। यदि अत्यग्नि या अतितीक्ष्णाग्नि (भस्मक) की स्थिति आ गई हो तो अन्य उपायों के साथ-साथ गुरु-मधुर-स्त्रियुक्त पदार्थ जैसे भैंस का दूध, दही, घी आदि विशेष रूप से सेवन कराने होते हैं।

मन्दाग्नि में कफ-निर्हरण के लिए आवश्यक हो तो वमन कराते हैं, पश्चात्—कटु, तिक्त, कषायरस-प्रधान द्रव्य दिये जाते हैं।^{१४}

इन उपायों से वैकारिक अग्नियाँ यथावत् स्थिति में 'समाग्नि' के रूप में पुनः व्यवस्थित हो जाती हैं।

पाचकाग्नि का दोषों पर प्रभाव :

पाचकाग्नि पर कुपित वात, पित्त, श्लेष्मा के विकारजनक प्रभाव का, इस प्रभाव के कारण दूषित अग्नियों द्वारा उत्पन्न विकारों का और उनकी शान्ति के सामान्य उपायों का पीछे क्तिपय प्रकरणों में उल्लेख हुआ है।

उन प्रकरणों से दोषों का प्रभाव और महत्त्व तो प्रकट ही है, परन्तु अग्नि का भी अपना महत्त्व है, और वह कम नहीं है। क्योंकि अग्नि भी बहुत बार दोषों को विकारग्रस्त बना देती है।^{१५}

यह स्मरणीय है कि किसी भी दोष का प्रकोप क्यों न हो, उसकी शान्ति के लिये जो आहार या औषध द्रव्य सेवन कराया जायगा, वह पाचकाग्नि या अन्तरग्नि द्वारा पचकर ही, उस दोष पर शामक किया कर सकेगा, पचन के बिना वह व्यर्थ ही जायगा। इसके अतिरिक्त, दोषों को बढ़ाने, घटाने या कुपित करने वाले द्रव्यों का भी, 'पचन' के उपरान्त ही, कुछ प्रभाव हो सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि धातुओं और मलों को

१३८. विषमे स्त्रियाम्ललवणैः क्रियाविशेषैः प्रतिकुर्वते । तीक्ष्णे मधुर-स्त्रियुक्तैः विरेकैश्च, एवमेव अत्यन्तौ विशेषेण माहिषैश्च क्षोर-दधि-सर्पिभिः । मन्दे कटु-तिक्त-कृष्णायैः वसनैश्च ॥ (सु० स० अ० ३५)

१३९.दोषाः । ते च प्रायशः दुष्यत्ति अग्निदोषात् । (अ० सं० शा० अ० ६)

ही नहीं, देहधारक तत्वों अर्थात् त्रिदोष तक को 'अग्नि' की अपेक्षा रहती है। उनकी वृद्धि या घूनता भी बहुत कुछ, अग्नि पर ही आश्रित है।^{१४०}

इसी से अग्नि को ठीक-ठीक यथावत् स्थिति में बनाये रखने की और अग्नि-विकार उत्पन्न करने वाले कारणों से सदा वचे रहने की चेतावनी दी जाती है।^{१४१}

१४०. 'शमप्रकोपौ दोषाणां सर्वेषां अग्निसंश्नितौ'।

१४१. 'तस्मात् अग्निं सदा रक्षेत् निदानानि च वर्जयेत् ॥'

(च० चि० अ० ५-१३६)।

प्राकृत भूताग्नि विमर्श

भूताग्नि

भूताग्नि और देह के भौतिक भाव :

पंचमहाभूतों से बने हुए द्रव्यों में—अर्थात् ‘भौतिक’ वस्तुओं में—समाच विष्ट ‘अग्नियों’ को ‘भूताग्नि’ कहा जाता है। भूताग्नियों में—पार्थिवाग्नि, आप्याग्नि, आग्नेयाग्नि, वायव्याग्नि और नाभसाग्नि या आकाशाग्नि इन पाँच अग्नियों की गणना है।^१

स्वभावतः जिज्ञासा होती है कि हमारे देह के भीतर होने वाले अग्निकर्मों के प्रसंग में उक्त पाँच नामों का क्या महत्त्व और क्या अभिप्राय है? यह भी ज्ञातव्य है कि भूताग्नियों का प्रयोजन, स्वरूप, क्रियास्थल तथा क्रियाविधि क्या है?—‘भूताग्निकर्म’ क्या-न्या हैं?

इन सब पर विचार करने से पूर्व कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण वातों की चर्चा कर लेना तथा उन्हें ध्यान में रखना आवश्यक है।

यह प्रथम कहा जा चुका है कि हमारा देह पंचभूतात्मक है और इसे जिस आहार से हम पुष्ट करते हैं वह भी महाभूतों की ही कृति, उपज या परिवर्तित रूप है।

इस प्रसंग में देह के पंचभूतात्मक अंगावयवों और अन्य सूक्ष्म भावों पर वृद्धि डाल लेना असंगत न होगा, क्योंकि हमारे देह के इन पार्थिव, आप्य, आग्नेय आदि भावों की वृद्धि या ह्रास करने में ही, इन भौतिक द्रव्यों की और इनमें निहित भूताग्नियों की, चरम सार्थकता है।^२

जब हम यह कहते हैं कि मानव देह पंचभूतात्मक है, तब हमारा यह अभिप्राय होता है कि देह के उपादान—अर्थात् दोष-धातु-मल सबके सब—पाँचों महा-

१. ‘भौम-आप्य-आग्नेय-वायव्यः पंच ऊष्माणः सनाभसाः॥

(च० च० अ० १५-१३)

२. ‘भूतजन्यत्वेन अभिधानं अंगानां क्षये वृद्धौ वा सत्यां तत्कारणभूत भूतोपयोग—प्रतिवेधाभ्यां वृद्धिक्षयजननज्ञानार्थम्। यत् अंगं यद् भूत प्रभवं तद् अंगं तद्भूतप्रधानेन द्रव्येण वर्धते, क्षीयते च तद्विपरीतेत्र’।

(च० शा० अ० ४-१२ की टीका में चक्रपाणिदत्त)

भूतों के सम्मिलन-सम्मुच्छँन से निर्मित हैं, इन सभी के निर्माण में वैसे तो पाँचों वर्गों के अणुओं का योग है, पर पाँचों का सहयोग और मिश्रण होने पर भी प्रत्येक के निर्माण में एक या अनेक प्रकार के भौतिक अणुओं की न्यूनाधिकता रहती है।

देह के उक्त उपादानों में सर्वप्रथम दोषों की गणना है। दोष यद्यपि पञ्चभूतात्मक हैं,^३ पर वाहूल्य की दृष्टि से—‘वात’ वायु-आकाशात्मक, ‘पित्त’ अग्निप्रधान, और ‘कफ’ जल-पृथिवीवहूल है।^४

धातुओं में—‘रस’ जलीयांशवहूल, ‘रक्त’ तेजोजलात्मक, ‘मांस’ पार्थिव, ‘भेद’ जल-प्रथिवीवहूल, ‘अस्थि’ भूवायुतेजसांशवहूल, ‘मज्जा’ एवं ‘शुक्र’ जलतत्व प्रधान हैं।

३. दोषों के पञ्चभूतात्मक होनेसे इनमें उक्त पाँचों महाभूतों को 'अंशांशकल्पना' भी किसी-किसी आधुनिक विद्वान् ने की है, जो विचारणीय और ध्यान देने योग्य है।
 (देखें डा० सौ० द्वारकानाथ लिखित 'इन्ट्रोडक्शन टू काय चिकित्सा') ।

४. 'वायु-आक्षाशधारुभ्यां वायुः, आग्नेयं पित्तम्, अस्मः पृथिवीभ्यां श्लेष्मा,'
 (अ० स० स० अ० २०)

‘तथाप्यपां प्रधानत्वात् रसः सौम्योऽभिधीयते’	(डलहन)
× ×	×
‘अतिरिक्ता गुणा रक्ते, वह्ने’ ।	(डलहन)
‘रक्तं तेजोजलात्मकम्’ ।	(चक्रपाणी)
‘पांचभूतिकं तु अपरे जीवरक्तं आहुः आचार्याः ।	
विवरता द्रवता रागः स्पन्दनं लघुता तथा ।	
भूम्यादीनां गणोह्येते दश्यन्ते चात्रशोणिते ॥	

		(सु० सू० अ० १४-७, ८)
मासं पार्थिवम् ।	X	X
'मासे तु पार्थिवाः' ।		(चक्रपाणि) (डलहन)
मेदसि अम्बुभुवोः' ।	X	X
'मेदो जल-पृथिव्यात्मकम्' ।	X	(डलहन) (चक्रपाणि)
अस्त्वि पृथिव्यनिलात्मकम् ।	X	X
'अस्त्वि पृथिव्यनिलतेजसाम्' ।	X	(चक्रपाणि) (डलहन)
मज्जिशुक्रे च सोमस्त्वि ।	X	X
'मज्जा शुक्रं च आप्यम्' ।	X	(डलहन) (चक्रपाणि)

'धातु' वर्ग के अन्तर्गत 'उपधातु' आते हैं। इनमें 'स्तन्य' जलवहул, 'आर्तंव' 'आग्नेय', 'गर्भ' अग्नि-जलवहुल हैं।^१

हमारी इन्द्रियाँ भी भौतिक हैं, इनके आश्रयस्थल या अधिष्ठान धातु-उपधातुनिर्मित हैं, इनमें भी एक-एक महाभूत की प्रधानता रहती है, यथा 'श्रोत्र' में आकाश, 'त्वक्' या स्पर्शनेन्द्रिय में वायु, 'नेत्रों' में तेज, 'रसना' में जल और 'द्वाण' में पृथिवी महाभूत की अधिकता स्वीकार की गई है।^२

'मल' वर्ग में—'स्वेद' जलवहुल, 'मूत्र' अग्निजलप्रधान और 'पुरीष या अन्त्रमल' पार्थिव हैं।^३

इसी स्थल पर यह स्मरण कर लेना भी उपयोगी है कि देह के भीतर अर्थात् दोष-धातु-मलों के भीतर—महाभूतों के कार्य तथा उनके परिणाम क्या-क्या होते हैं ?

आकाश महाभूत के कार्य—आकाश के द्वारा उक्त दोष-धातु-मलों में और इनसे बने हुए अवयवों में लघुता, सूक्ष्मता, सुपिरता (सचिद्रता) की उत्पत्ति होती है। विवेक या विविक्तता उत्पन्न करना—अर्थात् दो या अधिक अवयवों के बीच में प्रविष्ट रह कर एक को दूसरे से पृथक्-पृथक् रखना भी आकाश महाभूत का कार्य है। यह पृथक्करण या पार्थक्य, जाति एवं व्यक्ति, दोनों में देखा जाता है। उदाहरणार्थ, अस्थि, मांस, शिरा, घमनी, स्नायु आदि जातीय दृष्टि से जो एक दूसरे से अलग-अलग बने हैं या अस्थियों में एक-एक

- | | |
|--|----------------------|
| ६. 'स्तन्यं च आप्यम्' । | (चक्रपाणि) |
| 'आर्तंवं आग्नेयम्' । | (सु० शा० अ० ३-३) |
| 'आर्तंवमग्निगु भूयिष्ठम्' । | (डलहन) |
| 'अग्निवोमोयत्वाद् गर्भस्य' । | (सु० सू० अ० १४-७, ८) |
| ७. '—पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकानां अपि सतां इन्द्रियाणां तेजः चक्षुषिः, रवं श्रोत्रे, द्वाणेक्षितिः; आप्यः रसने, स्पर्शं अनिलः, विशेषेण उपपद्यते' । | (च० सू० अ० ८-१४) |
| 'एकेकाधिकयुक्तानि खादीनां इन्द्रियाणि तु' । | (च० शा० १-२४) |
| ८. 'प्रस्वेदस्तन्ययौः अपाम्' । | (डलहन) |
| 'मूत्रं जलानलात्मकम्' । | (चक्रपाणि) |
| 'मूत्रे अम्बुशिखिनोः गुणा । | (डलहन) |
| 'पुरीषं पार्थिवम्' । | (चक्रपाणि) |
| 'भुवः विशि' । | (डलहन) |

अस्थि और पेशियों में एक-एक पेशी आदि व्यक्तिशः दूसरी अस्थि और दूसरी पेशी से अलग-अलग हैं; यह इनका एक-एक का (उभय प्रकार का) पार्थक्य या अलगाव इनके भीतर सन्निविष्ट आकाश महाभूत का परिणाम है। देहावयवों में से श्रोत्र, मुखविवर, कण्ठ, कोष्ठांग (फुफ्फुस, क्लोम, आमाशय, यकृत, प्लीहा, वस्ति आदि के सदृश सचिद्र आशय) और समस्त सावकाश (खोखले) देहावयव आकाशप्रधान हैं।^१ शब्द या ध्वनि भी मुख्यतः आकाश के आधार से उत्पन्न होता है।

वायु महाभूत के कार्य—देह को स्पर्शं ज्ञान कराना, ज्ञान-कर्म-संवेदनात्मक अन्य क्रिया-चेष्टायें तथा अनुभूतियाँ कराना, प्रेरणायें देना, रस रक्त मांस अस्थि आदि पृथक्-पृथक् धातुओं की रचना कराना, उनके घटकों का इत्स्ततः वहन और यथास्थान सन्निवेश, रक्षताजनन—अर्थात् स्तिरधता कम करना, सब शरीर में भिन्न-भिन्न चेष्टायें यथा अंगों को भ्रुकाना-उठाना आदि, मन एवं वाणी की क्रिया-चेष्टायें, हृदय नाड़ी नेत्रच्छद आदि के स्पन्दन, देह और मस्तिष्क की लघुता (हलकापन), वे सब वायु के कर्म हैं। सर्वदेहगत स्पर्शनेन्द्रिय या त्वक् इन्द्रिय वायुप्रधान अवयव है। देहगत प्राण और अपान वात भी वायवीय हैं।^{१०}

१. 'तत्र अस्य (शरीरस्य) आकाशात्मकं शब्दः, श्रोत्रं, लाघवं, सौक्ष्म्यं, विवेकश्च'। (च० शा० अ० ४-१२)

'आन्तरिक्षाः—शब्दः शब्देन्द्रियं सर्वच्छिद्रसमूहो विविक्तता च'।

(सु० शा० अ० १-१९)

'विविक्तता शारीराणां भावनां शिरा-स्नायु-अस्थि-पेशी प्रभृतीनां जातिव्यक्तिभ्यां मिथः पृथक्त्वम्'। (डलहन)

'शब्दश्च श्रोत्रं च लाघवं च सौक्ष्म्यं च विवेकश्च मुखं च कण्ठश्च कोष्ठं च आकाशात्मकानि भवन्ति'। (काश्यप सं०, गर्भविकान्ति शरीराध्याय)

१०. 'वायवात्मकम्—स्पर्शः स्पर्शनं रौक्ष्यं प्रेरणं धातुव्यूहनं चेष्टाश्च शारीर्यः'। (च० शा० अ० ४-१२)

'धातुव्यूहनं धातुरचना धातुवहनं च'। (चक्रपाणि)

'वायव्यास्तु—स्पर्शः स्पर्शनेन्द्रियं सर्वचेष्टासमूहः सर्वशरीरस्पन्दनं लघुता च'। (सु० शा० अ० १-१९)

'सर्वचेष्टासमूहः नमन-उन्नमन आदि सर्वक्रियासमूहः काय-वाङ्-मनः क्रिया समूह इति अन्ये'। (डलहन)

'स्पर्शश्च स्पर्शनं च रौक्ष्यं च प्रेरणं च धातुव्यूहनं च प्राणश्च अपानश्च शरीरचेष्टा च वाटवात्मकानि भवन्ति'। (काश्यप सं०)

अग्नि महाभूत के कार्य—रूप की उत्पत्ति, नेत्र अवयव, नेत्र इन्द्रिय, नेत्र कान्ति, रूपदर्शन प्रक्रिया, प्रकाश-ताप उष्णता,^{११} पित्त-नेत्र कनीनिका-त्वचा-केश आदि पर विभिन्न वर्णों या रंगों की उत्पत्ति,^{१२} सजीव देहावयवों पर—त्वचा नख नेत्र आदि पर रहने वाली कान्ति या चमक, नाना प्रकार के पचनकर्म यथा—आहार पाक-धात्वग्नि पाक-मल पाक, देहवृद्धि,^{१३} ऊर्ज-स्विता, आशुकारिता या स्फुर्ति, ये सब तैजस या अग्नि-मूलक हैं।^{१४}

अप महाभूत के कार्य—द्रवता, स्तिरता, मूढ़ता, शीतलता की उत्पत्ति करना। यह महाभूत मधुर-लवण आदि रसों का मुख्य जनक है और रस-बोधन-कर्म में सहायक है। देहवर्ती अवयवों में रसना या जिह्वा, इलेष्मा, रस, रक्त, मांस, मेद एवं शुक्र धातु, स्नेह, क्लेद, दोष-धातु-मलगत सम्पूर्ण तरल पदार्थ, इन सबमें अप महाभूत का अंश सबसे अधिक होता है।^{१५}

क्षिति महाभूत के कार्य—गुरुता, कठोरता, स्थिरता और आकृति या मूर्ति उत्पन्न करना। देह में गन्धेन्द्रिय तथा नासिका की रचना में इस महाभूत का प्रधान अंश है। देह के अर्थात् दोष-धातु-मलों के समस्त आकृतियुक्त द्रव्यों में (यथा अस्थि, मांस, शिरा, स्नायु, कण्डरा, केश, नख आदि में) पृथ्वी या क्षिति महाभूत का प्राधान्य रहता है। गन्ध गुण का यही उत्पादक है।^{१६}

११. 'अग्न्यात्मकम्—रूपं दर्शनं प्रकाशः पक्तिः औण्यं च'

(च० शा० अ० ४-१२)

'दृश्यते अनेन इति दर्शनं चक्षुः इन्द्रियम्'

(चक्रपाणि)

१२. 'तत्र तेजो धातुः सर्ववर्णानां प्रभवः'

(सु० शा० अ० २)

१३. 'रूपं च चक्षुश्च प्रकाशश्च पित्तं च पक्तिश्च ऊष्मा च शरीरवृद्धिश्च तैजसानि भवन्ति'

(काश्यप संहिता)

१४. 'तैजसास्तु-रूपं रूपेन्द्रियं वर्णः सत्त्वापः भ्राजिष्णुता पक्तिः अमर्षः तैक्षण्यं शौर्यं च'

(सु० शा० अ० १-१९)

'तैक्षण्यं आशुक्रिया'

(उल्हन)

१५. 'अवात्मकम्—रसः रसनं शैत्यं मार्दवं स्नेहः क्लेदश्च'

(च० शा० अ० ४-१२)

१६. 'आप्यास्तु रसः रसनेन्द्रियं सर्वद्रवसमूहः गुरुता शैत्यं स्नेहःरेतश्च'

(सु० शा० अ० १-१९)

'सर्वद्रवसमूहः दोष-धातु-मलेषु द्रुतिमद्व्यनिवहः'

(उल्हन)

'रसश्च रसनं च शैत्यं च मार्दवं च द्रवश्च स्नेहश्च क्लेदश्च इलेष्मा च मेदश्च रक्तं च मांसं च शुक्रं च आप्यानि भवन्ति'

(काश्यप संहिता)

इस प्रसंग में यह बात भी व्यान में लाने योग्य है कि देह के पार्थिव अंशों के निर्माण में और उनके भीतर आकृति, भार, कठोरता, स्थिरता, गन्ध आदि-गुण धर्म उत्पन्न करने में मुख्यतः वही अणु (त्रसरेण-चतुरणुक आदि) भाग लेंगे, जो उक्त गुण-धर्म उत्पन्न कर सकने की क्षमता रखते हों ।^{१०} इसी प्रकार आप्य, आग्नेय, वायव्य, आकाशीय भावों की रचना करने वाले अणुओं के विषय में भी जानना चाहिये ।

ऊपर के विवरण से कुछ आभास हो जाता है कि देह का भौतिक संघटन किस प्रकार का है और देह को 'भौतिक' कहने का क्या अभिप्राय है ।

यह जान लेना भी उपयोगी है कि उक्त-पांचभौतिक या भौतिक देह की दैनिक आवश्यकता को पूर्ण करते हुए, उसे परिपुष्ट रखने और यथावत् बनाये रखने वाले 'आहार' को पांचभौतिक कहने का क्या तात्पर्य है ।

आहार के अन्तर्गत वे सभी द्रव्य हैं जो उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए मुख (और त्वचा, गुदा आदि) के द्वारा देह के भीतर पहुँचाये जाते हैं । जिन विविध आहार कल्पों का हम सेवन करते हैं उनके मुख्य-मुख्य उपादान प्रायः गेहूँ, जौ, बाजरा, मकई, ज्वार, चावल आदि शूक धान्य; मूँग, मसूर, माप, चना, अरहर, मटर, लोभिया आदि शिम्बी धान्य; शाक, फल, मूल, कन्द, मेवा, चीनी, दूध, आमिष, अण्ड, विविध लवण, मसाले, मद्य, जल आदि हैं ।

इन द्रव्यों में कुछ इस प्रकार के हैं जो हमारे देह के मांस, अस्थि आदि छोस धातुओं के अंश बनकर उन्हें पुष्ट करते हैं, ऐसे द्रव्यों में पार्थिव अंश^{११} की प्रधानता रहती है । इनमें गेहूँ आदि सारवान अनाज, चना-मटर-माप आदि दालें शुष्क फल या मेवे, पनीर, खोया आदि दुग्ध विकार तथा आमिष, अण्ड की गणना है ।

१७. ये अणु-द्वचणुक-त्रसरेण-चतुरणुक क्रमशः वायु-अग्नि-अप्य-पृथिवी महाभूतों के कहे जाते हैं । आधुनिक वैज्ञानिकों की खोजों के अनुसार ये अणु 'भौतिक तत्वों' के बने हुए पाये गये हैं, जिन्हें 'एलिमेन्ट' कहा जाता है । आयुर्वेद की दृष्टि से ये भौतिक तत्व 'पांच भौतिक' हैं । इनमें कर्वन-नन्त्रजन-खटिक 'पार्थिव' प्रकृति के ज्ञात होते हैं ।

१८. पार्थिव अंश के अन्तर्गत, आधुनिक क्रिया-शारीर के प्रोटोन, कार्बोहाइड्रेट, कैल्सियम धातु, सैल्युलोज आदि द्रव्यों का समावेश किया जा सकता है ।

पार्थिव वर्ग में ही उन द्रव्यों की भी गणना है जो देह को विशेष पुष्टि प्रदान न भी करते हों—परन्तु देहाग्नि में इंधन के समान दध होते रहते हैं, उसे मन्द और शिथिल नहीं होने देते। आहारगत वाजरा, ज्वार, मकई, चावल, चीनी, गुड़, आलू, मधुरालुक (शकरकन्द) आदि ऐसे ही द्रव्य हैं।^{१९} उष्णवीर्य अनेक स्नेहवान् पदार्थ भी यह कार्य सम्पन्न करते हैं।^{२०}

कुछ द्रव्य इस प्रकार के हैं जो हमारे समस्त देहवारक भावों का—विशेषतः आप्य या तरल धातुओं का—रस, रक्त, मेद, शुक्र, श्लेष्म, स्वेद, मूत्र, क्लेद आदि का संबर्धन करते हैं। इनमें दुध, फल रस, यूप, जल और शीत मधुर 'स्नेह' प्रमुख हैं, ये आप्य कहाते हैं।

कुछ द्रव्य इस प्रकार के हैं जो हमारे देह में पहुँचकर देहाग्नि के प्रदीपन का कार्य करते हैं। ये पित्तोष्मा (पित्त + अग्निद्रव्य + ताप) के जनक हैं, उसका संबर्धन करते हैं तथा ऊर्जा या शक्ति (अग्निमूलक वल) को विशेष रूप से उत्पन्न करते हैं। उक्त प्रकार के द्रव्यों से देह के आग्नेय अंशों की पुष्टि और वृद्धि भी होती है। इनमें लज्जन, राई, मेथी, जीरक, यवानिका, चुण्ठी, मरिच, पिप्पली, त्वक् आदि मसाले; गन्धक, शिला, ताल, प्रस्फुरक आदि उष्णवीर्य खनिज; ताम्र, वंग, सुवर्ण, मैगनीज, आयोडिन, कोवाल्ट सोडियम, पोटासियम आदि तैजस धातु तथा उष्ण-तीक्ष्ण गुण युक्त स्नेह, आसव, सुरा, अम्ल, क्षार इत्यादि की गणना है, ये सब आग्नेय हैं।^{२१}

कतिपय आहार द्रव्य इस प्रकार के हैं जो देह मन को लघुता (हलकापन) व स्फूर्ति (ताजगी) प्रदान करते हैं, इन्हें क्रियाशील बनाते हैं और प्राणशक्ति एवं चैतन्य प्रदान करते हैं, ये वायवीय कहे जाते हैं। इनमें बहुसंख्यक वे अनु-द्रव्य भी हैं,^{२२} जो अब खाद्य द्रव्यों के भीतर से खोज निकाले गये हैं और अपनी

१९. उक्त प्रकार के द्रव्यों में पिष्टवर्गीय द्रव्य (कार्बोहाइड्रेट्स) प्रमुख हैं।
२०. राई, सरसों, कुमुम्ब, तिल, वादाम, पिस्ता, अखरोट, चिलगोजा आदि के तेल तथा मत्स्य तेल आदि इसी प्रकार के स्नेहों में समाविष्ट हैं।
२१. इन खाद्य पदार्थों में रहने वाले अनेक आग्नेय (रसायनवर्मा) एन्जाइम्स तथा विटामिन्स भी इस श्रेणी में आते हैं, इनकी चर्चा आगे यथास्थान की गई है।
२२. इन अगुद्रव्यों को 'खाद्योज' (विटामिन) नाम दिया गया है। अनेक खाद्योज 'वायव्य' प्रकृति के भी हैं, इन पर आगे के प्रकरणों में प्रसंगानुसार विचार हुआ है।

सक्रियता या प्रेरकता के कारण महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। इनमें अनेक चल प्रकृति के (अस्थिर) होते हैं, ये शीघ्र रूपरिवर्तन कर लेते हैं। इन महत्त्वपूर्ण अणुद्रव्यों के लोत—धारोण दुख, नवनीत, ताजे शाक और फल, मेवा, मत्स्य, मांस, अण्ड, विविध स्नेह, सूर्य प्रकाश, स्वच्छ वायु, चन्द्रकिरण आदि समझे गये हैं।

इसी प्रकार सूक्ष्म नाभिस या आकाशीय द्रव्यों के विषय में भी जानना चाहिए। अनेक लघु एवं सुपिर द्रव्य इस श्रेणी में आते हैं, जिनमें खीलें, मुरमुरे, च्योले आदि की गणना की जा सकती है। कतिपय फल-पुष्प भी इस श्रेणी के हैं।

ऊपर देह के भौतिक भावों का उल्लेख करने के साथ-साथ भौतिक आहार-द्रव्यों की भी पृथक् से कुछ चर्चा हुई है। आयुर्वेद की मान्यता यह है कि देह के पार्थिव आप्य आदि भावों का संवर्धन या हास, आहारगत पार्थिव आप्य आदि अंशों से होता है, परन्तु इन भौतिक आहारद्रव्यों को देह के विभिन्न उपादानों (दोष, धातु, मलों) के रूप में परिवर्तित कर देना—यह कार्य 'अग्नि' का है।

देहाग्नि के मुख्य तीन रूपों में से अन्नपाचकाग्नि या पाचकाग्नि का वर्णन प्रथम हो चुका है, उसके आगे भूताग्नि का प्रसंग आता है।

भूताग्नि का प्रयोजन :

पाचकाग्नि द्वारा होने वाले आहारपाक के प्रसंग में संहिताकारों ने 'भूताग्नि' का उल्लेख किया है, भूताग्नि के उपरान्त धात्वग्निं का वर्णन मिलता है।

यहाँ एक बात स्वभावतः ध्यान में आती है कि हमारे द्वारा सेवन किए गये आहार का पाक तो पाचकाग्नि द्वारा हो जाता है; तदुपरांत 'आहार रस' से देह के रक्त-मांस आदि धातु अपने-अपने पोषक अंश प्राप्त कर सकते हैं, और इन पोषक अंशों को लेकर अपनी-अपनी धात्वग्नि से इनका पाक करके इन्हें अपना अंग भी बना सकते हैं,—तब फिर भूताग्नि की क्या आवश्यकता है?

परन्तु पूर्वोक्त पाचकाग्नि की पाकक्रिया का यह विषय इतना सीधा और सरल नहीं है। इसके अतिरिक्त केवल पाचकाग्नि द्वारा आहारपाक हो जाने से ही वह आहार धातुओं में परिणत नहीं हो जाता है।

यह सर्वविदित है कि मनुष्य, अन्य जीवधारियों के समान, एक प्राणी या

जन्तु ही है। लगभग सभी जीव-जन्तु रक्त-मांस आदि के बने होते हैं। इस दृष्टि से सब जीवधारियों में एक प्रकार की समानता है।

हमारे इस 'जीव-जन्तुजगत्' के साथ-साथ, आसपास ही एक विशाल 'वन-स्पति-जगत्' भी है। वनस्पतियों के साथ जीव-जन्तुओं का उक्त प्रकार का मेल या साहश्य देखने में नहीं आता। वल्कि, जन्तु-जगत् और वनस्पति-जगत् दोनों एक दूसरे से पृथक् जान पड़ते हैं और अनेक अर्थों में पृथक् हैं भी; इसी दृष्टि से 'चर' और 'अचर' (स्थावर, जंगम) रूपों में दो विशाल संसारों की कल्पना भी की गई है।

तत्त्वदर्शी की भाँति विचार करें तब तो प्रतीत होता है कि 'जन्तुजगत्' ही या 'वनस्पति जगत्' ये दोनों ही—पंचमहाभूतों की विकृति मात्र हैं, दोनों के मूर्त रूपों के उत्पादक मूलतत्व—'पंचमहाभूत' (पाथिव, आप्य, आग्नेय, वायव्य, आकाशीय पाँच वर्गों के अणु-दृच्यणुक-त्रसरेणु-चतुरणुक) अथवा 'भौतिक तत्व' (कार्वन, नव्रजन, ओषजन, उद्जन आदि के एटम और मॉलिक्यूल्स) ही हैं, इन सबका मूल किसी एक 'अव्यक्त' में निहित है, अतः 'जन्तुजगत्' और 'वन-स्पति-जगत्' में कोई भेद नहीं है।

परन्तु ऐसा होते हुए भी उस अव्यक्त को अभिव्यक्तियाँ बहुत भिन्न-भिन्न होती चली गई हैं। इस अन्तर के कारण जन्तु-जगत् और वनस्पति-जगत् पृथक्-पृथक् रूप में हमारे सामने आते हैं।

प्रकृति की व्यवस्था कुछ ऐसी है कि जान्तव-जगत् को अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए—बहुत अंशों में—वानस्पतिक-जगत् पर निर्भर रहना पड़ता है; यद्यपि अपने जान्तव-जगत् से तथा खनिजों से भी वह अपने अनुकूल, सामग्रियों का संग्रह करता रहता है।

मनुष्य जान्तव-जगत् का प्राणी है। यह अपने देह के योग्य कच्ची सामग्री का दो रूपों में चयन करता है—अनैन्द्रियिक और ऐन्द्रियिक। अनैन्द्रियिक प्रकार की सामग्री—लोह, ताम्र, खटिक, गन्धक, प्रस्फुरक, मैग्नीज, सोडियम, पोटासियम आदि के यौगिकों के रूप में—बहुतायत से तथा सहज में—प्राप्त हो जाती है। इस सामग्री की देह को यद्यपि कम मात्रा ही अपेक्षित है, किर भी वह बहुत महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त अति महत्वपूर्ण जल, वायु, प्रकाश किरणों भी उसे प्रकृति में सुलभ हैं।

दूसरे प्रकार की 'ऐन्द्रियिक' सामग्री है। यह स्थावर (वानस्पतिक-जगत्) तथा जंगम (जन्तु-जगत्) दोनों स्रोतों से प्राप्त करनी होती है।

मानव-शरीर अपने योग्य 'पोषक रूप' तथा 'इन्धन रूप' दोनों प्रकार के आहारों को अधिकांश में स्थावर स्रोतों से संग्रह करता है। दुख, आमिष, अण्ड, वसा आदि उसे जंगम-जगत् से प्राप्त होते हैं।

अपनी खाद्य सामग्री को प्राप्त करना एक बात है, परन्तु उसे अपना—अपने शरीर का—अंश बना लेना, यह उससे बहुत भिन्न और दूर की बात है।

वनस्पतियों में तो प्रकृति ने यह क्षमता दी है कि वे अनैन्द्रियिक जगत् से—मिट्टी, पानी, हवा से—जिस आहार को प्राप्त करते हैं, उसका संघटन-विघटन करके उसे अपने शरीर का अंग सहज में बना लेते हैं।^{१३} परन्तु मनुष्य की स्थिति भिन्न है, वह स्वयं इन्द्रिय-सम्पन्न अतएव 'ऐन्द्रियिक' प्राणी है। उसे अनैन्द्रियिक जगत् से जो खाद्य सामग्री (गेहूँ, चना, शाक, फल, मूल, खनिज) प्राप्त होती है, वह उसके लिए स्पष्ट ही 'विजातीय' है।

उक्त सामग्री जब तक विजातीय रहती है, तब तक वह हम मनुष्यों के लिए व्यर्थ है। हमें तो इस देह के निमित्त, इसके अपने अनुरूप और उपयुक्त इसका 'सजातीय' पोषक द्रव्य चाहिए।

आर्य-चिकित्सा-विज्ञान का यह सिद्धान्त है कि हमारे शरीर के पृथक्-पृथक् जाति के (पार्थिव, आप्य, आग्नेय आदि) अंगों की पुष्टि और गुणवृद्धि,

२३. वनस्पतियाँ स्थूल भौतिक द्रव्यों से (मिट्टी, जल, वायु, सूर्य किरण, चन्द्रकिरण आदि से) अपना आहार प्राप्त करती हैं। इस आहार से उनके 'पोषक रूप' और 'इन्धन रूप' दोनों प्रकार के द्रव्य बनते हैं। इन्धन के लिए प्रयुक्त होने वाली 'द्राक्षा शर्करा' (ग्लूकोज) को पौधे, अपने भीतर, स्वयं तैयार करते हैं, इसे वे गिलसरीन तथा स्नेहाम्लों में परिवर्तित कर लेते हैं। 'पोषक' द्रव्यों के लिए, भूमि में से जो नत्रजनीय द्रव्य उन्हें प्राप्त होते हैं, उनके भीतर की नत्रजन के साथ उद्जन मिलाकर (उक्त गिलसरीन तथा स्नेहाम्लों से ही) वे एसीनो एसिड्स तैयार कर लेते हैं, पूर्वोक्त द्राक्षाशर्करा 'एसीनो एसिड्स' तथा जल के संघटन-विघटन से वह 'वानस्पतिक ओजो द्रव्य' (प्लान्ट प्रोटोप्लाज्म) तैयार हो जाता है, जिसमें से विविध प्रकार के नवोन 'घट' (कोषा या सैल) बन-बन कर वनस्पतियों के पत्ते, फूल, फल आदि जन्म लेते हैं और उनके भीतर रहने वाले एन्जाइम्स, उर्जाप्रिद स्नेह, जीवनीय तत्व या खाद्योज, रंजक द्रव्य, औषध द्रव्य (मार्फीन, क्युनीन, टैनोन, कॉफीन आदि) भी प्रादुर्भूत होते रहते हैं।—लें।

उनके 'सजातीय' पोषक द्रव्यों और गुणों से ही हो सकती है,—'विजातीय' से नहीं।^{१४}

यह तो हम पीछे देख ही चुके हैं कि देह के उपादान दोष, धातु, मल 'भीतिक' हैं। भीतिक द्रव्यों से—खाद्य-पेय आदि से—ही इनका पोषण और संवर्धन होता है। भीतिकों में भी पार्थिव, आप्य आदि पृथक्-पृथक् द्रव्यों के वर्ग या द्रव्य जातियाँ हैं और सजातीयता के नियम के अनुसार, 'पार्थिव' आहारद्रव्य 'पार्थिव' देहभागों को—आप्य आप्यों को—इस क्रम से ही हरेक अंग-प्रत्यंग की—अपने-अपने 'सजातीय' आहारांश से पुष्टि एवं गुण-वृद्धि हो सकती है।

पार्थिव देहभागों में हमारे मांस, पेशी, कण्डरा, अस्थि आदि आते हैं। इनमें आकृति, भार, काठिन्य, मांसगंधिता इत्यादि स्वाभाविक गुण हैं। जो पार्थिव आहार, सजातीय वनकर, मांस-अस्थि आदि का संवर्धन करेगा वही इनमें उत्तर गुण भी उत्पन्न करेगा। इसी प्रकार आप्य आहार, सजातीय वनकर, अपने सट्टश रस, शुक्र, स्तन्य आदि का संवर्धन करने के साथ-साथ उनमें द्रवता, स्तिर्घता, मृदुता जैसे गुणों को जन्म देगा। आग्नेय आहार, सजातीय वनकर, पित्त, देहकान्ति, ऊष्मा (ताप) आदि को जन्म देगा। इस प्रकार आहार सामग्री के भीतर जिस-जिस शरीरधातु का जो-जो सजातीय पार्थिव आप्य आदि अंश है, उसों को वह ग्रहण करेगा और उसी से उसकी अंगवृद्धि और गुणवृद्धि हो सकेगी।^{१५}

परन्तु 'सजातीय' होना मात्र ही कदाचित् पर्याप्त नहीं है। क्योंकि पार्थिव देहभाग भी तो नानावर्गीय देखा जाता है। जो पार्थिव तत्त्व अस्थि धातु

२४. 'यथास्वं स्वं च पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणाः पृथक्'। (च० च० अ० १५)
 × × ×

'यथास्वं इति यत् यस्य आत्मीयम् सजातीयाः ।

द्रव्यगुणाः सजातीयान् द्रव्यगुणान् पुष्णन्ति...।' (चक्रपाणि)

२५. 'पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः'। (च० च० अ० १५)
 × × ×

'द्रव्याणि-पार्थिवादिद्रव्यरूपाणि देहधातु-दोष-मलात्यानि पुष्णन्ति। गुणास्तु पाकस्थित गंध-स्नेह-औष्ठ्य-गौरवादयो देहगंध-स्नेह-औष्ठ्य गौरवादीन् पुष्णन्ति। यथास्वं इत्यादि शब्दार्थं स्फोटयति—'पार्थिवाः' इत्यादि। पार्थिव आहारद्रव्य गुणाः देहगतान् पार्थिवान् एव द्रव्यगुणान् पुष्णन्ति।' (चक्रपाणि)

का अंश बनता है वही तो नख, कण्डरा, तरुणास्थि का अंश नहीं बन सकता।

इसी से चक्रपाणि ने आचार्य चरक के सूत्र रूप 'यथा स्वं-स्वं च पुष्णन्ति' की व्याख्या करते हुए लिखा—'यथास्वं' इति यत् यस्य आत्मीयम्—अर्थात् पार्थिव देहांश जो कि अस्थि, उपास्थि, तरुणास्थि, नख, दन्त आदि नाना प्रकारों में परिस्फुटित है, अथवा आप्य अंश जो रस, लसीका, शुक्र, श्लेष्मा, स्तन्य आदि नाना रूपों में निहित है, वह अपने-अपने 'आत्मीय' आहाररसांश से ही बनेगा और उसी से गुण-सम्पन्न हो सकेगा, 'अनात्मीय' को न तो वह ग्रहण कर पावेगा न उससे उसमें गुणाधान ही संभव है।

'सजातीय' आहार द्रव्य में 'आत्मीयता' उत्पन्न होने का परिवर्तन भी 'अग्नि कर्म' द्वारा ही हो पाता है और स्पष्ट है कि उक्त 'सजातीयता' एवं 'आत्मीयता' उत्पन्न करना ही भूताग्नियों का प्रयोजन है।

इस स्थल पर यह स्मरण कर लेना उचित हो होगा कि पाचकाग्नि द्वारा पचाया हुआ आहार, 'अन्नरस' बनकर भी, अभी तक देह के लिए 'विजातीय' ही है। भूताग्नियों द्वारा आगे किया जाने वाला 'पाक' ही इसे देह का 'सजातीय या देहजातीय' और तत् तत् देहांश का 'आत्मीय या देह-सात्म्य' बना सकेगा।

भूताग्नि का स्वरूप :

इससे पूर्व कि हम अन्न-रस-गत (नाना) रूप देहधातुओं के लिए विजातीय) पोषक अंश पर होने वाली भूताग्नि की क्रियाओं के विषय में विचार करें, यह जान लेना आवश्यक है कि भूताग्नि का स्वरूप क्या है।

देह या काया के प्रसंग में 'अग्नि' पर हम पहिले विचार कर चुके हैं। देहाग्नि या पाचकाग्नि का भी विवेचन हुआ है। यह स्पष्ट हो चुका है कि 'पाचक पित्त' का ही दूसरा नाम 'पाचकाग्नि' है, और यह आग्नेय प्रकृति के दीपन-पाचन आदि सूक्ष्म द्रव्यों से युक्त कतिपय स्रावों का मिश्रण है, जो द्रवरूप और ऊष्मायुक्त होता है। यह पाचकपित्त या पाचकाग्नि विशिष्ट रूप, रस, गन्ध, स्पर्श भी रखता है, इसमें पाचन द्रव्यों के साथ समवेत रूप से रहने वाली ऊष्मा का सर्वाधिक महत्त्व माना गया है।

पाचकाग्नि के उक्त स्वरूपवर्णन से इतना तो अनुमान होना स्वाभाविक ही है कि भूताग्नि को भी लगभग इसी प्रकार आग्नेय या अग्निगुणविशिष्ट होना चाहिये, इसमें भी ऊष्मा का (व्यक्त या अव्यक्त रूप में) होना अनिवार्य है।

और यह भी दोपन पाचन-आदि रसायन कर्म करने की क्षमता से युक्त कोई 'भौतिक भाव' होना चाहिए। ऐसा ही है भी, 'भूताग्नि' वस्तुतः रसायनधर्मा—परन्तु आकृति, प्रकृति से कुछ भिन्न-सूक्ष्म द्रव्यों का एक समूह या पुळ है।

पाचकाग्नि और भूताग्नि में एक विशेष अन्तर यह है कि पाचकाग्नि का एकमात्र अधिष्ठान (मुख्य आश्रयस्थल) जहाँ हमारा 'कोण्ठ' विशेषतः आमाशय और पक्वाशय के मध्य में स्थित 'ग्रहणो क्षेत्र' है, वहाँ 'भूताग्नि' हमारे देह के—'भौतिक' देह के—भीतर भी और देह के बाहर भी रहती है; बाहर यह, 'भौतिक' आहार-औषध-द्रव्यों के साथ साथ रहती है।

जो भौतिक द्रव्य अर्थात् पार्थिव, आप्य, आग्नेय, वायव्य नाभस प्रकृति के पदार्थ, स्थावर जंगम-जगत् में से हमारे खाद्य, पेय, लेह्य, चोष्य के रूप में सेवन किये जाते हैं उनके भीतर भूताग्नियाँ स्वतः प्रतिष्ठित या व्यवस्थित^{२६} होती हैं। उनके भीतर ये निगूढ़ रूप में विद्यमान रहती हैं।

खाद्य-पेय आदि भौतिक द्रव्यों के समान, औषधरूप भौतिक द्रव्यों में भी, भूताग्नियों की विद्यमानता स्वाभाविक है। ये आहार-औषध-द्रव्य क्योंकि पार्थिव, आप्य, आग्नेय, वायव्य, नाभस पाँच वर्गों में विभक्त हैं, अतः भूताग्नियाँ भी—अपने-अपने उक्त वर्ग के अनुसार—एक दूसरे से स्वभावतः अलग-अलग और भिन्न-भिन्न हो गई हैं; अग्निकर्मों या रसायन क्रियाओं की विविधता के कारण भी ये अग्नियाँ नानारूपा हैं।

आहार, औषध, द्रव्यों के भीतर निगूढ़ ये सूक्ष्म अग्नियाँ इन द्रव्यों के साथ-साथ हमारे देह के भीतर पहुँचती हैं। जब पाचकाग्नि इन भौतिक द्रव्यों पर अपनी पचनात्मक क्रियायें कर चुकती हैं, तब ये भूताग्नियाँ सक्रिय होती हैं।

प्राचीन आर्य-वैज्ञानिकों ने भौतिक द्रव्यों के भीतर इन भूताग्नियों की सत्ता का ज्ञान करके इनके आधारभूत 'द्रव्य सामान्य' (पार्थिव द्रव्य, आप्य द्रव्य, आग्नेय द्रव्य आदि) का, 'कर्म सामान्य' (मूताग्निपाक रूपी रसायन धर्मिता) का और इन अग्नियों के अग्निकर्मों द्वारा उत्पन्न परिणामों (द्रव्यान्तर जनन एवं गुणान्तर जनन) का, पता चलाकर इनके सामूहिक महत्त्व पर वल दिया है।

आधुनिक शरीर-क्रिया-विज्ञान विशारदों ने तथा मुख्य रूप से वैज्ञानिकों ने भी इस दिशा में अपने ढंग पर विस्तृत कार्य किया है। इन्होंने भौतिक द्रव्यों का

२६. 'भौम आदयः पञ्च ऊष्माणः 'पार्थिव'—आदि द्रव्यव्यवस्थिताः'।
(च० च० अ० १५-१३ की टीका में चक्रपाणिदत्त)

विशेषण कर करके इनमें विशिष्ट-विशिष्ट महत्त्व के द्रव्यांशों की खोज को है, और इनमें से अणुलूप वीर्यवान् (रसायनवर्मा, सूक्ष्म, सक्रिय) अंशों को पृथक करके, इनकी सूक्ष्म रचना प्रकृति एवं जटिल रासायनिक क्रियाओं का अध्ययन किया है।^{१०} ध्यान दिया जाय तो ज्ञात होता है उक्त वीर्यवान् अंशों में पार्थिव, आप्य, आग्नेय, वायव्य, नाभस सभी प्रकृतियों के अंश उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार इन वैज्ञानिकों द्वारा आहार-औषध-द्रव्यों के विभिन्न 'आग्नेय' अंशों पर या 'भूताग्नि विशेष' पर भी स्वतः शोधकार्य हो गया है। अस्तु,

भौतिक द्रव्यों में निविष्ट उक्त पाँचों प्रकार के सूक्ष्म अंश देह में पहुँचकर, क्रमशः पुष्टिकारक, तृप्तिदायक, दीपनं-पाचन, जीवनं शक्तिप्रद और लघुता-जनक परिणाम उत्पन्न करते हैं, इसी कारण प्राचीनों ने वृंहणीय, तर्पणीय, दीपनीय, पाचनीय, जीवनीय^{११}, लाघवकर (क्रमशः पार्थिव, आप्य, आग्नेय, वायव्य, नाभस) आदि द्रव्यवर्ग निश्चित किए हैं।

इनमें से दीपनं, पाचन आदि रासायनिक क्रियायें सम्पन्न करने वाले विशेष वीर्यवान् एवं क्रियाशील अंशों की अव अधिक चर्चा होने लगी है। आयुर्वेद की दृष्टि से इन 'भूताग्नि रूप' द्रव्यांशों को वैज्ञानिकों ने (हिन्दी भाषा में) 'खाद्योज'-‘जीवतिकती’ आदि नाम भी दे दिये हैं।

वास्तव में तो भौतिक औषधाहार-द्रव्यों पर विचार करना और इनके विशिष्ट द्रव्यांशों की चर्चा करना 'द्रव्यगुणविज्ञान' का विषय है।

परन्तु 'अग्नि' के प्रकरण में हमारा विशेष प्रयोजन इनके 'आग्नेय' अंशों से (और इनके सहायक एवं सहकारी होने के कारण 'वायव्य' प्रकृति के अंशों से भी) सिद्ध होता है; क्योंकि ये, अग्निकर्मी (भूताग्नि पाक तथा धात्वग्निपाक) के (क्रमशः) प्रवर्तक (और प्रेरक) ज्ञात हुए हैं।

यहाँ इस प्रकरण में, भौतिक अन्न-रस के पाक-प्रवर्तक आग्नेय अंश को 'भूताग्नि' (और आगे जाकर 'धात्वग्नि') कहा जा सकता है। (इस पाक के प्रेरक वायव्यांश को 'समान वात' कह सकते हैं)।

२७. उक्त वीर्यवान् अंशों या अणु द्रव्यों को आधुनिक विज्ञान में 'विटामिन' नाम से स्मरण किया जाता है।

२८. 'क्षीरं जीवनीयानाम्'—(च० सू० अ० २५) लिखकर आचार्य चरक ने जिस दूध को जीवनीय या जीवन-शक्तिप्रद द्रव्यों में श्रेष्ठतम ज्ञात किया था उसे आधुनिक विज्ञान की शोधों के उपरान्त अनेक प्रकार के जीवनप्रद विटामिन्स का प्रमुखस्रोत माना गया है।

भूताग्नियों में वैसे तो अन्नरसवर्ती सभी रसायन-धर्मा या पाचन अंशों का समावेश है, परन्तु जैसा कि प्रथम कहा जा चुका है; 'अग्नि' रूप (साथ ही 'वायु रूप) खाद्योजों का विशेष महत्त्व है। ये खाद्योज या विटामिन्स, एक बड़ी संख्या में, भौतिक द्रव्यों के भीतर से पृथक् किए जा चुके हैं। ये बहुत प्रकार के हैं।

भूताग्नि-कर्म या भूताग्नि-पाक को दृष्टि से ये दीपन, पाचन, ज्वलन, दहन, उपशोषण, विच्छेदन, वियोजन, संयोजन, विघटन, संघटन आदि अग्निकर्मों (रासायनिक क्रियाओं) के कर्ता—अतएव 'अग्नि' रूप हैं। इस दृष्टि से खाद्योज 'ए', 'डी', 'के', 'ई', 'बी १', 'बी २', 'बी ३', 'नियेसीन', 'पैन्टाथेनिक एसिड', 'वायोटिन', 'फॉलिक एसिड', 'बी १२', 'आयनो साइटोल', 'एस्कोर्बिक एसिड' विशेष उल्लेखनीय हैं।

हमारे दैनिक भोज्य पदार्थों में तथा औषध-द्रव्यों में कौन-कौन से खाद्योज उपलब्ध होते हैं, यह जान लेना एक उत्सुकतापूर्ण और मनोरंजक प्रसंग बन गया है।

उक्त अग्निद्रव्य या खाद्योज, हमारे दुर्घ, नवनीत, घृत, सन्तानिका

२९. दूध में खाद्योज, ए, डी, बी, और सी विद्यमान होते हैं।

—नवनीत में खाद्योज ए और ई पुष्कल मात्रा में उपलब्ध है।

—घृत मलाई और पनीर में खाद्योज 'ए' विशेष रूप से रहता है।

—तंक में खाद्योज 'बी २' की विद्यमानता प्रमाणित हुई है।

—वानस्पतिक तेलों में खाद्योज बी, ए, ई होते हैं। कार्पसिकोज तेल (विनौला तेल) और जैतून तेल में खाद्योज 'ई' विशेष होता है।

—जान्तव स्नेहों में, विशेषतः मत्स्य तल में खाद्योज ए, डी, ई प्रचुर परिमाण में होते हैं।

—अनाजों में, विशेषतः जौ आदि के अंकुरित दानों में, खाद्योज ए, बी, डी, ई होते हैं। गोधूम (गेहूं) में ए, बी, डी, रहते हैं। गेहूं-जौ के चोकर में, 'पैन्टाथेनिक एसिड' नामक खाद्योज रहता है। गेहूं जौ के तुष्ट में डायस्टेटिक एन्जाइम भी होता है। जो इनके पिण्ठ भाग का पाचक है।

—सकई और बाजरा 'बी १' के आश्रय हैं।

—शूक धान्य—तण्डुल के कंचुक में खाद्योज 'बी १२, 'बी ६' और 'निकोटिनिक एसिड' प्रचुर मात्रा में रहते हैं। अनेक शूक धान्यों में खाद्योज 'वायोटिन' पाया जाता है। गेहूं तथा जौ में 'बी १' आश्रित होता है।

—शिश्वी धान्य—यथा मटर में—'वायोटिन' रहता है। मटर एवं सोया-

(मलाई), पनीर, तक, वानस्पतिक स्नेह; जान्तव स्नेह; गेहूँ, जी आदि शूक धान्य; मटर, माष आदि शिम्बी धान्य; दाल, शाक, सब्जी, पत्र, पुष्ण, फल

बीज में 'बी ६' पुष्कल उपलब्ध होता है। माष, मसूर, मूंग, अरहर की दालों में खाद्योज बी, ए, सी पर्याप्त होते हैं।

--शाक-सब्जियों में, विशेषतः हंरे शाकों में, खाद्योज बी, सी, ए, डी और ई प्रचुर मात्रा में होते हैं।

--पत्र शाकों में पालक, सलाद, पत्रगोभी, पटोल पत्र, शिग्रुपल्लव और करबीरपल्लव खाद्योज ए, ई, डी के अच्छे लोत हैं पालक में 'फॉलिक एसिड' पुष्कल मात्रा में होता है।

--नवीन अंकुरित पत्रशाकों में 'बी २' विशेष रूप से रहता है।

--फल-शाकों में—यथा टमाटर में, ए, बी, सी होते हैं; हरी मटर तथा सेम में 'बी १' होता है। हरी मिर्च में खाद्योज-सी पुष्कल मात्रा में रहता है।

--फलों में—विशेषतः ताजे टूटे हुए फलों में सी, ए, बी श्रेणी के 'खाद्योज' अधिक होते हैं। आँखला, सेव, अनन्नास, स्ट्रावेरी एवं रसदार फल यथा—नीबू, नारंगी, सन्तरा, अंगूर खाद्योज-सी के उत्तम लोत हैं।

--कन्द, यथा आलू में 'खाद्योज 'सी' रहता है। शर्कराकंद (शकरकंद) खाद्योज-ए का सर्वोत्तम लोत है। गृन्जन (गोंगलू या शलगम) तथा मूली खाद्योज (बी १) के आश्रय हैं।

--मेवा में 'ए' और 'बी' श्रेणी के खाद्योज पर्याप्त उपलब्ध होते हैं। शुष्क अंजीर और शुष्क खूबानी में 'बी १' पुष्कल मात्रा में रहता है।

--आसवों में और मद्यों में—उनके सन्धानजनित होने के कारण—खाद्योज (बी १२) उपलब्ध होता है।

--आमिषों में विशेषतः मत्स्य मांस में—'एस्कोर्विक एसिड' नामक खाद्योज उपलब्ध होता है। शूकर मांस में 'बी १' प्राप्त होता है।

--अण्ड अर्थात् पक्षियों के अंडे, अग्नि-द्रव्यों एवं खाद्योजों से भरपूर होते हैं; इनमें खाद्योज ए, बी, डी, ई अधिक रहते हैं।

--प्राणिज अवयवों में खाद्योजों का संचय पाया जाता है। उदाहरणार्थ—यकृत् से, बी २, बी १२, फॉलिक एसिड, बायोटिन, पेन्टाथेनिक एसिड, निकोटिनिक एसिड एवं खाद्योज 'के' प्राप्त होते हैं। कॉड तथा हेलिवट नाम की मछलियों के यकृत् से खाद्योज ए ई, पुष्कल मात्रा में उपलब्ध होते हैं। वृक्षों में खाद्योज, ए. ६ बायोटिन संचित रहते हैं। हृदय में से 'निकोटिनिक एनि' न है

कन्द, मूल, मेवा, आसव, मद्य, आमिष, अन्ड' यकृत, वृक्त आदि प्राणिज अवयव, सूर्य किरण, चन्द्र किरण, विविध वनस्पतियों^{३०} तथा औषधी रूप^{३१} जड़ी-बूटियों के भोतर पुष्कल मात्रा में रहते हैं।

ये 'अग्नि' रूप खाद्योज, इन सब आहार द्रव्यों के साथ-साथ हमारे मुख में आते और यहाँ से पचन क्षेत्र में पहुँचते हैं। पाचकाग्नि की क्रियाओं से

है। शृंग आदि से—विशेषतः अःयुर्वेद में सैकड़ों वर्षों से प्रयुक्त होने वाले मृगशृंग, सुक्ता, प्रवाल, शंख एवं शक्ति से खाद्योज 'डी' की प्राप्ति हुई है। —सूर्य किरणों के द्वारा खाद्योज 'डी' का निर्माण संभव हो पाता है। —चन्द्रकिरणों में, चन्द्रमा के 'औषधीष' नाम के कारण अनेक खाद्योज उत्पन्न करने की शक्ति सम्भावित है।

३०. वनस्पतियाँ, वहुसंख्यक (जात और अज्ञात) खाद्योजों के आश्रयस्थल हैं। यथा—

—वृहत्पञ्चमूल, एरंड, जयन्ती, लोध्र, निम्ब, पारिभद्र, त्रिफला, मुस्ता, वासा, मधुयष्ठि तथा चन्दन में खाद्योज 'ए' की उपस्थिति सम्भावित है। —खदिर, दारहरिद्रा, जुम्बर, चट, पलाश, शालमली, दशमूल, रेवन्द चीनी तथा त्रिफला में खाद्योज 'सी' की विद्यमानता है। —मधूक, पलाश, लोध्र, पाषाण भेद, शतावरी, मधुयष्ठि, अश्वगन्धा, वृद्धदारुक, बादाम, इमली वीज और पुत्रजीवक में खाद्योज 'ई' की विद्यमानता संभावित है। —गुग्गुल, धातकी, विल्व में खाद्योज 'डी' विद्यमान है।

३१. औषधियाँ—जो प्रायः वर्षजीवी हैं और फलपाक के उपरान्त सूख जाती हैं—खाद्योजों के असाधारण लोत हैं। उदाहरणार्थ—

—भूम्यामलकी, वृहत्कण्टकारी, स्वर्णक्षीरी में खाद्योज 'ए' की उपस्थिति सम्भावित है।

—दूर्वा, गोक्षुर, कटुकी, त्रायमाणा और जलकुम्भी में खाद्योज 'सी' विद्यमान होता है।

—गोक्षुर, भखान्न, भंगा, मद्यनिंतका वीज (मेहदी वीज) में 'खाद्योज-ई' सम्भावित है।

—पालक, गाँजा, भंगावीज, खाद्योज 'के' के उत्तम आश्रय हैं।

(श्री डा० पद्मदेवनारायण सिंह लिखित 'जीवतिक्तो विमर्श' नामक पुस्तक से साभार)

जब आहार पचता है, तब 'संधात भेद' हो चुकने पर ये आहार से पृथक् हो जाते हैं; परन्तु इस 'स्वतंत्र' रूप में अक्षण बने रहते हैं — छिन्न-विच्छिन्न नहीं होते। फिर ये बिना पचे अर्थात् बिना रूप परिवर्तन किए अन्न-रस के साथ-साथ भीतर उपशोषित हो जाते हैं।^३ वहाँ से भिन्न-भिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए देह के बहुसंख्यक क्षेत्रों और स्थलों को ये लाये जाते हैं, अथवा 'वात' रूप में गति करते हैं।

आधुनिक खोजों से ज्ञात हुआ है कि उक्त खाद्योज या रसायन-धर्म ये द्रव्य जब महास्रोतस् में संधात भेद के उपरान्त स्वतंत्र हो जाते हैं; तब इस स्वतंत्र रूप में इनका 'तैजस' और 'वायवीय' रूप प्रकट होता है और फिर ये 'अग्नि कर्म' तथा 'वात कर्म' के लिए सक्रिय हो उठते हैं।

स्वतंत्र हो चुकने पर जब ये अन्नरस के साथ-साथ उपशोषित होते हैं तो उसके उपरान्त रस रक्त में मिलकर अनुधावन करते हैं। देह की आवश्यकता के अनुसार भिन्न-भिन्न देहावयवों में तथा यकृत्, वृक्क, हृदय, प्लीहा आदि मर्मों में ये संचित भी हो जाते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि इन अग्नि-द्रव्यों को, या वायु-द्रव्यों को, सुरक्षित कोषों के रूप में देह, अपने भीतर बनाये रखता है।^४

इन खाद्योजों की आहार-रसगत भिन्न-भिन्न वर्गों के द्रव्यों पर, बहुत प्रकार की क्रियाएँ देखी गई हैं। ये क्रियाएँ महास्रोतस् से—कोष्ठ से—^५—

३२. 'सच थिंग्स एज बाटर, अन्कम्बाइन्ड मिनरल साल्ट्स, एन्ड अन्कम्बाइन्ड विटामिन्स मे नॉट नीड डायजेस्टिव एकान्त प्रायर टु एव्ज़ोर्प्शन'।

(वायोकेमिस्ट्री, बाई वेस्ट एन्ड टाँड, चेटर-१३)

३३. उदाहरणार्थ—खाद्योज 'के' यकृत् में संचित रहता है। इसकी सहायता से यकृत् अपने पित्तलवणों द्वारा 'प्रोथोम्बीन' नामक द्रव्य को प्रस्तुत करता है और उसे रक्तरस (प्लाज्मा) में भेज देता है। इस द्रव्य से रक्तधातु में स्कन्दन क्षमता या जमने का गुण आता है।

—खाद्योज 'बी २' का संचय यकृत् में और वृक्क में भी पाया गया है।

—इसी प्रकार खाद्योज 'नियेसिन' प्राणियों के यकृत्, वृक्क एवं हृदय में संचित रहता है।

३४. उदाहरणार्थ—खाद्योज 'डी' कोष्ठ में पाचकाग्नि की क्रिया से स्वतंत्र होकर पच्यमान आहार के साथ-साथ भुद्रान्त्र में और फिर स्थूलान्त्र में पहुँचता है। इसकी विद्यमानता एवं उपस्थिति में स्थूलान्त्र की कला

ही आरम्भ हो जाती हैं और ग्रहणीकला,^{३४} यकृत्^{३५} आदि में होने के उपरान्त, रस, रक्त,^{३६} अस्थि आदि प्रत्येक धातु-उपधातु तक होती चली जाती हैं। इतना ही नहीं, ये भूतानि रूप तैजस अंश देह की विविध अन्तमुख ग्रन्थियों, कलाओं, ज्ञानेन्द्रियों^{३७} और विचारेन्द्रिय के स्थल मस्तिष्क तक पहुँचते हैं तथा देहावयवों के—विभिन्न श्रेणियों के—अणु घटकों को प्रभावित करते हैं। अन्ततोगत्वा ये सर्वाङ्ग पर प्रभाव डालते हैं।

खटिक प्रस्फुरित (कैल्सियम फॉस्फेट) को अधिक मात्रा में उपशोषित करने लगती है।

—इसी प्रकार खाद्योज 'सो' अन्त्र में रहता हुआ ही लोह के उपशोषण को बढ़ाता है।

(बायोकेमिस्ट्री, वाई वैस्ट एन्ड टॉड, चैप्टर १३)

३५. उदाहरणार्थ—खाद्योज-'ए' हमारे भोजनों में 'ईस्टर्स' के रूप में होता है। ग्रहणीक्षेत्र या क्षुद्रान्त्र में पहुँचने पर ये 'ईस्टर्स' विघटित होते हैं और खाद्योज 'ए' स्वतन्त्र हो जाता है। क्षुद्रान्त्र से रसायनियों द्वारा यह भीतर उपशोषित हो जाता है, और रक्तरस में जा पहुँचता है। वहाँ से यह भीतर ही भीतर पुनः क्षुद्रान्त्र तक आता है और अन्तर्भितियों की कला में अपना रूप परिवर्तन करके फिर से 'ईस्टर्स' के रूप में आ जाता है।

३६. यकृत् में होनेवाली इन अग्नि-द्रव्यों को वहुविध क्रियाओं का उल्लेख आगे विस्तार से किया गया है।

३७. उदाहरणार्थ—खाद्योज 'के', जैसा कि प्रथम कहा गया है, रक्त धातु को प्रभावित करता है। इसकी उपस्थिति में ही यकृत् 'प्रोथ्रोम्बीन' नामक द्रव्य को तैयार कर पाता है, जिससे रक्त का स्कन्दन गुण साम्यावस्था में बना रहता है। यह न होतो उक्त द्रव्य का भी अभाव हो जाता है और रक्त-स्राव हो जाने पर रक्त जम नहीं पाता। अति रक्तस्राव जीवन के लिये घातक बन जाता है।

३८. उदाहरणार्थ—खाद्योज 'ए' क्षुद्रान्त्र में हाइड्रोलाइफ्ड होकर भौतिक द्रव्य से पृथक् हो जाता है। यहाँ से यह ग्रहणीकला द्वारा उपशोषित होकर भीतर पहुँचता है। फिर वेहभागों में होता हुआ नेत्रों तक चला आता है। यहाँ यह रूपदर्शन कर्म या 'आलोचन कर्म' के लिए उत्तरदायी अग्नि-द्रव्य 'रेटिनीन' में परिणत होता है।

ये अग्नि-द्रव्य जिस प्रकार वानस्पतिक आहार द्रव्यों में होते हैं, उसी प्रकार जैसा कि प्रथम दिखाया जा चुका है, प्राणिज आहार द्रव्यों में—दुर्घ, अण्ड, आमिष, मत्स्य, वसा, मज्जा आदि में भी रहते हैं। इस प्रकार शाकाहारी एवं आमिषभोजी दोनों वर्गों के व्यक्तियों को ये उपलब्ध हो जाते हैं।

इन्हें जहाँ हम अपने दैनिक भोजन में—खाद्य पेय आदि सामग्री के माध्यम से—प्राप्त करते हैं, वहाँ हमारा जीवित देह स्वयं भी इनमें से अनेकों को आवश्यकता के अनुसार तैयार कर लेता है^{१०}। कइयों को हमारे देह के भीतर सहज भाव से रहने वाले सूक्ष्मकृमि या जीवाणु बना लेते हैं।^{१०} ये जीवाणु सम्भवतः उसी श्रेणी के सूक्ष्म जीव हैं, जिनके लिए आयं-चिकित्सकों ने 'सहज कृमि' नाम दिया है और अवैकारिक माना है।

उक्त अग्नि-द्रव्य या भूताग्निलूप आग्नेय अंश, रचना की हृष्टि से, अन्य देहभागों के सहज 'भौतिक' हैं और ये भौतिक तत्वों या मूल भौतिकों^{११} के ही बने हुए हैं। उनमें से भी ये ५-७ भौतिक तत्वों के ही यौगिक या उनकी अदला-

३९. उदाहरणार्थ—खाद्योज 'के' अन्त्र के भीतर तैयार होता है।

—खाद्योज 'बी २' पकवाशय में निर्मित होता है।

—खाद्योज 'डी' को हमारा शरीर सूर्य रश्मियों को सहायता से बना लेता है।

—खाद्योज 'ए' के पूर्व रूप (प्रोविटामिन) को हमारा शरीर 'कॉरोटीन' से तैयार कर लेता है।

४०. उदाहरणार्थ—खाद्योज 'एच' अथवा 'बायोटिन' हमारे महाल्लोत्स में—विशेषतः स्थूलान्त्र में—जीवाणुओं द्वारा बनाया जाता है। यह खाद्यान्त्रों से प्राप्त बायोटिन की अपेक्षा अधिक उपयोगी है।

—खाद्योज 'के' भी अन्त्र के भीतर जीवाणुओं द्वारा तैयार किया जाता है।

—खाद्योज 'बी २' अथवा 'रिबोफ्लेवीन' भी जीवाणुओं द्वारा देह के भीतर बना लिया जाता है, और यह हमारे देह के प्रत्येक अणु या कोशा (सेल) में होता है।

—खाद्योज 'बी १' अथवा 'थियेमीन' को भी देहगत जीवाणु तैयार कर लेते हैं।

(वायोकेमिस्ट्री, वाई वैस्ट एन्ड टांड, चैप्टर-१८)

४१. 'एलिमेन्ट्स'

वदली के खेल हैं, क्योंकि रासायनिक विश्लेषण द्वारा ज्ञात हुआ है कि ये सब प्रायः कज्जल (क), औषजन (ओ), उद्भजन (उ), नव्रजन (न) और गन्धक (ग) के अणुओं तथा मात्राओं के उलटफेर से तैयार होते हैं।^{१३}

भौतिक तत्वों या मूलभौतिकों का 'संयुक्तरूप' होने और रसायनधर्म या आग्नेय होने के कारण इनका 'भूत+अग्नि=भूताग्नि' यह आयुर्वेदिक प्राचीन नाम सार्थक ही है। अस्तु,

यहाँ इस प्रसंग के अन्त में इतना ही कहना अभीष्ट है कि "भौतिक द्रव्यों में व्यवस्थित खाद्योज आदि इन आग्नेय द्रव्यों तथा इनकी रासायनिक सक्रियता के लिए अपेक्षित ऊष्मा—इन दोनों—के समवेत रूप" को सहज ही 'भूताग्नि' शब्द से सम्बोधित किया जा सकता है।

इन्हें भूताग्नि स्वीकार करने या भूताग्नि नाम देने में मुख्य हेतु यह है कि ये (जैसा हम आगे के प्रकरणों में देखेंगे) 'विजातीय' भौतिक अन्नरस को देह का सजातीय या 'देह जातीय' रूप देने के लिए विशिष्ट अग्नि कर्म सम्पन्न करते हैं और उसमें 'द्रव्यान्तर जनन' के साथ गुणान्तर जनन का कार्य करते हुए उन 'भौतिक गुणों' को जन्म देते हैं, जिनकी देह के भौतिक भावों के लिए आवश्यकता होती है।

भूताग्नियों का क्रियास्थल

भूताग्नियों का क्रिया स्थल कहाँ समझा जाय? आधुनिक युग का जिज्ञासु, प्रत्येक वैज्ञानिक तथ्य को, निश्चित और स्पष्ट रूप में देखने-सुनने और समझने का अभ्यासी है। सांकेतिक सूत्रों से उसकी जिज्ञासा शान्त और सन्तुष्ट नहीं होती। इस दृष्टि से भूताग्नियों के क्रियास्थल को निर्धारित करना आवश्यक है।

४२. उदाहरणार्थ —

—खाद्योज 'ए', क, उ (कार्बन उद्भजन) का यौगिक है।

—'खाद्योज 'बी २' उ, क, ओ, न (उद्भजन, कार्बन, औषजन, नव्रजन) का यौगिक है।

—खाद्योज 'ई', क, उ, ओ (कार्बन, उद्भजन, औषजन) का यौगिक है।

—खाद्योज 'पैन्टाथेनिक एसिड' क, ओ, उ, न, ग (कार्बन, औषजन, उद्भजन, नव्रजन, गन्धक) का यौगिक है।

अन्यान्य खाद्योजों की रचना भी इसी प्रकार की पाई गई है।

आर्यवैद्यक के प्राचीन ग्रन्थों को देखने से पता चलता है कि चरक ने आहार पाक के उपरान्त और धात्वग्निपाक के पूर्व, अर्थात् दोनों के मध्य^{४३} में भूताग्नि पाक का उल्लेख किया है।

अष्टांग संग्रहकार ने प्रथम, अन्तरग्नि या पाचकाग्नि द्वारा आहार-पाक-प्रक्रिया का उल्लेख किया है,^{४४} और पचने के समय किटूस्वरूप, दोषों के प्रादुर्भाव की चर्चा की है^{४५}। फिर यह मत व्यक्त किया है कि उक्त पाक के उपरान्त-जब 'अन्नरस' तैयार होकर या विकिलन (विशेषरूपेण क्लेदयुक्त या द्रवांशयुक्त) हो चुकता है और जब अग्नि एवं वात के सहयोग से विभजन कर्म होकर पार्थिव, आप्य आदि आहार भागों के पाँच वर्ग बन चुकते हैं, तब भूताग्नियाँ अपना-अपना कार्य—पचन कर्म—आरम्भ करती हैं।^{४६}

इस वर्णन से स्पष्ट है कि महास्रोतस् में पाचकाग्नि द्वारा आहार का पचन होकर जब उसमें किटूस्वरूप दोषों के 'पूर्व रूप' प्रस्तुत हो जाते हैं और इसके भीतर का द्रवीभूत अंश उपशोषित होकर अन्त्रभित्तियों में आ चुकता है, तब लगभग इस समय से, 'अन्नरस' पर भूताग्नियों की क्रिया आरम्भ होनी चाहिए। अर्थात् अष्टांग संग्रहकार भी भूताग्नि पाक को, आहार पाक के उपरान्त और धात्वग्निपाक के पूर्व ही मानते हैं।

इस भूताग्नि पाक का स्थान निर्धारित करते हुए इसका सूत्र हमें पाचकाग्नि के किशा-स्थल में खोजना पड़ता है।

पाचकाग्नि के कार्य-क्षेत्र के प्रसंग में हम यह देख चुके हैं कि इसके द्वारा पचाये हुए अन्नरस को, ग्रहणी के विस्तृत क्षेत्र पर फैली हुई कला में अन्तर्गुहा की ओर अंकुरित, लगभग पचास लाख महीन-महीन अंकुरिकार्ये या शुण्डिकार्ये आचूषित किया करती हैं। इनमें से हरेक शुण्डिका के मूल में एक-एक रसवहा केशिका संलग्न होती है, जिसमें कपाटिका लगी रहती है। यह कपाटिका इस प्रकार जुड़ी होती है कि आचूषित रस अन्त्र से भीतर की ओर ही जा सकता है, वापिस लौटकर अन्त्र में नहीं आ सकता। उक्त रस-

४३. च० च० अ० १५।

४४. अ० सं० शा० अ० ६।

४५. अ० सं० शा० अ० ६।

४६. 'तत्तत्त्व एवं विकिलने आहारे पंच पञ्चात्मका महाभूताग्नयः वायुना व्यस्तान् यथा स्वंपंचैव भूतगुणान् आहारस्थान् पचन्ति। ते पववाः पुनः यथास्वं एव देहाश्रितान् च स्वविकारभूतान् भूतगुणान् आप्याययन्ति'।
(अ० सं० शा० अ० ६)

चाहिनी केशिकायें—अन्त्रोभिति से भीतर की ओर—'रसकुल्या' से मिली होती हैं। रसकुल्या इस अन्तरस को 'रसप्रपा' में भेज देती है, जहाँ से यह 'हृदय' को चला जाता है।

उपर्युक्त रसवहा केशिका के सदृश ही, उन शुण्डिकाओं के साथ एक-एक सूक्ष्म धमनी भी संयुक्त होती है। शुण्डिकाओं द्वारा उपशोषित अन्तरस का पर्याप्त भाग इन धमनियों में भी जाता है और ये इसे 'यकृत्' की ओर भेजती रहती हैं।

इस प्रकार पाचकाग्नि द्वारा तैयार होकर जो अन्तरस उपशोषित होता है, वह प्रथम ग्रहणीकला में आता है और वहाँ से यकृत् व हृदय—दोनों आशयों को पहुँचता है।

अन्तरस का प्रथम ग्रहणीकला में आना और वहाँ से यकृत् एवं हृदय दोनों की ओर भेजा जाना, यह सब प्रक्रिया आकस्मिक या निरर्थक नहीं होती; यह सामिप्राय और सप्रयोजन है।

कारण कि, हृदय की ओर अन्तरस का वही अंश जाया करता है जो सीधे रक्त में मिल सकने की योग्यता रखता है। यह रस प्रायः उन तैजस सूक्ष्म द्रव्यों और प्रेरक अंशों से युक्त होता है; जिनमें विशेष संघटन, विघटन और रूप परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं होती। दूसरे शब्दों में कहें तो आग्नेय, वायव्य और नाभस प्रकृति का रस आप्य अंश के साथ-साथ प्रायः हृदय की ओर चला जाता है।

परन्तु जो अन्तरस मुख्यतः पार्थिव द्रव्यों से युक्त होता है, वह हृदय की ओर न जाकर, ग्रहणीकला में से यकृत् को ओर भी भेजा जाता है।

स्मरण रहे कि ग्रहणी या क्षुद्रान्त्र, यकृत् और हृदय, ये तीनों आयुर्वेदीय शारीर के अनुसार कोष्ठ के अवयव हैं।

इससे पूर्व यह स्पष्ट हो चुका है कि पाचकाग्नि की आहार पाक-सम्बन्धी मुख्य प्रक्रिया ग्रहणी क्षेत्र तक पूर्ण हो चुकती है; उधर धात्वग्नियों की क्रियायें रस, रक्त, मांस आदि के धात्वीय क्षेत्रों में होती हैं। ऐसी स्थिति में इन दोनों के मध्यवर्ती क्षेत्र के ही काँई विशेष भाग 'भूताग्नि' के क्रिया स्थल होने चाहिए।

उन क्रिया-स्थलों के विषय में प्राचीन क्रिया-शारीर विशारदों के कुछ संकेत प्राप्त होते हैं, उदाहरणार्थ—

अष्टांग हृदयकार ने कोष्ठ में आहारपाक-प्रक्रिया का वर्णन करते हुए उसी क्रम में भूताग्नि की क्रिया का भी उल्लेख कर दिया है।

अष्टांग संग्रहकार ने भी 'कोष्ठ' से ही सूत्र पकड़ा है और बतलाया है कि कोष्ठ में आहार पचने के (तथा उसमें से रसभाग का उपशोषण होने के) उपरान्त शेष अन्नकिटू पक्वाशय की ओर चला जाया करता है । पक्वाशय में अन्नकिटू के आ चुकने के उपरान्त, रसोपशोषण के उसी प्रसंग में उन्होंने भूता. गिनयों की क्रिया का भी उल्लेख किया है, अर्थात् उन्होंने भी 'भूताग्नि पाक' का स्थल 'कोष्ठ' ही माना है ।

इन दोनों से यही संकेत मिलता है कि भूताग्नियों की क्रिया का स्थल 'कोष्ठ' है ।

परन्तु 'कोष्ठ' तो बहुत से आशयों और अवयवों का सामूहिक^{४७} रूप है और वस्तुतः इन अवयवों या 'कोष्ठांगों'^{४८} का समूह ही 'कोष्ठ' कहलाता है ।

कोष्ठांगों में से आमाशय (आमाशय एवं पच्यमानाशय) और पक्वाशय, ये अवयव, जहाँ आहार विद्यमान रहकर पचा करता है, पाचकाग्नि के क्रिया स्थल हैं । यहीं पर यकृत् और अग्न्याशय भी अपने-अपने पाचकाग्नि के अंश भेजते रहते हैं । इसके आगे, फिर इस पक्व आहार का रस बनकर, जहाँ-जहाँ वह (रस) भेजा जाता है, उन स्थलों में, अर्थात् ग्रहणीकला, यकृत् और हृदय इन तीन अवयवों में भूताग्नि की क्रियाएँ होनी चाहिए ।

इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि भूताग्नियों के ये क्रियास्थल—ग्रहणीकला, यकृत् और हृदय, आयुर्वेदानुसार 'अग्निकर्मों' के महत्त्वपूर्ण स्थान हैं । ये तीनों, पित्तों के (पाचक, रंजक, साधक के) आश्रय हैं । प्राचीन व नवीन^{४९} आचार्यों ने इन्हें कोष्ठांग भी माना है । सबसे मुख्य बात यह कि इन तीनों ही स्थलों में भूताग्नि रूप खाद्योजों के कोष भी पाये जाते हैं, जो भूताग्नि पाक के निमित्त ही यहाँ संचित होते हैं ।

इनमें भी उक्त ग्रहणीकला व यकृत् को तो 'प्रयोगशाला' वल्कि 'महायन्त्र' कहना चाहिए, जहाँ प्रथम तो प्रायः समस्त पार्थिव और आप्य अन्नरस संगृहीत

४७. 'स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च ।

हृत् उण्डुकः फुर्फुसवच 'कोष्ठ' इति अभिधीयते' । (सु० शा० २-१२)

४८. पंचदश कोष्ठांगानि, तद्यथा—नाभिश्च हृदयं च कलोम च यकृच्च प्लीहा च वृक्को च वस्तिश्च पुरीषाधारश्च आमाशयश्च पक्वाशयश्च उत्तरगुदं च अधरगुदं च खुद्रान्तं च स्थूलान्तं च वपावहनं च इति' ।

(च० शा० अ० ७)

४९. नवीन गर्भविज्ञान के अनुसार भी ये अवयव 'कोष्ठ' के ही विस्तार हैं ।

होता है; दूसरे, नानाविध रासायनिक प्रक्रियाओं द्वारा दोप, धातु, कमलरूप, वहुसंख्यक नव्य और जीर्ण द्रव्यों का विघटन, संघटन, विच्छेदन, दहन, परिणमन भी होता रहता है; अर्थात् ये दोनों कोष्ठावयव 'अग्नि कर्म' के विशेष केन्द्र हैं, और यहीं पर भूताग्नियों के वहुविध अग्निकर्म या पाक होना संगत और स्वाभाविक हो जाता है।

हृदय, जहाँ अधिकांश आप्य, आग्नेय, वायव्य और नाभस अंशों से परिपूर्ण अन्नरस पहुँचायां जाता है, यह भी वैसे तो मुख्य 'मर्म' है—यहाँ महागुणों के साथ-साथ अग्नि, वायु, जल, औज एवं प्राण विशेष रूप से प्रतिष्ठित होते हैं, परन्तु भूताग्निपाक के निमित्त, पूर्वकथित दोनों महायन्त्रों को सम्पूर्ण अन्नरस पुनः-पुनः—क्रमशः—और लगातार पहुँचाते रहना, फिर वहाँ से उसे अन्यत्र प्रवाहित करते रहना, यह सब महत्त्वपूर्ण कार्य हृदय ही सम्पन्न करता है। हृदय, विभिन्न अन्तर्मुख और वहिमुख ग्रन्थि-स्रोतों में प्रादुर्भूत हो होकर रस-रक्त के माध्यम से अनुधावन करती आने वाली नानारूपा अग्नियों का संगम स्थल है, यह अग्निद्रव्यों का कोष भी है, अतः भूताग्निपाक में इस अवयव का उपयोग अनिवार्य रूप में होता रहता है।

संक्षेपतः, भूताग्निपाक में कोष्ठ के तीन अवयव परम सहायक और प्रमुख समझे जा सकते हैं : ग्रहणी की पित्तधराकला, यकृत् और हृदय। यही तीनों भूताग्नि के सम्भावित क्रियास्थल हैं।

भूताग्नि पाक

भूताग्नियों से होने वाले पचनकर्म के विषय में प्राचीन आर्यचिकित्सकों ने निश्चय ही विस्तृत विवेचन किया होगा। परन्तु आज सूत्ररूप में जो कुछ लेखबद्ध अंश जहाँ-तहाँ उपलब्ध हैं, उससे संक्षिप्त रूप में इतना पता चलता है कि इस 'भूताग्नि पाक' कर्म से अन्नरस के भीतर पृथक्-पृथक् विद्यमान पार्थिव, आप्य, आग्नेय, वायव्य, नाभस अंशों का पुनः (पाचकाग्नि के पचन के उपरान्त) पचन भी होता है और इस द्वितीय पचन के परिणामस्वरूप, इन सब में गुणों का प्रादुर्भाव भी होता है। ये गुण या विशेषतायें उत्पन्न कराना ही भूताग्नि का मुख्य कार्य है।^{५०} इसी से संहिताकारों ने सीधे ही गुणपचन की वात कह दी है।^{५१}

५०. 'यद्यपि भूताग्निना पार्थिवादि द्रव्यं पञ्चते तथापि द्रव्याणां पाकेन एतदेव जननं यत् विशिष्टगुणयुक्तत्वम्।'

(च० चि० अ० १५ को टोका में चक्रपाणि)

५१. 'पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादान् पञ्चत्ति हि'।

(च० चि० अ० १५-१३)

इससे पहले के प्रकरणों में यह स्पष्ट हो चुका है कि पाचकाग्नि की क्रिया से पचकर जो अन्नरस देह के भीतर आचूपित होता है, उसका यद्यपि पाक तो हुआ होता है, पर वह एक सीमा तक ही पचा होता है।

आयुर्वेद के प्राचीन क्रियाशारीर-वेत्ताओं के संगृहीत वचनों से यह बात प्रकट होती है कि पाचकाग्नि द्वारा जहाँ आहार का रूप बदलता है, उसके पार्थिवादि द्रव्य घुलकर वह आप्यांश-वहुल बनता है और पच्यमानाशय या ग्रहणीक्षेत्र में से उपशोषित होकर (अन्नरस बनकर) देह के भीतर पहुँचता है; वहाँ सबसे प्रथम और मुख्य बात तो यह है कि इस आहार का 'संधात भेद' पूर्ण रूप में हो जाता है।^{५२} यह संधात भेद सम्पूर्ण हो चुकने पर (और इस भिन्नसंधात 'अन्नरस' के उपशोषित हो चुकने पर) ही भूताग्नियों का पचनकर्म आरम्भ होता है।

स्पष्ट है कि जो आहार हम खाते हैं, वह महाभूतों का संधात रूप होता है; क्योंकि उसमें पाँचों महाभूतों की पारस्परिक समूच्छनाओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न नाना प्रकार के पदार्थ (आटा, दाल, चावल, घो, दूध, पानी आदि) मिश्रित होते हैं। ये सब पृथक्-पृथक् पदार्थ भी महाभूतों का संहतरूप (रासायनिक क्रियाओं द्वारा उत्पन्न सबका मिला-जुला रूप) ही है। पाचकाग्नि के प्रभाव से वह संहतरूप या संधात, विशिष्ट हो-होकर दूटता है। हमने देखा कि पाचकाग्नि को रासायनिक क्रियाओं के पश्चात् सब आहारद्रव्य, छिन्न-विच्छिन्न होकर रूपपरिवर्तन कर लेते हैं। अन्नरस में ये द्रव्य यद्यपि घुले हुए और एकाकार-द्रवरूप दिखाई पड़ते हैं, पर वास्तव में इनके पार्थिव, आप्य, आग्नेय, वायव्य, नाभस ये वर्ग स्वभावतः बन चुकते हैं। इन अपने-अपने वर्गीय द्रव्यों पर ही आगे पार्थिवाग्नि-आप्याग्नि आदि अग्नियों की क्रियायें होती हैं।

वास्तव में तो हमारे मुख में आहार के आते ही पाचकाग्नि की (अग्नि रूप विविध पाचक स्रावों की) क्रियायें समस्त आहार पर एक साथ और एक सदृश न होकर उसके पार्थिव, आप्य आदि अंशों पर अलग-अलग और विसदृश (एक दूसरे से भिन्न) रूप में होनी आरम्भ हो जाती हैं। आहार के पार्थिव, आप्य आदि अंशों पर अलग-अलग पचन क्रियायें होते-होते अन्त को

५२. 'उक्तं च—जाठराग्निना पूर्वं कृते संधातभेदे पश्चात् भूताग्नयः पञ्च स्वं स्वं द्रव्यं पचन्ति'।

(च० चि० अ० १५ को टीका में चक्रपाणि द्वारा उद्धृत तत्त्वान्तर वचन)

एक समय ऐसी स्थिति आ जाती है, जब पच्यमान आहार में उक्त पार्थिव आदि अंश अपने-अपने निराले रूप में पचकर और परिवर्तित होकर अन्नरस में घुल-मिल जाते हैं।—अर्यात् पाचकाग्नि की क्रियाओं से आहार द्रव्यों का जो संघात भेद होना आरम्भ हुआ था, वह अन्नरस वन चुकने तक पूरा हो जाता है और अन्नरस में पार्थिव, आप्य, आग्नेय, वायव्य, नामस प्रकृति के पदार्थ छुले हुए रूप में होने पर भी उनका अपना-अपना पचा हुआ अंश भिन्न-भिन्न प्रकार का ही रहता है।

आधुनिक समय में, इन पार्थिव-आप्य आदि भौतिक वर्गों के अन्तर्गत आने की योग्यता रखने वाले और इन रूपों में समझे जा सकने वाले द्रव्यों पर स्वतन्त्र खोजें हो चुकी हैं। यह भी ज्ञात किया गया है कि पाचकाग्नि से पाक किए जाने के उपरान्त इन पार्थिव आदि द्रव्यों के क्या-क्या रूप वन जाते हैं।

इन खोजों के प्रकाश में विचार करें तो ज्ञात होता है कि इनमें से पार्थिव वर्ग के गेहूँ, दाल, पनीर, आमिष आदि में रहने वाले पार्थिवांश (वेजी-टेबिल और एनीमल प्रोटीन्स) में परिवर्तन लाकर, 'पाचकाग्नि' इन्हें अन्य रूप (एमाइनो एसिड्स) में बदलती है। दूसरे शब्दों में कहें तो भोजन-गत मुख्य पार्थिव अंश, जिससे हमारा पार्थिव देह भाग—विशेषतः मांस, शिरा, धमनी रूप धातु उपधातु—बनता है और जो पार्थिव अंश अब तक समस्त खाद्य पदार्थों के साथ मिश्रित था, उसका संघातभेद होकर वह अब अन्नरस में 'एमाइनो एसिड्स' नामक 'पार्थिव द्रव्यों' का एक पृथक् वर्ग या समूह बन जाता है।

पार्थिव वर्ग के ही आलू, चीनी, चावल आदि में रहने वाले अन्य पार्थिवांश (वेजीटेब्रल स्टार्च) को पृथक् करके और पचाकर (परिवर्तित करके) उसे यह पाचकाग्नि 'ग्लुकोज़' का रूप प्रदान करती है।

पार्थिव वर्ग के सुवा या केलिसयम धातु को पाचकाग्नि 'केलिसयम फ्लॉस्फेट' का रूप देती है।

आप्य वर्ग में से घृत, तेल, वसा आदि स्नेह को, उनमें पाक क्रियाओं द्वारा परिवर्तन करके और उन्हें विच्छिन्न करके पाचकाग्नि उन्हें 'फैटी एसिड्स' और 'ग्लिसरोल' का रूप देती है।

आप्य वर्ग के ही जल, शाकयूष, फलरस, दूध आदि का पचन होकर इनमें छुले हुए पार्थिव आदि भाग पृथक् हो जाते हैं। आप्य अंश 'स्नेह' का पूर्वोक्त विधि से पचन होता है, अन्य आप्य अंश 'जल' का बहुत-सा भाग

पच्यमान अन्न के साथ-साथ रहता है। जल के कुछ भाग का उपशोषण भी होता है। इसमें धुले हुए आग्नेय, वायव्य आदि अंश अपने-अपने वर्गों के साथ हो जाते हैं।

आग्नेय वर्ग के ताम्र, लोह, मैंगनीज, प्रस्फुरक; गन्धक-प्रभृति खनिज एवं आकरज द्रव्यों से अंश, अग्नि से रूपान्तरित या परिवर्तित होकर अन्नरस में विलीन होने योग्य बन जाते हैं। यही इनका पचन है। इस रूप में ये देह के भीतर उपशोषित हो जाते हैं। उष्णवीर्य, तीक्ष्ण गुण, अम्ल-कटु-रसयुक्त आग्नेय द्रव्यों का पाक होकर उनका भी सार अंश पच्यमान आहार रस में आ जाता है। भौतिक अन्नद्रव्यों में निहित खाद्योजों (या विटामिन्स) में से आग्नेय प्रकृति के बहुत-से खाद्योज अब स्वतन्त्र हो जाते हैं। स्वतन्त्र रूप में ये 'पाचनांश' या 'अग्नि रूप' बन जाते हैं। इस प्रकार आग्नेय द्रव्यों का भी एक पृथक् वर्ग अन्नरस में रहता है।

आग्नेय-द्रव्य वर्ग के सूक्ष्म वायव्य और नाभस प्रकृति के सूक्ष्म द्रव्य भी, अपने विशिष्ट (चिन्तनीय) रूपों में (यथा—प्रेरक और क्रियाशील एन्जाइम्स, चल या अस्थिर प्रकृति के एवं क्रियाशील खाद्योज आदि) अन्नरस के साथ-साथ रहते हैं।

इन सब में से पार्थिव और आप्य द्रव्य देह को सूर्तरूप प्रदान करने योग्य होने एवं 'तर्पण' होने के कारण, अन्नरस के भीतर स्वभावतः प्रचुर परिमाण में रहते हैं। आग्नेय द्रव्य, दीपन, पाचन, दहन आदि रसायन-कर्मोपयोगी होने एवं उपचयमूलक होने से अल्पमात्रा में भी यथेष्ट परन्तु अपरिहार्य होते हैं।

वायव्य द्रव्य, प्रेरक प्राणप्रद एवं जीवनीय होने से तथा नाभस द्रव्य लघुता एवं सौषिर्यजनक होने से, इनकी भी अन्नरस में विद्यमानता अनिवार्य है।

यह तो स्पष्ट ही है कि पाचकाग्नि से पचन के समय आहार में तैजस पित्त का (आमाशयस्राव, याकृतस्राव, अग्न्याशयस्राव एवं पित्तधराकला के स्रावों का) मिश्रण हो चुकता है, इससे अन्नरस के भीतर आग्नेय अंश प्रवल हो जाता है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, पित्तधराकला, यकृत् और हृदय—ये स्थल पित्त के अधिष्ठान भी हैं और भूताग्नियों की क्रियास्थली भी हैं, इसमें स्वतः अग्नि के सूक्ष्म अंश (खाद्योज, पाचनांश एवं ऊर्जा के रूप में) विद्यमान रहते हैं। इन सब में अन्नरस का चंक्रमण होते रहने के कारण यह रस अग्नि से और अधिक प्रभावित होता है; सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि

पाचकाग्नि द्वारा किए गये संघातभेद के परिणाम स्वरूप आग्नेय प्रकृति के खाद्योज इस समय तक स्वतन्त्र—वृन्धनहीन—बना दिये जाते हैं। उपरिलिखित आग्नेयभूमि या आग्नेय माध्यम में तथा स्वतन्त्र स्थिति में इन खाद्योजों का अग्नि-गुण (पचनात्मक वैशिष्ट्य) अब विकसित और प्रचण्ड हो उटता है। इसे आयुर्वेद में 'पाचकाग्नि द्वारा भूताग्नियों का संधुक्षण या प्रदीपन' कहा गया है और वास्तव में ही पाचकाग्नि से शक्ति पाकर इस समय तक पार्थिवाग्नि-आप्याग्नि आदि पाँचों भूताग्नियाँ प्रदीपत हो उठती हैं।^{५३}

इसके उपरान्त इन भूताग्नियों द्वारा किए जाने वाले अग्निकर्म का अवसर आता है।

उपशोषित अन्नरस पित्तधरा कला के घटों में से होता हुआ सूक्ष्म धमनियों के माध्यम से यकृत् यन्त्र में पहुँचता है। पित्तधरा कला और यकृत्, जैसा कि प्रथम कहा गया—विशिष्ट पाकस्थली या अग्निकर्म के केन्द्र हैं।

यहाँ पहुँचे हुए रस का इसकी अपनी भूताग्नियों से तथा इन केन्द्रों में संचित अग्नियों से पाक प्रारम्भ होता है।

भूताग्नियाँ, पूर्वोक्त पृथक्-पृथक् वर्ग के भौतिक द्रव्यों को देह का सजातीय बनाने के प्रयोजन से इनका अनेक प्रकार से पाक (रासायनिक रूप परिवर्तन) किया करती हैं। यह पाक, विशेष रूप से, पार्थिव और आप्य वर्ग के द्रव्यों का होता है।

इसे सम्पन्न करने में भूताग्निरूप 'खाद्योज' और इनके परिवर्तित रूप 'पाचनांश' (विटामिन्स से बने हुए एन्जाइम्स), मुख्य भाग लेते हैं। साथ ही ताप या ऊष्मा का सहयोग भी इस अग्निकर्म के लिए अपरिहार्य है।

भूताग्नि पाक में अन्नरसवर्ती (संघातभेद से पृथक्-भूत पार्थिव-आप्य आदि) सूक्ष्म द्रव्यों पर रासायनिक क्रियायें होकर उनका पुनः रूपपरिवर्तन होता है। अन्नरसगत इन पार्थिव आदि द्रव्यों के पुनः परिवर्तित होने से इनके क्या-क्या रूप बन जाते हैं, इसकी भी खोजें हुई हैं और पाया गया है कि पार्थिव वर्ग की 'एमाइनोएसिड्स' रूपी प्रोटीनें इस नवीन (भूताग्नि) पाक के उपरान्त अब नाना प्रकार की ऐसी प्रोटीनों में बदलती हैं; जो हमारे देह में विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार स्थूल, कठिन, सान्द्र, गुरु और गन्ध आदि गुणों से युक्त बहु-

५३. 'भौम आदयः पञ्च ऊष्माणः... जाठराग्नि-बल-संधुक्षितबलाः।'

(च० च० अ० १५-१३ की टीका में चक्रपाणि)

विध देहावयवों के निर्माण में या दूसरे देहकार्यों में आ सकती हैं; यथा—प्लाइम्स प्रोटीन, ग्लोब्युलिन, एल्ब्युमिन, प्रोथ्रोम्बिन आदि। इस प्रकार की प्रोटीन में अनेक प्रोटीनें, क्योंकि अब देहांश बनने की योग्यता प्राप्त कर चुकती हैं, अतः ये आपत्काल में धात्वग्निपाक के समय काम आने के लिए, यकृत् के घटों ; संचित भी हो जाती हैं। स्मरण रहे कि इससे पहिले तक 'देह' का सजातीय न होने से इनमें धात्वांश बनने और देह में संचित हो सकने की क्षमता नहीं थी।

इसी प्रकार पार्थिव 'ग्लुकोज़' पर भूताग्निं की क्रिया होने से उसमें मात्रापाक (मोलिक्युलर चेंज) होकर, वह 'ग्लाइकोजन' में बदल जाती है। इस ग्लाइकोजन में देहधर्मिता उत्पन्न होकर देह के भीतर रह सकने की क्षमता होती है और यह भी यथासमय उपयोग में आने के लिए यकृत् में संचित रहती है।

आप्यवर्गीय स्नेहाम्लों और ग्लिसरोल पर भूताग्निपाक की प्रक्रिया का यह परिणाम होता है कि इनमें परिवर्तन होकर ये 'लाइपिड्स' के रूप में आ जाते हैं। इनमें यह क्षमता उत्पन्न हो जाती है कि ये अब रक्त में घुलकर उसके साथ-साथ देह में अनुधावन कर सकें और देहगत मेदस् के अंग बनें। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि स्नेह द्रव्य पाचकाग्नि द्वारा पचकर 'मॉनो ग्लिसराइड्स' के रूप में क्षुद्रान्त्र की कला द्वारा आचूषित हुए थे। क्षुद्रान्त्र य ग्रहणीक्षेत्र की पित्तधराकला ने इन्हें उपशोषित कर और इनका पाक करके इन्हें 'ट्राइग्लिसराइड्स' का रूप दिया, और वाद में 'फॉस्फोलाइपिड्स' में बदल दिया,^{५४} ताकि ये रसधातु में मिल सकने योग्य—उसके सजातीय—बन सकें और रस प्रपा^{५५} द्वारा हृदय में जाकर रक्तधातु में मिश्रित हो सकें।

आग्नेय वर्ग के अनेक द्रव्य भी भूताग्निन-पाक के द्वारा यकृत् में रूप-परिवर्तन करते हैं। उदाहरणार्थ—लोह, अब 'फैरीटीन' का रूप ग्रहण करता है और देहधर्मा बनकर देह के भीतर रह सकने की क्षमता पाकर यकृत् में संगृहीत होता है।

संक्षेप में, भूताग्निपाक की विशेषता यह है कि इस अग्निकर्म के उपरान्त भौतिक द्रव्यों में वे योग्यतायें उत्पन्न हो जाती हैं; जिनसे ये अब देहधर्मा बनकर और देहसात्म्य होकर देह का अंश बन सकते हैं तथा आवश्यकतानुसार देह

५४. देखें—'बायोकैमिस्ट्री' बाई वैस्ट एण्ड टॉड, चैप्टर १४, पृष्ठ ४९६।

५५. आघुनिक क्रिया-शारीर में 'थोरेसिक डक्ट'।

के भीतर विस्तरण, भार, आद्रेता, स्तनग्वता, ताप, गति, लघुता, सुपिरता आदि विशेषताओं को जन्म दे सकते हैं।

द्रव्यों में इस प्रकार की योग्यता उत्पन्न होना वस्तुतः उनके 'गुणपरिवर्तन' के पश्चात् ही सम्भव है और द्रव्य के गुणों में परिवर्तन तभी आता है जब उसकी मूल मात्राओं में (मीलीक्यूल्स में) परिवर्तन कर दिया जावे। भूताग्नि-पाक द्वारा अन्नरसवर्ती सूक्ष्म द्रव्यों की मूल-मात्राओं में परिवर्तन हो जाता है। यह मात्रा-परिवर्तन (मीलीक्यूलरचेन्ज) करना भूताग्नि पाक की अपनी विशेषता है। इसे आयुर्वेद में 'अन्तरीय द्रव्य'" का पचन' कहा गया है और अन्नरसगत पार्थिव आदि द्रव्यों में, देह के मांस अस्थि आदि की गन्ध के समान विस्तरण के जन्म देने को—या दूसरी इसी प्रकार की विशेषताओं उत्पन्न कर सकने की क्षमता को—'भूताग्नियों द्वारा विलक्षण गुणोत्पत्ति'" या 'विशिष्ट गुणोत्पादन'" कहा गया है और यही इन अग्नियों की विशेषता है।

अन्त में यह स्मरण कर लेना उचित ही होगा कि भूताग्नि पाक के उपरान्त पिछला 'विजातीय' अन्नरस अब देह के लिए 'सजातीय' हो जाता है। विजातीय रहने तक वह देहधातुओं के उपयोग में नहीं आ सकता था। किन्तु देह का सजातीय या 'देहजातीय' हो जाने पर यह 'देहधर्म' बन जाता है और देह के लिए अनुकूल या देह-सात्त्व्य हो जाता है। अतः धातुयें इसे अपने कार्य के लिए ग्रहण कर सकती हैं। इतना ही नहीं, यह देह के भीतर, इसके भिन्न-भिन्न धातुओं और आशय अवयवों में यथावश्यक समय तक संचित भी रह सकता है। इसे अब 'अन्नरस' के स्थान पर 'देहपोषक' रस कहा जाता है।

५६. 'भौम आदयः पञ्च ऊर्ज्ञाणः—अन्तरीयं द्रव्यं पचन्तः'।

(च० चि० अ० १५ की टोका में चक्रपाणि)

५७. 'भौम आदयः पञ्च ऊर्ज्ञाणः—स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पार्थिवगन्धत्वं आदि विलक्षणान् गुणान् निर्वर्तयन्ति'।

(च० चि० अ० १५-१३ की टोका में चक्रपाणि)

५८. 'यद्यपि भूताग्निना पार्थिवादि द्रव्यं पच्यते तथापि पार्थिवादिद्रव्याणां पाकेन एतद् एव जननं यत् विशिष्ट-गुणयुक्तत्वम्'।

(च० चि० अ० १५ की टोका में चक्रपाणि)

प्राकृत धात्वग्नि विमर्श

धात्वग्नि

धात्वग्नि और नवधातुनिर्माण के सिद्धान्त

अन्नपाचकाग्नि तथा भूताग्नि की भीमांसा के उपरान्त धात्वग्नि की चर्चा का मार्ग बहुत कुछ प्रशस्त हो जाता है; क्योंकि उक्त अग्नियों के प्रकरणों में उनके प्रयोजन, स्वरूप, कर्म आदि पर जो विचार हुआ है, वह धात्वग्नि के भी प्रयोजन और स्वरूप आदि के समझने में सहायक है।

इसके अतिरिक्त, जिस आहार से धातु-निर्माण-कार्य भविष्य में सम्पन्न होना है, वह भी पूर्वोक्त अग्नियों से पचता हुआ अब इस स्थिति में आ चुकता है कि उस पर धात्वग्नि की क्रिया हो सके।

फिर भी धात्वग्नि और धात्वग्नि-पाक पर विचार करने से पूर्व कुछ वातों को ध्यान में ले आना आवश्यक है।

सजीव देह के विश्लेषण के प्रसंग में दोषों और मलों के साथ-साथ देहधातु शब्द से हम परिचित हो चुके हैं। उपधातु का भी वर्णन शरीर रचना-शास्त्र में यथास्थान वर्णित है। उपधातुओं का धातुवर्ग में समावेश है। धातु-उपधातुओं के अतिरिक्त इन्द्रियों के आयतन, विभिन्न आशय, अवयव, मर्म, ग्रन्थि आदि भी, धातु-उपधातुओं से निर्मित होने के कारण, इन सबका धातु वर्ग में ही परिगणन हो जाता है। मलों की चर्चा एक स्वतन्त्र विषय है और उसके लिए पृथक् प्रकरण अपेक्षित है।

अन्नरस से इन धातु-उपधातुओं का निर्माण करना, एक धातु से उत्कृष्टतर अपरधातु के निर्माण की सामग्री प्रस्तुत करना और धात्वीय मलों को निर्हरण के योग्य बनाना, ये सब धात्वग्नि के मुख्य-मुख्य कार्य हैं।

इन सब पर विचार करने से पूर्व इस विषय से सम्बन्धित कुछ आर-मिभक वातों की चर्चा आगे की जा रही है।

शरीर-क्रिया-विज्ञान-विषयक यह तथ्य शताङ्गियों पूर्व जाना जा चुका था कि शरीर की शक्ति, त्रिधातु (वात, पित्त, श्लेष्मा या त्रिदोष) के सन्तुलन

पर निर्भर करती है। ये तीनों शक्तिस्रोत हैं और इन्हीं तीनों से धातु-उपधातुओं में गति, पाक और उदक-कर्म सम्पन्न होकर उनका निर्माण होता है।

यह तथ्य भी ज्ञात किया गया था कि दोष, धातु, मलों से निर्मित शरीर का जीवित दशा में प्रतिपल निर्माण और हास होता रहता है। इन दोनों परस्पर विरोधी कर्मों और इनके लिए भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं की ओर संकेत करते हुए 'देह'^१ और 'शरीर'^२ शब्दों की रचना की गई प्रतीत होती है, जो क्रमशः हमारी सजीव काया के वृद्धि एवं हास के सूचक हैं।

धातु आदि के निर्माण और हास का यह कार्य, उनके भीतर प्रतिष्ठित 'अग्नि' की क्रिया पर निर्भर करता है^३। वाह्य अग्नि द्वारा अनेक लीकिक वस्तुओं के समान हमारे देह की प्रत्येक धातु के कण उसकी अग्नि (एवं वायु के सहयोग) से विघटित हुआ करते हैं। इस विघटन से वह धातु क्षीण होता रहता है और इस क्षीणता की पूर्ति के लिए हमें नित्य तथा बारम्बार आहार लेना पड़ता है।^४ आहार का पाचकाग्नि से 'अन्नरस' तैयार होता है। अन्नरस को देह धातुओं द्वारा ग्रहण करने योग्य बनाने के लिए भूता-

१. 'वायुरायुर्वलं वायुः' के अनुसार 'वात', क्रियामूलक शक्ति या वातिक शक्ति (वाइटल इनर्जी) का जनक है। इस प्रकार की शक्ति का आभास शशक, चूहे आदि में मिलता है।

'अग्निमूलं वलं पुंसाम्' के अनुसार अग्निमूलक शक्ति या पैत्तिक शक्ति (थर्मल इनर्जी) का जनक पित है। इस प्रकार की शक्ति व्याघ्र, रोछ, सर्प आदि हिंस्र जन्तुओं में देखी जाती है।

'प्राकृतस्तु वलं श्लेष्मा' के अनुसार श्लेष्मा या कफ के श्रेष्ठतम रूप 'ओज' से जिस वल की उत्पत्ति होती है, उसके उदाहरण रूप में गज और वृद्ध (साँड) को ले सकते हैं।

२. 'दिह उपचये' इत्यस्मात् देहः। दिहते उपचयते अन्नादिभिः इति देहः।

३. 'शीर्यते' इति शरीरम्—प्रतिपल शीर्ण, विशोर्ण या ध्वस्त होता रहने वाला।

४. '... शरीरवृद्धिश्च तैजसानि भवन्ति'।

(ऋ० सं० गभविक्रान्ति)

५. 'एतेन सर्वदा स्व-अग्निपाक-क्षीयमाणधातोः शरीरस्य अशितादिना उपचय आदि योजनं उपपन्नं इति दर्शयति।'

(च० स० अ० २८ की टीका में चक्रपाणिदत्त)

ग्नियों को उसे देह का 'सजातीय' बनाना पड़ता है, तब वह नवीन धातु कणों के निर्माण-कार्य में लिया जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नित्य क्षीण होते रहने वाले—अतएव 'अस्वस्थ' होते हुए—रस, रक्त, मांस आदि धातु अन्नरस या रस को खा-खाकर ही अपनी क्षीणता दूर करते हैं, और पुनः स्वस्थ हो पते हैं।^६ अर्थात् हमारे देहधातु धातुभक्षी या 'धात्वाहारी' हैं, ये रस रूपी 'धातु' के भोजन पर निर्भर रहकर जीवन यात्रा करते हैं।^७

पीछे जिस धातु-हास की चर्चा की गई है, उसके प्रसंग में यह बात भी स्मरणीय है कि उक्त हास या 'धातुकणों के विनाश' का कार्य व्यथ में—निष्ठ्रयोजन—ही नहीं होता। इसके मुख्य दो प्रयोजन हैं; प्रथम, देह-कार्यों के उपयोग के लिए ऊष्मा या ताप की और उससे 'ऊर्जा' या आग्नेय शक्ति की उत्पत्ति करना; द्वितीय, क्षत-विक्षत या घिसे-टूटे हुए धातुघटों के स्थान पर नवीन धातु-घटों के लिए स्थान बनाना।

जीर्ण धातु-घटों का विघटन और नवीन घटों का संघटन करते रहने वाला हमारा यह शरीर किसी यन्त्रागार या महायन्त्र जैसा ही समझा जा सकता है। परन्तु प्रकृति ने इस यन्त्र को लोहे-लकड़ी का न बनाकर अस्थि, मांस, शिरा, स्नायु, रक्त, रस आदि ठोस, कठिन, लुचलुचे, कोमल, संकोच विकासशील और द्रव आदि नाना प्रकार के तन्तुओं से बनाया है। यन्त्र के समान ही हमारे देह-यन्त्र के कल-पुर्जे भी सक्रिय रहते हैं, और देह-यन्त्र के पुर्जों का घिसना-टूटना भी स्वाभाविक है।

पर देह-यन्त्र की रचना, कार्य और मरम्मत-सम्बन्धी व्यवस्था में एक निरालापन है। इसमें किसी खास पुर्जे के घिसने, टूटने और बदलने की लोह-यन्त्र जैसी (अलग-अलग पुर्जों को बदलने की) व्यवस्था नहीं है। इसमें धातु-उपधातुओं के अणु या घट, क्षत-विक्षत होते ही, एक ओर तो विघटित या विच्छिन्न हुआ करते हैं और दूसरी ओर उनके स्थान की पूर्ति के लिए उसी धातु के नवीन घटों को उत्पन्न करने की प्रक्रिया भी साथ-साथ चलती है। घिसे और टूटे-फूटे घटों का बहुत-सा अंश देह के लिए स्वभावतः निष्ठ्रयोजन, अतएव 'मल' रूप होता है। देह से निकालने के लिए इन मलों को ऐसे रूपों

६. 'धात्वो हि धात्वाहारः प्रकृतिं अनुवर्तन्ते'। (च० स० अ० २८)

७. 'धात्वो हि रसादयो नित्यं क्षीयमाणा अशितादिजनित धात्वाहारा एव सन्तः परं स्वास्थ्यं अनुवर्तन्ते।' (च० स० अ० २८ की टोका में चक्रपाणिदत्त)

में परिवर्तित करना पड़ता है, जो देह-स्रोतों में से प्रवाहित होते हुए, निर्धारित मार्गों द्वारा बाहर आ सकें। इस रूपान्तरीकरण के लिए भी 'अग्नि' अपेक्षित है।

जीर्ण और अति-विक्षय देहघटों की पूर्ति के लिए, उनके स्थान पर, नवीन देहघटों के निर्माण की भी देह में अपनी पृथक् व्यवस्था है। नवीन देहघटों का निर्माण अतिपूर्ति के लिए भी होता है और अपनी जातिवृद्धि के लिए भी। जाति-विशेष के देहघटों की वृद्धि का ही यह परिणाम होता है कि हममें से बहुत-से कृश व्यक्तियों के शरीर कभी-ज़भी विशेष परिपृष्ठ दिखाई देते हैं, उस समय इनमें मांसजातीय या मेष्टोजातीय देहघटों की विशेष वृद्धि होती है।

हमारे देह के नानारूप धातु-उपधातु भिन्न-भिन्न जाति के हैं। प्रत्येक जाति के धातु का निर्माण उसी जाति के घटों से सम्भव है। इनमें हर एक धातुघट का उदर अपने अनुरूप 'ओजोद्रव' से या 'जीवनरस' से भरा रहता है। अतः एक जाति के नवीन धातुघटों के निर्माण के लिए उसी जाति के 'ओजोद्रव' की—अर्थात् उपचयमूलक रस की—आवश्यकता होती है। यह 'रस' उस 'अन्नरस' का ही परिवर्तित रूप है, जिसे भूताग्नियों के पाकों ने देह का सजातीय या 'ऐन्ट्रियिक' बनाया था।

यहाँ यह स्मरणीय है कि पूर्वोक्त अन्नरस में पार्थिव (तथाकथित प्रोटीन्स, कार्बोहाइड्रेट्स, केल्सियम आदि), आप्य (स्नेहद्रव्य, जल, दुग्ध आदि), आग्नेय (लोह, तांब आदि धातु; गन्धक, प्रस्फुरक आदि खनिज; आग्नेय प्रकृति के खाद्योज या विटामिन्स; पाचनांश या एन्जाइम्स तथा अन्यान्य रासायनिक द्रव्य), वायव्य (प्रेरक प्रकृति के खाद्योज, प्रेरक प्रकृति के पाचनांश, प्रेरक प्रकृति के अन्तर्मुख-ग्रंथिरस या हार्मोन्स तथा अन्य प्राणप्रद एवं गतिमूलक द्रव्य), नाभस (लघुता एवं सौपिर्यजनक सूक्ष्मभाव) ये सभी प्रकार के पदार्थ धुले रहते हैं। इनमें से पार्थिव और आप्य पदार्थ देहनिर्माण की सामग्री के रूप में—एवं इन्वन्द्रव्य के रूप में—काम आते हैं। आग्नेय पदार्थ रासायनिक क्रियायें या अग्निकर्म विशेष रूप से सम्पन्न करते हैं, ये देहांश भी बनते हैं। वायव्य पदार्थ नाना क्रिया चेष्टाओं के संचालन एवं प्रेरणा के कर्म करते हुए देह का अंश भी बनते हैं। नाभस पदार्थ देहगत स्रोतों एवं अवकाश स्थलों के जनक हैं।

प्राचीन आर्य-वैज्ञानिकों ने देह को और देह निर्माणकारक अन्न-

द्रव्यों को—दोनों को—‘भौतिक’ अर्थात् ‘पांचभौतिक’ कहा। ‘भौतिक’ की व्याख्या उन्होंने पार्थिव, आप्य, आग्नेय, वायव्य, नाभस रूपों में की। यदि विचार करें तो ज्ञात होता है कि उन वैज्ञानिकों ने ‘देह’ तथा ‘अन्नद्रव्य’ दोनों के ‘घटक सामान्य’ का निलेपण किया था। इस दृग के आधुनिक वैज्ञानिकों ने ‘घटक विशेष’ की भी खोजें कीं। इन खोजों के परिणामस्वरूप^१ कुछ विशिष्ट ‘मूल द्रव्य’ (एलिमेन्ट्स) ज्ञात किए गये और यह भी जाना गया कि इन मूलद्रव्यों या विशिष्ट घटकों से सभी ‘भौतिक’ कहे जाने वाले पदार्थों का निर्माण हो जाता है।

यदि पंचमहाभूतों से भी सब भौतिक पदार्थ निर्मित हैं और आधुनिक वैज्ञानिकों के उक्त मूलद्रव्यों से भी सब भौतिक पदार्थ बन जाते हैं, तो यही कहना पड़ेगा कि महाभूतों और इन मूलद्रव्यों में नाम का ही भेद है। यह भेद शायद इतना ही है कि प्राचीनों ने इन्हें पार्थिव, आप्य आदि पाँच श्रेणियों में विभक्त कर रखा है। यदि उस प्राचीन शैली पर इन मूलद्रव्यों का नामकरण करना चाहें तो इन्हें ‘मूल भौतिक’ या ‘भौतिकतत्व’ सहज ही कहा जा सकता है।

इन भौतिक तत्वों में, हमारे ‘देह’ और ‘अन्न द्रव्य’ के निर्माण की वृद्धि से नवजन, कज्जल, ओपजन, उद्जन, गन्धक, प्रस्फुरक, खटिक, लोह, ताम्र, यशद, कोवाल्ट, मैंगनीज, आयोडिन, सोडियम, पोटासियम, क्लोरीन प्रमुख हैं। इन्हीं से देह बना है, देहधातु बने हैं और इन्हीं से वह अन्नरस निर्मित है; जिस अन्नरस के भूतान्नि द्वारा परिवर्तित अंश से पूर्वोलिलिखित ‘ओजोद्रव’ या जोवनरस तैयार हो जाता है। इस जोवनरस से जो नवीन घट जन्म लेते हैं, उनसे हमारे देह के उपादानभूत दोष, धातु, मलों की वृद्धि होती है।

वृद्धि या देहवृद्धि के विषय में आर्य-चिकित्सा-विज्ञान का एक नियम है कि ‘सामान्य’ अर्थात् द्रव्य-गुण-कर्म की समानता या एकरूपता ही वृद्धि का कारण हुआ करता है;^२ क्योंकि ‘सामान्य’ अनेकों को संयुक्त करके ‘एकत्व’ की सृष्टि करता है^३— अर्थात् ‘सामान्य’ में संयुक्त करने या मिलाने का गुण है।

इसके विपरीत ‘विशेष’—अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म की असमानता या अनेक रूपता का होना हास का कारण बनता है।^४ क्योंकि इससे करण फूटते या पृथक्-पृथक् होते हैं।^५

- | | |
|--|-----------------|
| ९. ‘सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्’। | (च० सू० अ० १४४) |
| १०. ‘सामान्यं एकत्वकरम्’। | (च० सू० अ० १५५) |
| ११. ‘हास हेतुविशेषश्च’। | (च० सू० अ० १४४) |
| १२. ‘विशेषस्तु विभागकृत्’। | (च० सू० अ० १४८) |

इस विषय में अष्टांग संग्रहकार का मत है कि 'सामान्य' द्वारा वृद्धि, और 'विशेष' द्वारा ह्रास की ये क्रियाएँ देह में 'अधिक' और 'शीघ्र' भी हुआ करती हैं। इन दोनों क्रियाओं के अधिक और शीघ्र होने का कारण यह है कि उक्त 'सामान्य' और 'विशेष' के भीतर क्रमशः 'वृद्धि' और 'ह्रास' के बीज सूक्ष्मरूप में सञ्चित रहते हैं।^{१३}

अष्टांग-संग्रह के टीकाकार इन्दु ने इस पर अपना यह विचार प्रस्तुत किया है कि उक्त वृद्धि की कारणभूत 'द्रव्य तुल्यता' (या द्रव्य साहश्य)---अन्तः और बाह्य - दोनों प्रकार से होनी चाहिए,^{१४} तब उस द्रव्य से देहधातु की शीघ्र और अत्यधिक वृद्धि होती है।

इन नियमों के अनुसार स्पष्ट है कि नित्यप्रति सेवन किया जाने वाला आहार यदि हमारे देहधातुओं के साथ साहश्य रखता होगा, तभी वह वृद्धिकारक होगा और जब उसमें अन्तः एवं बाह्य दोनों प्रकार का साहश्य होगा, तब तो वह अपने-अपने धातु की वृद्धि अधिकाधिक और शीघ्र करेगा। इसके विपरीत, द्रव्य-गुण-कर्म में असाहश्य या वैषम्य रखनेवाला आहार हमारे देह-धातुओं का ह्रास करेगा। इस वृद्धि और ह्रास का कारण यह है कि उन-उन आहारों के भीतर वृद्धि या ह्रास के 'बीज'—प्रकट गयवा गुप्त रूप में—पहिले से ही विद्यमान होते हैं।

धातु-वृद्धि-कारक (परन्तु केवल बाह्य साहश्य से युक्त) 'द्रव्य सामान्य' के उदाहरण रूप में मांसवृद्धि के अर्थ सेवन किए जाने वाले तत्संदर्श पनीर, गुच्छी या छत्रक (खुम्बी) के शाकों को ले सकते हैं। इन शाकों में पार्थिवांश (प्रोटीन) अधिक होने से ये हमारे दैहिक प्रोटीन या मांस को बढ़ाते हैं। फिर भी, गुच्छी या छत्रक में हमारे मांसधातु के साथ कुछ-कुछ बाह्य साहश्य (रवड़ जैसा लुचलुचापन) होते हुए भी अन्तःसाहश्य उतना नहीं है। कारण कि ये वस्तुयें एक प्रकार के 'वानस्पतिक मांस' तो कहे जा सकते हैं, पर दैहिक मांस नहीं हैं। दूसरे शब्दों में कहें, तो ये 'अनैन्द्रियिक मांस' होने से 'ऐन्द्रियिक मांस' के लिए 'विजातीय' हैं। इनमें अन्तःसाहश्य लाने के लिए भूताग्नियों

१३. 'द्रव्यं तुल्यं विजिष्टं हि स्वं स्वं वृद्धयै क्षयाय च।

प्रत्यात्मवीजनियतं मृशमाशु भृजायते ॥ (अ० सं० सू० अ० १९-१९)

१४. 'सर्वं द्रव्यं बाह्य-आभ्यन्तरेण तुल्यं सत्।'

(अ० सं० सू० अ० १९-१९ को टीका में इन्दु)

द्वारा इनका पाक करके इन्हें 'ऐन्ड्रियिक' का सजातीय बनाना पड़ता है, तब ये दैहिक मांसधातु के लिए वृद्धिकारक बनते हैं।

द्रव्य के बाह्य और अन्तः दोनों प्रकार के साहश्य का उदाहरण 'अजामांस' आदि जान्तव आमिष या जीव-मांस है। यह हमारे (मनुष्य के) देहमांस के साथ, बाह्य और अन्तः दोनों प्रकार का, साहश्य रखता है। अतः यह हमारे देहमांस के सहश 'देहमांस' है और 'ऐन्ड्रियिक' है; इसलिए यह हमारे मानवमांस की शीघ्र और अधिक वृद्धि कर सकता है।

प्राणिज रक्त में या मांस में, मानवीय रक्त मांस के साथ अन्तः और बाह्य दोनों प्रकार का—अर्थात् 'पूर्ण' द्रव्यसाहश्य होने का—यह अभिप्राय है कि प्राणिज रक्त-मांस में बीज रूप से वे आग्नेय अंश (अष्टांग संग्रहकार के शब्दों में पाचनांश) विद्यमान हैं, जो इसे मानव रक्त-मांस में शीघ्र परिणत कर देते हैं।

उक्त नियम के आधार पर ही मनुष्य के रक्त, मांस, मेद, अस्थि आदि की वृद्धि के लिए 'प्राणिज' रक्त, मांस, मेद, तरुणास्थि आदि के सेवन का निर्देश प्राचीन चिकित्सा-विज्ञान में लिखा हुआ मिलता है¹⁵ और आज भी संसार के अधिकांश मानव, इसी आधार पर, न केवल पशु-पक्षियों के रक्त, मांस आदि का प्रत्युत नररक्त का भी सेवन और उपयोग कर करा रहे हैं। अब तो रक्त-क्षय में मनुष्य के ही रक्त का दान (अन्तःक्षेप) मनुष्य को नित्यप्रति दिया जा रहा है।

'द्रव्य-सामान्य' के सहश ही 'गुण सामान्य' भी धातुपोषक कहा गया है। इसके उदाहरणस्वरूप शुक्रपुष्टि के निमित्त सेवन किए जाने वाले शुक्रसहश गुणवान् 'दुर्घ' को ले सकते हैं। दुर्घ श्वेत, मधुर, स्तिर्घ, शीत, पिच्छल और जीवनीय है; अतः यह इन्हीं गुणों से युक्त 'शुक्रधातु' के निर्माण को शीघ्र और अधिक सम्पन्न करता है।

'कर्म सामान्य' का उदाहरण 'दिवानिद्रा' है, यह मन्द और स्थिर कर्म है; अतः इन्हीं विशेषताओं से युक्त देहधारक द्रव्य 'क्लेष्मा' की वृद्धि करता है।

उपर्युक्त 'सामान्य' और 'विशेष' सम्बन्धी नियम के अतिरिक्त आयुर्वेद का एक यह भी सिद्धान्त है कि क्षीण होते हुए धातु के 'भौतिक' अंश की पूर्ति उसी भूतांश से या 'भौतिक तत्व' के अणुओं से होती है; उससे इतर

किसी दूसरे भूतांश से नहीं हो सकती। अर्थात् धातु के पार्थिव, आप्य आदि अंश को क्षति होने की दशा में उसके स्थान पर पार्थिव, आप्य^{१५} आदि अंश ही उसकी पूर्ति करते हैं। एक वर्गद्रव्य के स्थान पर दूसरा वर्गद्रव्य उसकी स्थानपूर्ति नहीं कर सकता, 'पार्थिव' अंश की पूर्ति 'आप्य' या 'आरनेय' अंश नहीं कर सकते, पार्थिव ही कर सकते हैं।

यही स्थिति धातुओं की संघटन-विघटन प्रक्रिया में क्षतिपूर्ति के समय देखने में भी आई है। उदाहरणार्थ, धातु-विघटन काल में जब 'भौतिक तत्व ओपजन' के अणु का व्यय होकर उसकी क्षति हो जाती है, तब उसके स्थान पर 'ओपजन' का ही अणु वहाँ पहुँच कर 'स्थान पूर्ति' करता है; उक्त ओपजन चाहे खाद्य पदार्थों में से संगृहीत हो या श्वास वायु में से प्राप्त की जावे। यही बात प्रोटीन गत नत्रजन, शर्करागत कज्जल, जलगत उद्भजन एवं ओपजन के विषय में देखी गई है। देहगत लोह, ताम्र, यशद, मैग्नीज, खटिक, कोबाल्ट, आयोडिन आदि धातुओं तथा गन्धक प्रस्फुरक आदि खनिजों के अणुओं के सम्बन्ध में भी ऐसा ही होता है। अर्थात् शरीर के रक्त, मांस, अस्थि आदि में विद्यमान इन उपर्युक्त द्रव्यों के अपने-अपने भूत-विक्षत अंश की पूर्ति के लिए क्रमशः उन-उन 'भौतिक तत्वों' (मूलभौतिक या एलिमेन्ट्स) के अणु ही यथास्थान पहुँचते हैं, एक के स्थान की पूर्ति के लिए अन्यजातीय द्रव्याण् नहीं पहुँचता।

उक्त नियमों का उल्लेख करने के साथ-साथ इस तथ्य का भी यहाँ स्मरण कर लेना उचित है कि चाहे तो जीर्ण धातु-उपधातुओं का ह्रास हो जाने से उनकी स्थान पूर्ति करनी हो, चाहे देहपुष्टि के लिए आवश्यकता हो और चाहे शक्तिजनन के निमित्त इन्धन रूप में व्यय होना हो, सभी दशाओं में नवीन धातु का निर्माण उसके एक-एक धातुघट (कोशा या सैल) के निर्माण के रूप में ही होता है, अर्थात् प्रत्येक धातु का निर्माण या ह्रास कार्य, उसके एक-एक अणु के निर्माण या ह्रास के रूप में—‘अणुशः’ ही हुआ करता है। इसे दोष, धातु, मलविज्ञान में ‘अणुपाक’ कहा जाता है। स्मरण रहे कि ‘पाक’ ‘अग्नि’ का धर्म है।

१६. 'यथा स्वं स्वं च पुष्णन्ति, देहे द्रव्यगणाः पृथक् ।

पार्थिवा: पार्थिवनेत्र, शेषाः शेषांश्च कृतस्नशः ॥ (च० च० अ० १५) ।

‘.....पार्थिवा आहारद्रव्यगुणः देहंगतान् पार्थिबान् एव द्रव्यगुणान् पुष्णन्ति ।’ (उक्त श्लोक की टोका में चक्रपाणिदत्त)

इसी स्थल पर हमें (जोर्ण धातुओं के ह्रास तथा नवीन धातुओं के निर्माण के रूप में) सातों धातुओं के भीतर उनकी अपनी-अपनी अग्नियों द्वारा^{१०} अविराम रूप में चलते रहने वाले पाँकों का भी ध्यान आता है, जो हमारे देह में प्रतिक्षण होते रहते हैं। इन्हें क्रमशः 'मलपाक' और 'प्रसादपाक' कहा गया है।^{११}

उपर्युक्त सब वातों का ध्यान रखते हुए अब हम अग्नियों की क्रियाओं द्वारा अन्नरस से नवधातु-निर्माण के प्रसंग को आरम्भ करते हैं।

नव-धातु-निर्माण के लिए जो अन्नरस, भूताग्निपाक के अनन्तर, प्रस्तुत हुआ था; हम देख चुके हैं कि वह हमारे देह का 'सजातीय' था। सजातीय होने से वह देह धातुओं द्वारा उपयोग में लाये जाने के योग्य था, उससे धातुओं का पोषण हो सकता था, इसी से क्रिया-शारीर की परिभाषा में उसे 'पोषक-रस' नाम दिया गया था।

इस पोषक रस से सातों धातुओं को पोषण, क्रमशः एक के बाद दूसरे को मिलता है, या एक साथ सबको मिलता है। कितना-कितना मिलता है, इत्यादि 'विवादास्पद' और धातु उपधातुओं के प्रसंग से 'सम्बन्धित' प्रश्नों को छोड़ते हुए यहाँ 'धात्वग्नि' के प्रकरण में विचारणीय विषय यह आता है कि उक्त पोषकरस पर धात्वग्नि की क्या क्रियायें होती हैं और उनके क्या-क्या परिणाम हैं? परन्तु धात्वग्नि की क्रियायें जानने के पूर्व 'धात्वग्नि के स्वरूप' पर विचार कर लेना आवश्यक है।

धात्वग्नि का स्वरूप

धात्वग्नि के स्वरूप को निर्धारित करने और समझने में दिम्नलिखित कुछ वातें विशेष सहायक हैं :

(क) आर्य चिकित्सा विज्ञान के अनेक प्रामाणिक विद्वानों का यह मत रहा है कि 'भूताग्नियाँ' जब अपने-अपने भूतांश या 'भौतिक' के साथ-साथ अन्नरस

१७. 'यथास्वेनोऽमणा पाकं शारीरा यान्ति धातवः'। (च० चि० अ० ९-३९)

१८. 'सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः।

यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत्॥

(च० चि० अ० १५-१५)

के माध्यम से धातुओं में पहुँचती हैं, तब 'धात्वग्नि' कहाती हैं।^{१०}
अर्थात् 'भूताग्नियाँ' 'धात्वग्नियों' का रूप ग्रहण कर लेती हैं।^{१०}

१९. 'त एव पञ्च ऊष्माणः पार्थिवादयः' स्थानान्तरं प्राप्ताः 'धातूष्माण' इति व्यपदेशं आसाद्यन्ति, यथा उदकं स्थानान्तरगतं लसीकादि व्यपदेशं लभते।
(अ०ह० शा० ३-६० की टीका में अर्हणदत्त)

२० भूताग्नियों का धात्वग्नियों में परिवर्तित होना और आधुनिक क्रियाशारीर के खाद्योज या विटामिन कहे जाने वाले आग्नेय द्रव्यों का धातुओं में जाकर 'पाचनांश' तथा 'सहपाचनांश' (या 'एन्जाइम' 'को-एन्जाइम') का रूप ग्रहण कर लेना—इन दोनों बातों में अद्भुत साम्य है, जो ध्यान देने योग्य है।

खाद्योजों के उक्त प्रकार से धातुओं में पहुँचकर 'पाचनांश' रूप में कार्य करने के बहुसंख्यक उदाहरण प्राप्त होते हैं, यथा—खाद्योज 'ए', यह अहार-द्रव्यों के साथ महास्रोतस् में आकर पचनक्रिया द्वारा संघात-भेद के समय भुद्रान्त्र में स्वतन्त्र होता है; फिर पच्यमानाशय से इसी रूप में उपशोषित होता है। पित्तधराकला इसका कुछ रूप-परिवर्तन करती है। तब यह रस में और वहाँ से रक्त में पहुँचता है। रस (प्लाज्मा) में रहता हुआ यह तर्पण, आद्रिता, मृदुता, उपचय आदि रसोचित करता है, किन्तु रक्त में पहुँचकर यह 'आलोचक पित्त' के समान 'आलोचन कर्म' या 'रूप दर्शन कर्म' सम्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण भाग लेता है। इस प्रकार यह खाद्योज धातुओं में पहुँचकर, धातुस्थ प्राकृतपित्तवत् या धात्वग्निवत् क्रिया करने लगता है।

—खाद्योज 'डो'। यह स्नेह-द्रव्यों के साथ महास्रोतस् में पहुँचकर संघात-भेद के समय स्वतन्त्र होता है। क्रमशः स्थूलान्त्र तक पहुँचता है। यहाँ यह खटिक या कैलिसयम धातु के उपशोषण को तीव्र करता है। फिर स्वयं उपशोषित होकर और रस-रक्त में जाकर वहाँ खटिक और प्रस्फुरक को वृद्धि करता है। क्रमशः अस्त्रिय धातु तक पहुँचकर यह 'अंस्थग्नि' का कार्य सम्पन्न करने लगता है और 'अस्त्रिय घट' अधिक संख्या में निर्माण करता है।

—खाद्योज 'एच' या वायोटिन। यह महास्रोतस् में अवैकारिक कृमियों द्वारा तैयार किया जाता है। वहाँ से उपशोषित होकर यह रस-रक्त-शुक्र

- (ख) दूसरा महत्त्वपूर्ण विचार यह उपलब्ध होता है कि देह-धातुओं में 'पाचकांश' या 'पाचनांश' विद्यमान रहते हैं ।^३ अतः प्रत्येक धातु 'अणशः' निर्मित होता है, इसलिए स्वभावतः उक्त पाचनांश प्रत्येक धातु के 'अण' में, अर्थात् धातु के सूक्ष्मतम् घट के भीतर (प्रत्येक सेल में) विद्यमान होने चाहिए ।
- (ग) आयुर्वेद में यह विचार सर्वसम्मत है कि कायाग्नि अर्थात् पाचकाग्नि के अंश सब धातुओं को पहुँचते हैं और उनमें स्थित होते हैं ।^४ ये अंश भी प्रत्येक धातु घट के भीतर होने चाहिए । इस प्रसंग में पाचकांश या पाचनांश का 'अंश' शब्द ध्यान देने योग्य है । अंशांश कल्पना भौतिक द्रव्यों में ही की जा सकती है, अतः यह संकेत मिलता है कि 'धात्वग्नि' शब्द से किन्हीं 'आग्नेय' भौतिक-द्रव्यों के सूक्ष्म अंश ही यहाँ अभिप्रेत होंगे, क्योंकि अरुणदत्त, हेमाद्रि आदि मध्यकालीन क्रिपा-शारीर-वेत्ताओं ने अग्नि के इस 'अंश' को 'भाग' या 'क्षुद्र रूपान्तर' ही माना है ।^५

आदि धातुओं में पहुँचता है और इनकी 'धात्वग्नि' के रूप में कार्य करता हुआ इन धातुओं के घटों का निर्माण करने में प्रमुख भाग लेता है ।

—खाद्योज 'वी १२' या कोवेलेमाइन । यह आहार द्रव्यों—अनाज, मेवा, आमिष आदि—के साथ महास्रोतस् में जाकर और स्वतन्त्र होकर रस-रक्त में पहुँचता है । रक्त में यह 'रक्तग्नि'-वत् क्रिया करके रक्त-निर्माण में परम सहायक है । मांस में पहुँचकर यह मांसाग्नि के रूप में आचरण करता हुआ मांस धातु का निर्माण करता है ।

उपर्युक्त तथा इसी प्रकार के अन्य उदाहरण इस सम्भावना को पुष्ट करते हैं कि अर्त-चिकित्सा-विज्ञान में जिन अग्नि-द्रव्यों को 'भूताग्नि' और 'धात्वग्नि' कहा जाता रहा है, उनमें से बहुतों को आधुनिक क्रिया शारीरविशारदों ने क्रमशः विटामिन्स (खाद्योज) और एन्जाइम्स (पाचनांश) नाम दिये हैं ।

२१. 'ये पाचनांशा धातुस्याः...।' (अ० सं० सू० अ० १९)
 २२. 'स्वस्थानस्यस्य कायाग्नेः, अंशा धातुषु संश्रिताः।' (अ० ह० सू०)
 २३. 'स्वस्थानस्यस्य ग्रहणीस्थस्य, कायाग्नेः अन्नपक्तुः, अंशाः क्षुद्राणि रूपान्तराणि, धातुषु धात्वाशयेषु सर्वधात्वन्यः इत्यर्थः।' (हेमाद्रि)

X

X

X

'स्वस्थानं कायाग्नेः पक्वामाशययोः मध्यम्, कायाग्नेः जठरानलस्य, अंशाः भागाः...।' (अरुणदत्त) ।

(घ) अग्नि-प्रकरण के आरम्भ में हम देख चुके हैं कि 'ऊष्मा' या ताप हमारे जीवन का एक अनिवार्य अंग है। यह ऊष्मा 'सजीव देह' के सूक्ष्मतम अणु में—जीवित देहघट मात्र में—विद्यमान होती है। रस, रक्त, मांस आदि के प्रत्येक अणु या सूक्ष्म घट में और उसके बाहर भी, देह भर में सर्वत्र इसकी सत्ता है।

उक्त विचारों के प्रकाश में हम सहज ही इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि "आहार द्रव्यों के साथ-साथ देह के भीतर आने वाले तथा देह की आवश्यकतानुसार समय-समय पर देह में भी निर्मित होने वाले धातुगत पाचनांशों और घट-घट व्याधों ऊष्मा के समवेत रूप "को 'धात्वग्नि' कहा गया है।

वर्तमान समय में इन धातुगत पाचनांशों पर अनुसंधान हुए हैं और इनके स्वरूप, रासायनिक संघटन, कर्म आदि का पता लगाया गया है। इन धातुगत (धातुघटवर्ती) पाचनांशों को आधुनिक क्रिया-शारीर में 'एन्डो एन्जाइम्स' नाम दिया गया है। एन्डो एन्जाइम्स या धातुगत पाचनांश सब सजीव प्राणियों में और मनुष्यों में भी पाये जाते हैं।

पाचनांश सब धातु-उपधातुओं में उनके घट के भीतर रहते हैं। सजीव-घट में (सेल में) ये बाहर से आते या उत्पन्न होते हैं और निरन्तर विद्यमान रहते हैं। यकृत, वृक्क, हृदय, मांसपेशी आदि अवयवों और आशयों में ये आवश्यकतानुसार संचित भी हो जाते हैं। प्रत्येक धातुघट का अपना-अपना पाचनांश होता है। सजीवघट में रहते हुए भी ये पाचनांश स्वयं निर्जीव ही होते हैं। इन्हें भौतिक दृष्टि से पार्थिव (प्रोटीन निर्मित) और प्रकृति से आग्नेय (रसायनधर्मी) या वायव्य (क्रियाप्रेरक) पाया गया है। इनमें से बहुतों के भीतर ताम्र, लोह, यशद, मैग्नीज, कैल्सियम, मॉलिविडिनम्, कोवाल्ट, मैग्नोशियम आदि धातुओं के और गन्धक, प्रस्फुरक आदि खनिजों के अतिक्षुद्र अंश रहते हैं।

बहुसंख्यक धातु या खनिज यतः तैजस या आग्नेय हैं, इस कारण 'इनसे युक्त पाचनांश' भी स्वभावतः — और विशेष रूप से — आग्नेय या रसायनधर्मी पाये गये हैं।^{१४}

२४. धातुओं और खनिजों से युक्त पाचनांशों का या एन्डोएन्जाइम्स का विस्तृत विवरण जीवरसायन विज्ञान (वायोकेमिस्ट्री) के ग्रन्थों में देखना चाहिए। इनमें से कठिपय ऐसे पाचनांश नीचे दिये जाते हैं जिनकी रचना में धातुओं और खनिजों के अंश उपलब्ध हुए हैं और ये पाचनांश विशेष तैजस या

पाचनांशों में एक या अनेक घातुओं के भी अंश प्राप्त होते हैं; यथा 'पाइरू-वेट फॉस्फोकायनेज' में मैग्नीशियम तथा पोटाशियम दो घातु पाये जाते हैं।

आग्नेय (रसायनवर्मा) हैं।

—ताज्र से युक्त पाचनांश 'सीहलोप्लास्मीन' है, यह रसघातु में (प्लाष्मा में) होता है और एन्जाइम के सदृश क्रिया करता है। इसके अतिरिक्त— टायरोसिनेज, फ्रीनोलेज, एस्कोविक एसिड् आॅक्सिसडेज में भी ताज्र के सूक्ष्म अंश रहते हैं।

—लोहांश युक्त एन्जाइम्स के, फॉरोटीन-हीमोसाइड्रोन आदि १५ प्रकार हैं। लोह, पाचनांश के रूप में, 'आॅक्सिसडेशन-रिक्डशन' को क्रियाएँ सम्पन्न करता है। इस घातु के अंश-साइटोक्रोम एन्जाइम्स, कॉटेलेज, पैरोक्साइडेज, ट्रिप्टोफेन आॅक्साइडेज, होमोजेन्टिसाइकेज में पाये गये हैं।

—यशद से युक्त पाचनांशों के उदाहरण—कार्बोनिक एनहाइड्रेज, डि-हाइड्रोपेट्टाइडेज, फॉस्फेटेज, लेक्टिक डि हाइड्रोजिनेज, यूरिकेज, कार्बोविस पैप्टाइडेज हैं। ये पाचनांश विशेष रूप से आग्नेय या रसायनवर्मा होते हैं और विभिन्न अग्निकर्म सम्पन्न करते हैं।

—मैग्नोल ज से युक्त पाचनांशों में आर्गिनेज, फॉस्फो ग्लुकोम्युटेज, हैक्सो-कायनेज, आइसोसाइट्रिक डि हाइड्रोजिनेज, पायरोफॉस्फेटेज, डाइपेप्टा-इडेज प्रमुख हैं।

—खटिक या कैल्सियम घातु के अंश लक्टेथिनेज ए तथा सी में और लायपेजेज में प्राप्त होते हैं।

—मॉलिविडिनम् घातु से युक्त पाचनांश जॉन्यिन अॉक्सिडेज है। यह अन्तर्वर्ती पाचनांश है। 'नाइड्रेट रिडक्ट्रेज' में भी उक्त घातु के अंश उपलब्ध होते हैं।

—कोबाल्ट घातु के अंश खाद्योज्ज 'बी १२' में प्राप्त होते हैं। यह प्रबल रसायनवर्मा पाचनांश है। इसके अतिरिक्त 'पैप्टाइडेज' में भी उक्त घातु के अंश प्राप्त होते हैं।

—मैग्नोशियम घातु देह के रक्त, मांस, वातनाडी आदि में सल्फेट फॉस्फेट आदि के रूपों में होता है। इससे युक्त प्रमुख पाचनांश पैप्टाइडेज, फॉस्फेटेज, हैक्सोकायनेज, एडेनोसाइन ट्राइफॉस्फेट, फॉस्फोराइलेज, एनोलेज, फॉस्फो ग्लुकोम्युटेज आदि हैं। ये घात्वग्निपाक में तीव्र और महत्वपूर्ण बहुविध रासायनिक क्रियायें सम्पन्न करते हैं।

इनमें से बहुत से पाचनांशों या एन्जाइम्स को स्फटिक कणों के रूप में उपलब्ध किया जा सका है।

आर्य चिकित्सा शास्त्र में 'अग्नि' के द्वारा, जिस आहार पचन - अन्न पचन - और धातु-मलपचन के रूप में होने वाले अग्निकर्मों या रासायनिक क्रियाओं का उल्लेख आता है, उन्हें सम्पन्न कराने में ये नाना प्रकार के धातुगत पाचनांश (या एन्डो एन्जाइम्स) बहुत महत्वपूर्ण भाग लेते हैं।

उक्त पचन के समय होने वाले अग्निकर्म (या रासायनिक क्रियायें) बहुत प्रकार की हैं। भिन्न-भिन्न पाचनांश पृथक्-पृथक् प्रकार की क्रियायें सम्पन्न करते हैं। ये इन क्रियाओं को आसम्भ करते हैं और तीव्र या वेगवती भी बनाते हैं। ये दो या अधिक अणुओं का परस्पर संयोग (मेल) करते हैं, अणुओं को वियुक्त (अलग-अलग) करते हैं, उन्हें विशेष क्रम में नियोजित (संघटित) करते हैं, एक को दूसरे से संश्लिष्ट और विश्लिष्ट (विच्छिन्न) भी करते हैं, एक द्रव्य के कण में रहने वाली 'मात्रा'^{१५} को दूसरे प्रकार की 'मात्रा' में रूपान्तरित करते

— खनिजों में गन्धक और प्रस्फुरक विशेष महत्वपूर्ण हैं। गन्धक हमारे देह में पार्थिव (प्रोटोन रूप) द्रव्यों के साथ आता है। पाचकाग्नि और भूताग्नि की क्रियाओं के अनन्तर यह 'मिथियोनाइन' नामक द्रव्य का रूप लेता है। मिथियोनाइन प्रायः सभी पाचनांशों में और अन्तर्मुख ग्रन्थि रसों में (हार्मोन्स में) भी विद्यमान पाया गया है।

गन्धक प्रायः 'सल्फेट' के रूप में रहता है। यह प्रत्येक देहघट में उत्पन्न मलरूप 'कार्बन' के अणु को उसके भीतर से निकाल बाहर करने की महत्वपूर्ण क्रिया सम्पन्न करता है।

आयुर्वेद चिकित्सा में तो सैकड़ों वर्ष पूर्व ही गन्धक को देहशोधक और विषनाशक के रूप में स्वीकार किया जा चुका है।

— प्रस्फुरक या फॉस्फोरस भी देह के प्रत्येक घट में रहता है। यह 'फॉस्फेट' के रूप में ही देह का अंश बनता है, विशेषतः कैल्सियम फॉस्फेट के रूप में, जो कि रक्त तथा अस्थि में विशेष रूप से विद्यमान रहता है। प्रस्फुरक 'एडीनोसाइनट्राइफास्फेट' आदि द्रव्यों के रूप में आकर महत्वपूर्ण रासायनिक क्रियायें करता है।

(वैस्ट एण्ड टाड द्वारा प्रणीत वायोकैमिस्ट्री के ११ तथा ३०

अध्याय से संगृहीत)

हैं, द्रव्यों का दहन (ऑक्सिडेशन) कराते हैं, मांसपेशियों में संकोच और वात-वहा नाड़ियों में उत्तेजन कर्म भी इन पाचनांशों द्वारा सम्पन्न कराये जाते हैं। यकृत् में 'द्राक्षा शकंरा' रूपी इन्धन द्रव्य का एकत्रीकरण, देह के भिन्न-भिन्न भागों में मेद का संचय, नाना प्रकार के ग्रन्थिरसों (हार्मोन्स) का आविर्भाव, ये सब कार्य भी पाचनांशों की उपस्थिति में हो पाते हैं।

आयुर्वेद में, आहारपाक और धातु-मलपाकों के प्रसंगों में—संघातभेद, पचन, परिणमन, संयोग, विभाग, दहन, संघटन, विघटन, विन्छेदन आदि कर्तिपय विशिष्ट क्रियासूचक शब्दों—परिभाषाओं का यत्र-तत्र प्रयोग हुआ है। ये शब्द विभिन्न अग्निकर्मों या रासायनिक क्रियाओं को सूचित करते हैं। इन क्रियाओं के लिए जिन अग्निद्रव्यों को उत्तरदायी पाया गया है, उन्हीं में धातुस्थित उक्त पाचनांश आते हैं।

क्रियाओं को दृष्टि से पाचनांश नाना प्रकार के वर्गों में समाविष्ट किए जा सकते हैं, यथा—संघातभेदकारक या भेदक,^{२६} उत्तेजक,^{२७} परिणामकारक^{२८}, जनक या उत्पादक,^{२९} नियोजक^{३०}—आदि।

उक्त पाचनांशों या अग्निद्रव्यों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। इनमें से बहुत से, धातुओं (देह तन्तुओं) में से पृथक् कर लिये गये हैं। इन्हें पुनः रासायनकर्म या अग्निकर्म का अवसर दिये जाने पर ये पुनः क्रियाशील पाये गये हैं।

एक पाचनांश एक क्षेत्र में प्रायः एक ही प्रकार की विशिष्ट क्रिया करता है। इस विशिष्ट कर्म के आधार पर इनकी विविध श्रेणियाँ बना दी गई हैं।^{३१}

कोई पाचनांश अधिक क्रियाशील और कोई-कोई अलस होते हैं। कई एक निषिक्य भी पड़े रहते हैं।^{३२}

२६. आधुनिक क्रिया-शारीर की परिभाषा में—‘स्प्लिट्स’।

२७. आधुनिक क्रिया-शारीर की परिभाषा में—‘केटेलिस्ट’।

२८. आधुनिक क्रिया-शारीर की परिभाषा में—‘ट्रान्स फार्मस’।

२९. आधुनिक क्रिया-शारीर की परिभाषा में—‘सिन्थसाइजर्स’।

३०. आधुनिक क्रिया-शारीर की परिभाषा में—‘रिअरेन्जर्स’।

३१. उदाहरणार्थ—प्रोटीन का भेदन या विच्छेद करने वाले पाचनांश ‘प्रोटीनेजेज’ और सेल्युलोज का भेदन करने वाले—‘सेल्युलेजेज’ कहाते हैं।

३२. ‘प्रोफर्मेंट’ या ‘जाइमोजन’ के रूप में।

पाचनांश, भौतिक दृष्टि से यतः पार्थिव होते हैं, इस कारण इनमें गुरुत्व या भार विशेष पाया जाता है।"

नाना परिवर्तनों के जनक या परिवर्तनकारी होते हुए भी पाचनांश स्वयं अपरिवर्तनशील और अक्षुण्ण रहते हैं। इनमें से प्रायः प्रत्येक पाचनांश अपने-अपने निश्चित पार्च्य द्रव्य पर ही किया करता है।

हमारे देह के विविध दीपन पाचन स्थावों के भीतर तो ये पाचनांश होते ही हैं, अर्थात् ये हमारे देह के भीतर तो जन्म लेते ही हैं, परन्तु अन्तः सेवन किए जाने वाले औषध^{१४} आहार द्रव्यों के माध्यम से विशेषतः प्राणिज आहार —दूध, आमिष, अण्ड, वसा आदि के साथ-साथ भी ये हमें प्राप्त होते रहते हैं।

पाचनांशों को अपनी-अपनी क्रिया के लिए एक सहकारी^{१५} की भी अपेक्षा रहती है। पाचनांश और इनके ये सहकारी (अथवा सह पाचनांश), दोनों परस्परापेक्षी होते हैं, एक दूसरे के सहयोग के अभाव में दोनों अर्किचित्कर हैं।

यह भी स्मरणीय है कि प्रत्येक पाचनांश या एन्जाइम को अपनी-अपनी क्रिया के लिए नियत तापांश या ऊष्मा अनिवार्य रूपेण अपेक्षित होती है। महास्रोतस् हो या अस्थि, मांस, रक्त आदि धातु हो, सब जगह अग्निकर्म या रासायनिक क्रियायें उक्त पाचनांश और ऊष्मा, दोनों मिलकर ही करते हैं। इसी तथ्य को चक्रपाणि ने—

'पित्तोष्मरूपस्य वह्नैः सद्भावं दर्शयति'—इस संस्कृत वाक्य में, पित्त+ऊष्मा=पित्तोष्मा=अग्नि के द्वारा स्पष्ट कर दिया है। अस्तु,

नवीन धातु-घटों में जिस 'ओजोद्रव' या जीवनरस से स्वयं धातुधट बनते हैं, उसी से उनके भीतर उक्त पाचनांश भी आविर्भूत हो जाते हैं। इस पर विचार

३३. पाचनांशों के भार को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर इनका भार बहुत अधिक सिद्ध होता है, यथा—जल के 'अण' का भार जहाँ १८ है, वहाँ 'पेप्सीन पाचनांश' का भार ३५००० है।

३४. उदाहरणार्थ—आयुर्वेद की ओषधि 'चित्रकमूल' में, नवीन शोधों के अनुसार 'एमाइलेजेज' तथा 'प्रोटियेजेज' श्रेणी के पाचनांश उपलब्ध हुए हैं।—(इण्डियन ड्रग्स रिसर्च एसोसिएशन—पूना, से प्रकाशित अगस्त १९६३ की 'लम्ब्वागो-ज्ञाइलेनिका'-सम्बन्धी रिपोर्ट के आधार पर)।

३५. आधुनिक क्रिया-शारीर के अनुसार 'कोएन्जाइम' या 'कोफमेन्ट'।

करें तो स्पष्ट हो जाता है कि आग्नेय बंशयुक्त 'अन्न रस' ही अन्ततोगत्वा इन पाचनांशों का जनक है।

प्राचीन तथ्यों और नवीन शोधों की उपरिलिखित ऊहापोह से 'धात्वग्नि' के स्वरूप पर कुछ प्रकाश पड़ता है। यह भी स्पष्ट है कि 'धात्वग्नि' अग्निद्रव्यों या अग्नियों का पुज्ज है। अग्नियों की देह के नाना धातुओं पर वहुत प्रकार की क्रियायें होती हैं। धातुयें—आयुर्वेद में—^{११} ७ निश्चित की गई हैं। उनमें प्रत्येक के भीतर अपनी-अपनी अग्नि की पृथक्-पृथक् सत्ता है। इन पृथक्-पृथक् अग्नियों को रसाग्नि, रक्ताग्नि, मांसाग्नि, मेदोग्नि, अस्थ्यग्नि, मज्जाग्नि और शुक्राग्नि नाम दिये गये हैं। इन सब अग्नियों के भीतर इनके अपने-अपने विशिष्ट पाचनांश और ऊष्मा विद्यमान होते हैं।

उक्त सात धात्वग्नियों में प्रथम 'रसाग्नि' है।

३६. अन्यत्र, आधुनिक क्रिया-शारीर में, धातुओं का वर्गीकरण भिन्न प्रकार से किया जाता है। इस युग में आकर मनुष्य ने शरीर रचनाशास्त्र पर पुनः विचार किया है। परिणामस्वरूप 'धातु' या 'देह-निर्माण करने वाले तन्त्र' पृथक्-पृथक् प्रकार के निश्चित किये गये हैं। इनको जानकारी के लिए 'अभिनव रचना शारीर' के ग्रन्थों का अवलोकन अपेक्षित है।

रसाग्नि

रसाग्नि का स्वरूप

रस धातु में स्थित 'पित्तोज्मा' को रसाग्नि कहा गया है। रसाग्नि से वे 'पाचनांश और ताप' अभिप्रेत हैं, जो देहपोषक रस में रहते हुए कुछ निश्चित रासायनिक क्रियायें सम्पन्न करते हैं। ये पाचनांश¹ और इनकी क्रियाओं के लिए अपेक्षित ताप, इन दोनों का समवेत रूप 'रसाग्नि' है।

जब अन्नरस में नाना भौतिक आहार द्रव्यों के साथ-साथ गई हुई भूताग्नियाँ, पाचकाग्नि के प्रभाव से प्रदोष्ट होकर, उस अन्नरस को 'देह धातुओं का सजातीय' बना देती हैं, तब वह अन्नरस 'देहपोषक रस' कहाता है। वह रस, सिराओं और रसायनियों द्वारा, हृदय में पहुँचता है। भूताग्नियाँ इस समय भी देहपोषक-रस में लीन रहती हैं, परन्तु रसधातु में स्थित होने से ये भूताग्नियाँ 'रसाग्नि रूप' हो जाती हैं।

उक्त रसधातु रधिर धातु में मिश्रित होकर, व्यान द्वारा चालित हृदय यन्त्र की क्रिया से समस्त देह में अनुधावन करने लगता है। इस अनुधावन या परिभ्रमणकाल में, अग्न्याशय, पीयूष, चुल्लिका, अधिवृक्क आदि अन्तर्मुख ग्रन्थि-स्रोतों के स्राव भी परिस्फुट होकर इसमें मिलते रहते हैं। इनमें से अनेक स्राव आग्नेय प्रकृति के हैं, यथा अग्न्याशय का अन्तःस्राव — 'अग्निरस'²। ये

-
१. इन पाचनांशों में, इस युग के वैज्ञानिकों द्वारा खोजे गये निम्नलिखित सूक्ष्म आग्नेय द्रव्यों का परिगणन किया जा सकता है—विटामिन ए, ई, सी, बी १, बी २, बी १२, वायोटिन, नियेसिन, पेन्टोथीनिक एसिड तथा एन्जाइम-एमायलेज, लायपेज, फॉस्फेटेज, सिक्रिटिनेज आदि। ये रासायनिक या आग्नेय द्रव्य, रस एवं रक्तरस (प्लाज्मा तथा लिम्फ) में रहते हुए विविध रासायनिक क्रियायें या अग्निकर्म सम्पन्न करते हैं, जिनके परिणाम-स्वरूप रसवर्ती भौतिक द्रव्य, (एमीनोएनिड्स ग्लूकोज-लाइर्पिड्स-साल्ट्स) इस योग्य बनते हैं कि वे उत्कृष्टतर धातुओं का—रक्त-मांस आदि का निर्माण कर सकें।
 २. पाश्चात्य क्रिया-शारीर की परिभाषा में—'इन्सुलीन'। . . .

स्त्राव अलग-अलग न रहकर, रस रक्त में विलीन होते हैं और आग्नेय या रसायन-धर्म होने के कारण, समवेत रूप में 'रसाग्नि' के ही अन्तर्गत हैं।

रसाग्निकर्म और इसके परिणाम

रसाग्नि या 'रसगत पाचनांश और ऊष्मा' का क्रियाक्षेत्र देहपोषक रस या रसधातु है। रसाग्नि शब्द से अभिहित पूर्वोक्त पाचन द्रव्य रसधातु पर विविध अग्निकर्म या रासायनिक क्रियायें करते हैं। आयुर्वेद के क्रिया-शारीर विशारदों का मत रहा है कि इन रसधातुगत रसायन-क्रियाओं के या 'रसाग्नि कर्म' के परिणाम स्वरूप देहपोषक रस के, प्रसाद, धातु और किटू, ये तीन रूपान्तर हो जाते हैं।

प्रसाद रूप वह, जो कालान्तर में रस से उत्कृष्टतर धातु 'रक्त या रुधिर' का रूप ग्रहण कर लेता है, धातु रूप वह जो 'स्व' रूप में—स्थायी रसधातु के रूप में—परिणत होता है, और किटूरूप वह, जिसे हम स्थूल 'श्लेष्मा' कहते हैं, इस किटू में इसके अन्दर विलीन हुए वे पार्थिव और आप्य अंश हैं जो पोषक और पोष्य (प्रसाद व धातु) बनने से बचे रहते हैं।

देहपोषक रस, उक्त तीनों ही रूपों के साथ-साथ—रुधिर मिश्रित होकर—देह भर में अनुधावन करता रहता है। अनुधावन करता हुआ यह देह के भिन्न-भिन्न आशयों और सूक्ष्म स्थूल अवयवों तक पहुँचता है, रक्ताशयों में—यकृत, प्लीहा, अस्थिमज्जा में भी जाता है। यहाँ इसका प्रसाद रूप अंश या उत्कृष्टतर भाग (पोषक रस) रक्तबीज या रक्ताणु बनने के काम आता है। इसका दूसरा धातु रूप अंश (पोष्य रस) भिन्न-भिन्न धातुओं तक पहुँच कर उनके खाद्य अंश उनको प्रदान करता है, यह अपने भीतर से विविध धातु पोषक अंशों को निरन्तर वितरण करते रहने के कारण रिक्त होता रहता है, अतः पोष्य (पुष्ट किए जाने योग्य) कहाता है। तृतीय किटूभूत अंश (श्लेष्मा) उरस्; हृदय, आमाशय, जिह्वामूल, मस्तिष्क, सन्धिस्थल आदि को (सर्वांग को) उन-उन के श्लेष्मरस प्रदान करता रहता है।

ऊपर रस धातु के—'प्रसाद'—'धातु' और 'किटू' नाम से जिन रूपों की पृथक्-पृथक् कुछ चर्चा हुई है, उससे यह नहीं समझना चाहिए कि वे अंश, रस में पृथक्-पृथक् होकर रहते हैं। रस मूलतः अभिन्न और एक ही है। रसाग्नि की क्रियाओं के परिणामस्वरूप इसमें भिन्न-भिन्न प्रकृति के उक्त अंशों का आविभावित होता रहता है।

३. प्रोटीन, शर्करा, व फैट के विविध रूप।

अन्नरस जब भूताग्नियों द्वारा पच चुकता है, तब 'देहपोषक रस' बनकर अपने आशय—'हृदय'^५ की ओर चला जाता है। जिस रस में पार्थिव अंश की अधिकता होती है, वह अन्त्र से भीतर — विशेष पाक के लिए — प्रथम यकृत् को जाता है, परन्तु जो रस 'आप्य अंश बहुल' होता है, वह समान वात की प्रेरणा से सीधा हृदय को भी जाता है।^६ यतः हृदय, रस के साथ-साथ, रक्त का भी आशय है।^७ इस कारण हृदय में आकर रस स्वभावतः रक्त में मिश्रित हो जाता है। रक्त में रस ५० से ६० प्रतिशत तक होता है।^८ इस मिश्रण को, इसमें पोषण गुण युक्त रस की प्रधानता के कारण आयुर्वेद में 'रस' नाम दिया गया है, अस्तु। ये रस और रक्त दोनों, मिश्रित हुए, हृदय यन्त्र में आकर, व्यान की क्रिया से विक्षिप्त हो होकर, देह भर में सब और पहुँचाये जाते हैं।^९ रक्तमिश्रित रस, धमनियों के माध्यम से अनुधावन करता है। इस अनुधावन या परिभ्रमण-काल में स्थान-स्थान पर, रस-वह-स्रोतसों में से रिस-रिस कर यह रस, 'रसकर्म' सम्पन्न करता है,^{१०} अर्थात् प्रत्येक वुभुक्षित देहघट को उसके योग्य अन्नपान देकर उसे संतुष्ट और सन्तुष्ट करता है; धात्वग्नि पाक से देह-धातुओं का जो अंश व्यय हो चुकता है उसकी क्षति-पूर्ति करता है और यही रक्त में मिलकर रक्त की पुष्टि करता है। इन सब तथ्यों को आयुर्वेद में क्रमशः तुष्टि, प्रीणन और रक्त पुष्टि शब्दों से प्रकट किया गया है। ये सब कार्य सम्पन्न करके रस, सिराओं से, पुनः हृदय को लौट आता है।^{११}

४. 'आहारस्य सम्पृक्तं परिणतस्य यः तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः स 'रसः' इति उच्यते, तस्य हृदयं स्थानम् ।' --(सु० सू० १४।३)

× × ×

'तस्य रसस्य सर्वदेहानुसारित्वेऽपि हृदये स्थानम्'। (डलहन)

५. 'रसस्तु हृदयं याति समान महतेरितः'। (शा० पू० ख० ६-९)

६. 'रक्तादोनां सर्वशरीरचरणां अपि विशेषेण हृदयं स्थानं उक्तम्'

(च० सू० ३०।४ में चक्रपाणि)

७. वेस्ट एन्ड टॉड द्वारा प्रणीत वायोकेमिस्ट्री, चैप्टर १६।

८. व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा ।

युगपत् सर्वतोऽजलं देहे विक्षिप्तते सदा ॥ (च० चि० अ० १५-१६)

९. रसः तुष्टि प्रीणनं रक्तपुष्टि च करोति । (सु० सू० अ०।५-५)

१०. हृदो रसो निस्सरति तस्मादेव च सर्वशः ।

सिराभि हृदयं चैति—॥ (भेल संहिता सू० अ० २१)

रस का भौतिक एवं रासायनिक संघटन

रसायनिक द्वारा परिपक्व अतएव धातुस्वरूप 'रस'^{११} को, आयुर्वेद में, पांच-भौतिक मानते हुए भी 'आप्य' अर्थात् आप्य-अंश-वहुल (अधिकांश में जल एवं स्नेह द्रव्यों से युक्त) कहा है। न्यूनाधिक अनुपात में पार्थिव, आग्नेय और वायव्य अंश भी इसमें विलीन रहते हैं। रस का आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा भी विश्लेषण किया गया है और उसके घटकों की जानकारी प्राप्त की गई है।

आयुर्वेद में जिन्हें पार्थिव, आप्य, आग्नेय आदि नाम दिये गये हैं; उन्हें वैज्ञानिकों ने पृथक्-पृथक् द्रव्यांशों के रूप में खोज निकाला है। इन अंशों का वर्गीकरण करें तो रस में पार्थिव अंश (नाना प्रकार के प्रोटीनरूप^{१२} एवं उससे भिन्न नत्रजनीय द्रव्य^{१३} तथा पिष्टसारीय पदार्थ)^{१४}; आप्य अंश (स्नेह के विविध रूप^{१५} एवं जलीयांश)^{१६}; आग्नेय अंश (नाना प्रकार के विटामिन्स,^{१७} एन्जाइम्स,^{१८} धात्वीय यौगिक^{१९} एवं खनिज द्रव्य),^{२०} तथा वायव्यांश (विविध वाष्पीय द्रव्य)^{२१} अर्थात् चारों श्रेणियों के भौतिक द्रव्य उपलब्ध होते हैं।

फिर भी ९२ प्रतिशत जलीय भाग रहने, तर्पण-संवर्धन-प्रीणन

११. पाश्चात्य क्रियाशारीर के अनुसार 'प्लाज्मा तथा लिम्फ'।

१२. प्लाज्मा में उपलब्ध होने वाले प्रोटीन रूप नत्रजनीय पदार्थ—प्लाज्मा प्रोटीन, एल्ब्युमिन, अनेक ग्लोब्युलिन्स तथा फाइब्रिनोजिन।

१३. नत्रजनीय द्रव्य, यथा—ग्लुटेमिन, क्रियेटीन, सिट्रूलीन।

१४. पिष्टसारीय पदार्थ, यथा—ग्लुकोज, ग्लाइकोजन।

१५. स्नेह के विविध यौगिक, यथा—लाइपिड्स, फॉस्फोलाइपिड्स, कोलस्ट-रोल आदि।

१६. जलीय अंश, यह ९२ प्रतिशत होता है।

१७. विटामिन्स यथा—विटामिन ए, ई (टोकोफिरोल), सी (एस्कोर्बिक एसिड), बायोटिन, नियेसिन, पेन्टाथेनिक एसिड, बी १ (यियेमोन), बी २ (रिबोफ्लेवोन)।

१८. एन्जाइम्स, यथा—एमाइलेज, लायपेज, फास्फेज, सिक्रिटिनेज आदि।

१९. धात्वीय यौगिक, सोडियम, पोटासियम, मैग्नीशियम, कैल्सियम, लोह-ताप्र, आयोडिन के रासायनिक समास।

२०. खनिज द्रव्य, यथा—गन्धक, प्रस्फुरक।

२१. वाष्पीय या गैसरूप द्रव्य, यथा—ऑक्सिजन, कार्बन डायोक्साइड।

कर्म करने और श्लेष्म-वहुल होने से रस को आप्य एवं सौम्य माना गया है।^{३३}

रस धातु में विद्यमान उक्त चारों प्रकार के भौतिक अंशों में से, 'आग्नेय अंश तथा इसके साथ समवेत रूप में विद्यमान ताप' को रसायन रूप समझना चाहिए।

इन भौतिक द्रव्यों के अतिरिक्त, रस धातु में, (श्लैष्मिक) ओजःस्वरूप^{३४} वे अणु द्रव्य^{३५} भी उपलब्ध होते हैं, जो रोगरक्षक होने और रोग सहन शक्ति^{३६} से सम्पन्न अर्थात् वीर्यवान् होने के कारण 'रोग निग्रह'^{३७} का कार्य करते हैं।

२२. '—अत्रोच्यते स खलु द्रवानुसारी स्नेहन-जीवन-तर्पण-धारणा-दिभिः विशेषं:
‘सौम्य’ इति अवगम्यते'। (सु० सू० अ० १४।३)

२३. दश मूलसिराः हृत्स्थाः, ताः सर्वं सर्वतो वपुः।

रसात्मकं वहन्त्योजः—॥ (अ० ह० सू० २७ में अरुण दत्त)

२४. इन अणु द्रव्यों को अर्वाचीन क्रियाशारीर में 'एन्टीबॉडीज' कहा गया है, ये कई प्रकार के हैं, यथा—एग्लुटिनीन, हीमोलाइसीन, प्रेसिपिटीन, एन्टिटाक्सीन। ये द्रव्य प्रोटोन रूप एवं प्रबल या सशक्त होने से श्लेष्मकर्माय कहे जा सकते हैं।

२५. अर्वाचीनक्रिया शारीर में 'इम्युनिटी'।

२६. वलं ह्यलं निग्रहाय रोगाणाम्।

(च० चि० अ० ३ १६६)

रक्ताग्नि

आहार-द्रव्यों से उत्पन्न 'अन्न रस' जब देह जातीय बनकर, रसाग्निपाक के उपरान्त, रसधातु बन जाता है और रक्त में मिश्रित होकर तद्रूप हो लेता है, तब इसका 'रक्ताग्नि' से पाक होता है।

रक्ताग्नि की परिभाषा

'रक्ताग्नि'—जैसा कि हम रसाग्नि के विषय में जान चुके हैं—'रक्तगत पित्तोष्मा' है, अर्थात् 'रक्त में निद्यमान भिन्न-भिन्न प्रकार के पाचनांश' और उनकी क्रियाओं के लिये अपेक्षित ताप' को समवेत रूप में 'रक्ताग्नि' कहा जा सकता है।

रक्त

रक्ताग्नि पर विशेष विचार करने से पूर्व रक्त की संक्षिप्त चर्चा कर लेना उपयोगी है। रक्त या रुधिर का अपना स्वाभाविक वर्ण गहरा लाल है, इसी से इसे संस्कृत भाषा में लोहित या शोणित भी कहते हैं, इसका इन्द्रगोप (वीरवहूटी) के रंग से सादृश्य दिखाया गया है। यह लवण रस^१ अशीतोष्ण, सर्वधातुपोषक विशेषतः मांसपोषक, जीवन-प्राणन-रूप मधुर रसोचित^२ कर्म करने वाला, स्पर्श-ज्ञान में सहायक, वर्णप्रसादन और असंहत या द्रव रूप (धातु) है।

१. इन पाचनांशों का उल्लेख अगे हुआ है।

२. 'मधुरं लवणं किञ्चिद् अशीतोष्णं असंहतम्'। (अ०ह०स०अ० २७-५)

३. 'रक्तं वर्णं प्रसादं मांसपुष्टिं जीवयति च' (सु० स० अ० १५१५)

X X X

धातुनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानं असंशयम्।

स्वाः शिराः संचरद् रक्तं कुर्याच्चान्यगुणानपि॥

यदा त्वकुपितं रक्तं सेवते स्ववहाः सिराः।

तदा सम्यक् प्रजानाति स्पर्शननां शुभाशुभम्॥ (सु० शा० अ० ७)

प्राण (वायु में स्थित प्राण द्रव्य)^५ इस लाल वर्ण रुधिर का अनुगामी है। यह इसके साथ-साथ बना रहता है।

वैसे तो रक्तधातु, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, रस-मिश्रित होकर हृदय-यन्त्र द्वारा देह भर में अनुधावन किया करता है, परन्तु रसरक्त के इस मिश्रण में से यदि रस भाग को पृथक् कर लें तो शेष भाग को वास्तविक या खालिस रक्त कहा जा सकता है। इस रसरहित रक्त में सूक्ष्म लोहित बीज—श्वेत बीज—और चक्रिकायें पाई जाती हैं। ये सब नेत्रों द्वारा अदृश्य हैं। इन तीनों में लोहित-वर्ण रक्तबीजों का सर्वाधिक महत्व है, क्योंकि ये प्राण का बहन करते हैं। ये ही रस में मिश्रित हो होकर उसे लाल वर्ण प्रदान करते हैं, जिसे आगे जाकर 'रक्त' कहा जाता है।

रक्त और प्राण

रक्तगत लोहित कणों या लोहित बीजों का लाल रंग, इनके अनुगामी 'प्राण' के कारण होता है। यह प्राण एक भौतिक द्रव्य है और हमारे आस-पास की शुद्ध वायु में मिश्रित रहता है।

लोहित कणों के सूक्ष्म दर्शन से ज्ञात होता है कि इनके भीतर एक विशेष रंजक द्रव्य भरा रहता है, जिसे 'रक्त रंजक'^६ कहते हैं; क्योंकि इसी के कारण रुधिर का रंग गहरा लाल होता है।

प्राणद्रव्य इस रक्तरंजक के साथ संयुक्त होता है। उक्त संयोग से 'रक्त रंजक' गहरा लाल वर्ण ले लेता है। जब यह संयोग टूटकर प्राण द्रव्य पृथक्

५. इसे अर्वाचीन रसायन विज्ञान में 'ऑक्सिजन' नाम दिया गया है।

६. '—प्राणः, शोणितं ह्यनुवर्तते' । (च० स० २४-४)

६. ये रक्तबीज, वर्ण में लाल, चक्राकार, दोनों ओर से चपटे और किंचित् नतोदर कण होते हैं, जो अणुवीक्षण यन्त्र के सहारे से ही देखे जाते हैं। सूक्ष्मता के कारण, प्रति क्यूबिक मिलीमीटर में, ये पंतालीस लाख से साठ लाख तक की संख्या में समा जाते हैं। रक्त बीजों को अर्वाचीन क्रियाशारीर में 'एरिथ्रोसाइट' नाम दिया गया है। ये गर्भस्थ शिशु के यकृत् प्लीहा में बनते हैं, परन्तु प्रसवोत्तर काल में जन्म के पश्चात् रक्तवर्ण मज्जा के भीतर बनने लगते हैं। पहिले ये बीज रूप में जन्म लेते फिर वहाँ बढ़ते हैं, तब क्रमशः पूर्णता को प्राप्त करके रुधिर प्रवाह में आ मिलते हैं।

७. अर्वाचीन क्रियाशारीर का नाम 'हीमोग्लोबीन' (शोणवर्तुलीन)।

हो जाता है, तब 'रक्तरंजक' का वर्ण भी लाल न रहकर श्याव या वेंगनी-सा रह जाता है।

उक्त प्राण या प्राणभूत-द्रव्य का विशेष महत्व है। यह प्राणामि कर्म या जीवनमूलक रसायन-क्रियाओं को करने-कराने में मुख्य भाग लेता है। रक्त संवहन के समय लोहितकण जब फुफ्फुस में पहुँचते हैं, तब वहाँ उच्छवास द्वारा भीतर आये हुए प्राणद्रव्य के सम्पर्क में आते हैं। प्राणद्रव्य इन कणों के भीतर विद्यमान 'रक्तरंजक' के साथ संपृक्त हो जाता है और उससे जुड़ जाता है। प्रतिपल लाखों-करोड़ों लोहितकणों के साथ ये प्राण कण संयुक्त होते और देह के भीतर पहुँचते रहते हैं। स्पष्ट है कि जुड़े हुए प्राण कण भी 'असंख्य होंगे।' इनके कारण सब जीव-जन्तु 'प्राणवान्' बने रहते हैं और 'प्राणी' कहते हैं। उक्त सब प्रक्रिया आयुर्वेद के शरीर-क्रिया विज्ञान में—

'युनित प्राणिनं प्राणः शोणितं ह्यनुवर्तते'—(च० सू० २४-४)

इस चरक वाक्य से प्रकट होती है।

'प्राण-द्रव्य' के साथ संयुक्त हो जाने पर रक्तरंजक, अब 'प्राणमय रक्तरंजक' बन जाता है। इस 'प्राणमय रक्तरंजक' को लिये हुए लोहितकण देह भर में अनुधावन करते हैं और प्रत्येक देहाणु तक पहुँचकर उन्हें यह प्राण-द्रव्य प्रदान करते रहते हैं। देहाणुओं के लिए यह प्राण-द्रव्य 'जीवन' स्वरूप है, इसके अभाव में देहाणु जीवित नहीं रह सकते। हमारे देह के घटघट में (प्रत्येक देहघट या देहाणु के भीतर) पहुँचा हुआ यह प्राण ही एक-एक देहाणु को जीवित बनाये रखता है। जिस प्रकार हम इस वाहरी प्राण-द्रव्य युक्त वायु के विना जीवित नहीं रह सकते, उसी प्रकार हमारा एक-एक देहघट भी इस भीतरी प्राण वायु के विना जीवित नहीं रह सकता। वाहरी और भीतरी 'प्राण' के गुण-धर्म एक से हैं।^{१०} वास्तव में तो एक-एक देह घट का जीवित रहना 'जीवन की इकाई' है, इन सब इकाइयों का सामूहिक जीवन ही मनुष्य जीवन या मानव-जीवन है। प्राण के सहारे देहघटों के

८. रक्तबीजों के साथ-साथ देह के भीतर रहने वाले इन असंख्य अगणित प्राण कणों के कारण ही सम्भवतः संस्कृत में प्राण का—'प्राणः', 'प्राणात्' बहुवचन में प्रयोग अधिक हुआ है।

९. अवचीन वैज्ञानिक नाम 'ऑक्सिस हीमोग्लोबीन'

१०. प्राणो ह्याभ्यन्तरो नृणां वह्यप्राणगुणान्वितः।

धारयत्यविरोधेन शरीरं पांचभौतिकम्। (सु० सू० अ० १७।१३)

इस सामूहिक जीवन को 'प्राण का जीवनधारण कर्म' कहा जाता है। हमारे पांचभौतिक देह की सजीवावस्था इसी से प्रकट होती है।

उक्त प्राणद्रव्य, देहघटों के भीतर क्या किया करता है; किस प्रकार हमें जीवित रखता है, इसके अभाव में वे क्यों मृत्यु का ग्रास बनते हैं—यह सब विषय शारीर-क्रिया-विज्ञान के ग्रन्थों में विस्तार से जाना जा सकता है।

रक्तरंजक

प्राणद्रव्य के अतिरिक्त, रक्तबीज या लोहित-कण का दूसरा महत्त्व-पूर्ण द्रव्य 'रक्तरंजक' है। यह लोह एवं ताम्र धातु और 'रंजक द्रव्य'^{११} के संयोग से निर्मित 'पायिव'^{१२} वस्तु है। गर्भ के भीतर रक्तरंजक का निर्माण पांचभौतिक आहार रस से, यकृत-प्लीहा और ग्रहणी में भी होता है, परं युवा शारीर में अस्थिगत 'सरक्तमेदस्' या रक्तवर्ण मज्जाधातु के भीतर होता रहता है।

जब लोहितकण जीर्ण-शीर्ण या क्षत-विक्षत होकर टूटते हैं, तब रक्तरंजक भी विघटित होता है। इसके लोहांश और रंजकद्रव्य पृथक्-पृथक् होकर यकृत-प्लीहा में चले जाते हैं। लोहांश वहाँ संचित हो जाता है और पुनः 'रक्तरंजक' बनाने के काम आता है। रंजकद्रव्य का विघटन करके यकृत यन्त्र इसे पीतवर्ण पित्तस्राव के रूप में परिवर्तित करता है और अन्त में भेजता रहता है।

जीर्ण लोहितकणों का विघटन और नवोन लोहितकणों का निर्माण,—यह हमारे सजीव किन्तु शोर्यमाण शारीर की नैसर्गिक और दैनिक प्रक्रिया है। विघटन प्रक्रिया में टूटे हुए लोहितकणों का किट्टभूत अंश^{१३} यकृत में आकर और परिवर्तित होकर, याकृतपित्तस्राव^{१४} का रूप ले लेता है, जो नित्यप्रति हमारे ग्रहणी या पच्यमानाशय के भीतर परिसृत होता रहता है।

रक्तबीजोत्पत्ति

ऊपर प्राण और रक्तरंजक की कुछ चर्चा हुई है, और यह बतलाया गया है कि रक्तबीज या लोहितकण का रक्तवर्ण, उक्त दोनों सूक्ष्म द्रव्यों के कारण उत्पन्न होता है, वे दोनों इसके मुख्य अंश भी हैं। परन्तु मात्र उन दोनों से ही रक-

११. अर्वाचीन क्रिया-शारीर में 'हीमेटीन'।

१२. 'प्रोटीन निर्मित'

१३. इसी से आयुर्वेद में पित्त (स्थूलरूप) को 'रक्त का मल' कहा गया है।

१४. अर्वाचीन क्रिया-शारीर का 'बाइल'

बीज या लोहिताणु नहीं बन जाते। लोहिताणु पांचभौतिक हैं। इनमें यद्यपि पार्थिव और आप्य^{१०} उपादान मुख्य हैं, फिर भी जैसा कि आयुर्वेद में कहा गया है—इनके निर्माण के लिए आमाशय^{११} (आमपच्यमानाशय) में उत्पन्न 'रंजक-पित्त'^{१२} की आवश्यकता पड़ती है, इसके साथ-साथ 'अग्नि' अथवा रसायन-रक्ताग्निरूप आग्नेय अंश^{१३} भी अपेक्षित है। यह आग्नेय अंश आहार-वस्तुओं में

१५. रक्तवीज या लोहिताणु, प्रोटीन और लाइपिड-विशेषतःफॉस्फोलाइपिड के बने होते हैं। प्रत्येक लोहिताणु के चतुर्दिक् एक पतली या झीनो कला के आवरण रहता है। यह सुधिर या अति सूक्ष्म छिद्रों से युक्त होता है। आवरण के भीतर जालक (स्ट्रोमा) और उसमें 'रक्तरंजक' भरा रहता है। सुधिर आवरण के आरपार कुछ द्रव्य लोहिताणु के भीतर आ-जा सकते हैं। लोहिताणु में 'बीजक' या 'केन्द्रीय जीवन विन्दु' (न्यूविलयस) नहीं रहता। इसमें जीवन बनाये रखने एवं ताप और ऊर्जा (इनर्जी) उत्पन्न करते रहने के लिए, वाह्यागत रसधातु (रक्तरस) में से, पोषक—जीवनीय तथा आग्नेय द्रव्य, इसकी सुधिर कला में होकर, इसके भीतर पहुँचते रहते हैं। इनमें पार्थिवांश और 'इन्धन रूप ग्लुकोज' मुख्य हैं। लोहिताणु का रक्त रंजक (हीमोग्लोबीन), प्राणवह स्रोतस् तक पहुँचकर, वहाँ आये हुए वायु में से प्राण द्रव्य (ऑक्सिजन) को ले लेता है। इस प्राणद्रव्य और इन्धन रूप द्राक्षाशर्करा (ग्लुकोज) के पारस्परिक अग्निकर्म से ताप एवं ऊर्जा की उत्पत्ति होती है। अग्निकर्म के अन्त में, किटूरूप जल तथा मलभूत वायु (कज्जलहि ऊर्जिमद या कार्बन डायोक्साइड) बनते हैं। ये दोनों, निश्वास के समय, देह के बाहर निकाल दिये जाते हैं। उक्त क्रिया करता हुआ प्रत्येक लोहिताणु जीवन धारण करता रहता है। लोहिताणु की आयु डेढ़ मास से चार मास की ज्ञात हुई है।

१६. 'आमाशयाश्रयं पित्तं रंजकं रसरंजनात्'।

(अ० ह० स० अ० १२)

१७. वारभट के इस 'रंजक पित्त' को आधुनिक विज्ञान ने, 'इन्टीजिक फॉक्टर' नाम दिया है, इसे एक 'म्यूको प्रोटीन' के रूप में उपलब्ध किया गया है, जिसे 'एडिसोन' कहते हैं।

१८. आयुर्वेद के इस आग्नेयद्रव्य या पाचनांश को अर्वाचीन विज्ञान में 'एन्टी एनोमिक या हीमेटिनिक प्रिसिपल' नाम दिया गया है। यह सूक्ष्म द्रव्य—'विटामिन बी १२' के रक्तवर्ण स्फटिकों (तथा विटामिन बी ११

सन्निविष्ट भूताग्नियों के रूप में बाहर से आकर यकृत् के भीतर संचित होता है, वहुधा देह के भीतर भी यह बन जाता है। वहाँ से कुद्रान्व (ग्रहणी व पच्यमानाशय) में आता है, फिर पच्यमान आहाररस में मिलकर यह पुनः अन्व के माध्यम से भीतर उपशोषित होता है, और रक्तरस के साथ-साथ यकृत्-लीहा एवं रक्तमज्जा में पहुँचता है। वहाँ उक्त आग्नेय अंश, लोहिताणु का उपादान बनने वाले पार्थिव अंश^{११} को धात्वीय^{१०} रूप प्रदान करता है, और तब इस धात्वीय पार्थिवांश से—लोह एवं ताम्र के सहकार में—रक्तरंजक बनकर लोहितकण की उत्पत्ति हो पाती है। अभिप्राय यह कि लोहिताणु या रक्तगत लोहित वर्ण के कण को बनाने के लिए अनेकानेक उपादान द्रव्यों^{१२} के साथ-साथ आग्नेय अंश की अर्थात् रंजक पित्त (रंजकाग्नि) एवं रक्ताग्नि की, भी आवश्यकता है। इसी भाव को चरक ने—

‘पित्तोष्मणः सरागेण रसो रक्तत्वमृच्छति’।

कहकर व्यक्त किया है और ‘पित्त’ से ‘रंजक पित्त’ की ओर तथा ‘ऊष्मा’ से ‘रक्ताग्नि’ की ओर संकेत कर दिया है।

रंजकपित्त और रक्ताग्नि

इसी स्थल पर हमें, रंजकपित्त (रंजकाग्नि) और रक्ताग्नि में भेद समझते हुए इन पर पृथक्-पृथक् विचार कर लेना चाहिये।

ये दोनों स्पष्टतः अलग-अलग द्रव्य हैं। पिछले वर्णनों से यह बात प्रकट है कि, रंजकपित्त के सहकार में ही रक्ताग्नि, रुधिर-निर्माण-कर्म को सम्पन्न कर पाता है। रंजकपित्त देह के भीतर बनने वाला द्रव्य है।^{१३} जबकि रक्ताग्नि प्रायः बाहर से आने वाले^{१४} भौतिक द्रव्यों के माध्यम से हमें प्राप्त होता है। यह

याकॉलिक एसिड) के रूप में प्राप्त कर लिया गया है। वी १२ का इससे पूर्व, भूताग्नि के रूप में परिचय दिया जा चुका है। यह अग्नि-द्रव्य रक्त में पहुँचकर—स्थान भेद और कार्यभेद से—‘रक्ताग्नि’ नाम ग्रहण करता है।

१९. ‘एमीनो एसिड’।

२०. ‘एनिमल प्रोटीन’ का रूप।

२१. लोहिताणु में ‘रक्तरंजक’ के अतिरिक्त अन्य अनेक द्रव्य भी होते हैं यथा ग्लुटेनियोन, अर्गोथियोनिन आदि।

२२. इसे अर्वाचीन क्रिया-शारीर में ‘इन्ट्रोजिक फॉक्टर’ के रूप में समझा गया है।

२३. अर्वाचीन क्रिया-शारीर की परिभाषा में ‘एक्सट्रोजिक फॉक्टर’।

अग्निभूत अंश, आरम्भ में 'भूताग्नि' के रूप में रहता है और धातुगत होने पर 'धात्वर्ग्नि' नाम ग्रहण करता है।

रंजकपित्त का मूल स्रोत आमाशय अर्थात् आम-पच्यमानाशय (आमाशय और ग्रहणीक्षेत्र) है।

वैज्ञानिकों द्वारा ज्ञात किया गया है कि हम जब पांचभीतिक आहार का सेवन करते हैं तो भीतिक द्रव्यों के साथ-साथ विलीन हुए भूताग्नि रूप अंश भी हमारे आमाशय में पहुँचते हैं। आहार-पचन के समय भीतिक द्रव्यों का संचात दूटता है,—‘संघात भेद’ होता है। इस समय भूताग्नि रूप अंश भी महास्रोतस् में स्वतन्त्र हो जाता है। भूताग्नियाँ अनेक हैं। इन्हीं में से अन्यतम भूताग्नि,^{१४} आम-पच्यमानाशय में स्थित रंजकपित्त^{१५} के साथ संपृक्त होता है। इसके साथ संपृक्त या संयुक्त रह कर ही^{१६} यह पच्यमानाशय से देह के भीतर उपशोषित होता है। यदि रंजकपित्त, आमाशय व ग्रहणी में न रहे (जैसा कि त्रिदोषज पाण्डु में हो जाता है) तो उक्त भूताग्नि-रूप अंश भी उपशोषित होकर भीतर नहीं पहुँच पाता और तब पुरोष के साथ-साथ बाहर निकलता रहता है। उस दशा में, उक्त भूताग्निरूप अंश, उपशोषित न होने से, धातुओं तक भी नहीं पहुँच पाता और रक्ताग्नि रूप में भी परिवर्तित नहीं हो सकता, परिणामतः रक्ताग्नि के अभाव में रक्त का निर्माण होना बन्द हो जाता है।^{१७} स्पष्ट है कि

२४. आयुर्वेद की इस विशिष्ट भूताग्नि को आधुनिक विज्ञान 'विटामिन बी १२' कहता है। इस 'बी १२' की रचना में कोवाल्ट घातु तथा प्रस्फुरक इन दो तंजस द्रव्यों का प्रमुख भाग है, इसी से इसे 'सायनोकोवेलेमाइन' नाम भी दिया गया है। आयुर्वेद की दृष्टि से इसे प्रथम 'भूताग्नि', फिर रक्त आदि में पहुँचने पर 'रक्ताग्नि' आदि की संज्ञा दी गई है।

२५. अर्वाचीन क्रिया-शारीर में इसे 'कॉलस इंट्रिजिक फैक्टर' कहा गया है।

२६. 'वट दि फ्लॉलिंग नांड इज दैट बी १२ एलोन इज दि बेच्युरेन फैक्टर एण्ड डैट इंट्रिजिक फैक्टर इज इन्वाल्ड इन दि इन्टस्टाइनल एज्जाप्शन आफ दि विटामिन और इन प्रोटेविटग दि विटामिन इन सम वेसो दैट एजार्थन में ऑकर'।

(बायोकैमिस्ट्री—वेस्ट एण्ड टॉड, चैस्टर १९, पृष्ठ ७६५)

२७. 'एकांडिंग टु ज्युक्स दि पर्नीशस एनीमिया पेशांट सकर्स फॉम ए लैक ऑफ इंट्रिजिक फैक्टर विकाज आफ दि इन्डिविजुअल्स इनैविलिटीटु प्रोड्यूस

आम-पच्यमानाशय में स्थित इस पित्तांश के अभाव में उक्त 'अग्नि' व्यर्थ जाती है।

इन सबको ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि रंजकपित्त, रक्त के निर्माण में एक अनिवार्य सहकारी तत्व है; जबकि रक्ताग्नि, लोहित-कणों का मुख्य निर्माणकर्ता है। यह लोहितकणों का ही उत्पादक नहीं, प्रत्युत रक्तांश-भूत क्षत्रकणों और चक्रिकाओं के निर्माण के लिए भी उत्तरदायी है।

रक्ताग्नि वस्तुतः रसमिश्रित रक्त का—सम्पूर्ण रक्त धातु का—प्रमुख उत्पादक या स्थृता है। इतना ही नहीं, यह मांस धातु के निर्माण की भी भूमिका प्रस्तुत करता है; क्योंकि देहवर्ती भौतिक पार्थिवांश को धातुजातीय पार्थिवांश में परिवर्तित कर देने का महत्वपूर्ण कार्य भी यह अनेक अंशों में सम्पन्न करता है।^{१०} स्मरण रहे कि इस धातुजातीय पार्थिवांश^{११} से ही आगे जाकर वह तन्तुरस या धातुरस तैयार होता है जिससे मांसधातु के कण संतृप्त होकर, स्वजातीय घटों की रचना करने में, समर्थ होते हैं। अस्तु,

रक्त के अन्य उपादान

रक्तगत लोहिताणुओं के साथ दूसरे प्रकार के अणु श्वेताणु या क्षत्रकण हैं।^{१२} इनका निर्माण स्थल भी यकृत् प्लोहा एवं सरक्तमेदस् या रक्तवर्ण मज्जाधातु है। ये अणु मुख्यतः कृमिघ्न हैं, अर्थात् देह में वाहर से आने

ए गेस्ट्रिक जूस कन्टेनिंग डि फॉक्टर सो दैट ईचन दो बी १२ इच्च प्रेजेन्ट
इन दि डायट इट इच्च ऑफ नो अवेल'।

(वायोकेमिस्ट्री—वेस्ट एन्ड टाड, अध्याय १९, पृष्ठ ७६५)

२८. 'कोवेलेमाइन (बी १२) अन्डर सम एक्सप्रेसिमेन्टल कन्डीशन्स हैच्च एनिमलप्रोटीन फॉक्टर एक्टिविटी'।

(वायोकेमिस्ट्री—वेस्ट एन्ड टाड, अध्याय १९, पृष्ठ ७६६)

२९. अवचीन क्रिया शारीर की परिभाषा में—'ए निमल प्रोटीन')।

३०. इन्हें अवचीन-क्रिया शारीर में 'ल्युकोसाइट्स' कहा जाता है। इनके अनेक उपभेद हैं। प्रति क्यूबिक मिलीमीटर रक्त में ये, पाँच हजार से दस हजार तक की संख्या में, उपलब्ध होते हैं।

(उक्त वायोकेमिस्ट्री, अध्याय १६)

वाले और रोगोत्पादक अनेक कृमियों से संघर्ष करके ये उन्हें नष्ट करते हैं।

रक्त के अन्य महत्वपूर्ण अंश के रूप में चक्रिकायें^{३१} हैं, ये चक्राकृति और चपटे कण हैं। चक्रिकायें भी यकृतप्लीहा एवं अस्थिमज्जा में जन्म लेती हैं। ये रुधिर के स्कन्दन (जमाव) में परम सहायक हैं। ये भी सूक्ष्म और बहुसंख्यक हैं।^{३२}

रक्त की रस-सापेक्षता

पीछे 'रसनिरपेक्ष रक्त' की संक्षिप्त चर्चा हुई है, परन्तु यह लोहिताणु + श्वेताणु + चक्रिका रूपी रक्त, केवल इन्हें ही रूप में, वस्तुतः पाया नहीं जाता। सजीव देह के भीतर तो 'रक्तधातु', रसमिश्रित—अतएव द्रवरूप में ही रहता है। इस द्रवरूप को ही सामान्यतः रक्त या रक्तधातु कहा जाता है, जिसकी प्रारम्भ में चर्चा हुई है।

रक्त का पांचभौतिक संघटन

रक्त धातु भी भौतिक द्रव्य है, इसमें पार्थिव, आप्य, आग्नेय और वायव्य चारों वर्गों के अंश रहते हैं।^{३३} फिर भी पाचकाग्नि, भूताग्नि और धात्वाग्नि तीनों के अंश (पाचनांश) विद्यमान होने से, इसमें आग्नेय अंश की या अग्नि तत्व की प्रधानता रहती है। विचित्रता यह पाई गई है कि जो पाचनांश महास्रोतस् की पाचकाग्नि में रहते हैं उनमें से अनेक, रक्त में भी, उपलब्ध

३१. आंगलभाषा का नाम—'लॉड प्लेटलॉट्स'।

३२. प्रति क्यूविक मिलीमीटर में ये दो लाख से चार लाख तक की संख्या में होती हैं। (उक्त वायोकेमिस्ट्री, अध्याय १६)

३३. इन अंशों को, अर्बाचीन वैज्ञानिकों ने खोज करके, पूयक्-पूयक् रूप में मालूम किया है और इन्हें अपनी भाषा में अलग-अलग नाम दे दिये हैं, जो निम्न प्रकार हैं—पार्थिवांश, यथा—सीरम प्रोटीन, हीमोग्लोबीन, ग्लोब्युलिन, क्रियेटिनीन, ग्लूकोज आदि।

आप्य अंश, यथा—प्लाज्मागत जलीयभाग, लाइपिड—आदि।

आग्नेय अंश, यथा—पोटासियम, मैग्नीशियम, आयोडिन, वाइलोरबीन, क्लोराइड्स, एसिड फॉस्फेट्स, एल्कलाइन फॉस्फेट्स, प्रस्फुरक, एमायलेज, लायपेज, इन्सुलोन आदि।

होते हैं;^{३४} इनके अतिरिक्त अग्न्याशय का (अन्तःस्वाव) अग्निरस^{३५} तो रक्तधातु में और वहाँ से अनुधावन करता हुआ देह के प्रत्येक सूक्ष्मघट तक जा पहुँचता है। इन तथ्यों के प्रकाश में आयुर्वेद की यह मान्यता कि— अपने आशय (महालोतम्) में विद्यमान कायाग्नि या जाठराग्नि के अंश धातुओं में (रस रक्तादि में) भी स्थित होते हैं^{३६}—सर्वथा संगत और ठीक है; आधुनिक गवेषणाओं द्वारा इसकी पुष्टि होती है। अस्तु, रक्तधातु में रक्त अग्नितत्व का प्राधान्य होने से इसे आग्नेय (अग्नितत्व-प्रधान) कहा गया है।

रक्ताग्नि के मुख्य कर्म

रक्त धातु की उत्पत्ति के उपरान्त इसके 'प्राणन' और 'जीवनधारण' रूपी कर्मों पर भी विचार कर लेना उचित है।

रक्त के मुख्य भाग लोहिताणु हैं। इनकी आयु या जीवन-अवधि डेढ़ मास से चार मास की ज्ञात की गई है। इस अवधि तक जीवित रहने के लिए इन्हें स्वभावतः प्राण-वायु की और आहार या पोषक द्रव्य की आवश्यकता होती है। प्राण-वायु के रूप में ये, प्राणद्रव्य^{३७} या अम्बर पीयूष को (शार्ङ्ग-घर के शब्दों में) और आहार के रूप में जलविलीन पार्थिवांश 'द्राक्षा शर्करा'^{३८} को, ग्रहण करते रहते हैं। प्राणद्रव्य को, जैसा कि हम पहिले देख

वायव्यांश, यथा—ओषजन, कार्वन डायोक्साइड, एस्कार्बिक एसिड या विटामिन 'सी', घायरांविसन (ओषजनीकरण का प्रेरक होने से), सेक्स हार्मोन आदि।

३४. इनमें एमायलेज, लायपेज और फॉस्फेटेज ऐसे अग्निद्रव्य या पाचनांश हैं, जो महालोतस् की जाठराग्नि में भी उपलब्ध होते हैं और रस-रक्त के भीतर भी इनकी विद्यमानता है।

३५. अर्वाचीन किया-शारीर का नाम 'इन्सुलीन'।

३६. 'स्वस्यानस्थस्य कायाग्नेः, अंशा धातुषु संशिताः।'

(अ० ह० स० अ० ११)

३७. वायु का प्राणदायक अंश, इसे शार्ङ्गघर ने अम्बरपीयूष नाम से स्मरण किया है, अर्वाचीन वैज्ञानिकों की सज्जा के अनुसार, 'ऑविसजन'।

३८. अर्वाचीन वैज्ञानिक नाम 'र्लूकोज़'।

चुके हैं, वे लोहिताणु स्वयं प्राणवह-स्रोतस् में पहुँचकर ग्रहण करते हैं। आहार-द्रव्य (द्राक्षा शर्करा) को अपने चतुर्दिक् विद्यमान 'रस' में से लेते हैं। प्राणद्रव्य और आहारद्रव्य दोनों की विद्यमानता में लोहिताणु के भीतर, वायु^{३९} और अग्नि^{४०} के सहकार से धात्वग्निकर्म (धतुगत पचनात्मक रासायनिक कर्म) सम्पन्न होता है, जिसके परिणाम-स्वरूप ताप और ऊर्जा का (पैतिक शक्ति का) आविर्भाव हुआ करता है। इस पचनात्मक अग्निकर्म के होते रहने पर ही लोहिताणु अपनी नियत आयु तक जीवित रहते हैं। प्राणद्रव्य का ग्रहण करना इनका 'प्राणन' कर्म है, और आहार पचनोपरान्त ताप एवं शक्ति उत्पन्न करते हुए जीवित बने रहना ही इनका 'जीवन-धारण' कर्म है। जीवित रहने की अवधि समाप्त होने पर यावीच में कारणवश-जीर्ण जर्जर होकर-ये प्लोहा में चले जाते हैं।

लोहिताणुओं में होने वाली उक्त रासायनिक क्रिया, आयुर्वेदीय क्रियाशारीर की परिभाषा में 'रक्ताग्नि कर्म' है।

यह हम पहिले के प्रकरण में देख चुके हैं कि रसधातु का प्रसादभूत अंश, जब नवीन रक्त के रूप में परिवर्तित हो चुकता है, तब वह देहस्थ रक्त धातु में लीन होकर, अपनी रक्ताग्नि (रक्तगत विविध पाचनांशों) के साथ-साथ देह भर में अनुधावन करने लगता है। इस समय अग्न्याशय, चुल्लिका, अधिवृक्क, वृषण आदि अन्तर्मुख ग्रन्थिस्रोतसों के अन्तःस्राव भी आ-आकर इसमें सम्मिलित होते रहते हैं। इनके रसायनधर्म या अग्नि-कर्म-मूलक अंश, 'रक्ताग्नि' का संवर्धन करते हैं। ये भी पाचनांश रूप या 'अग्निरूप' हो जाते हैं।

प्राचीन आर्य चिकित्सकों की मान्यता के अनुसार इस रक्त का, अपनी अग्नि-'रक्ताग्नि' से पाक, कुछ काल तक, होता रहता है। रसपाक के सहश इस रक्त-पाक के परिणामरूप में भी प्रसाद, धातु और किटू तीन प्रकार के अंशों का प्रादुर्भाव होता है, अर्थात् रक्तरूप रहते हुए भी इसमें तीन प्रकार के अंश प्रस्तुत हो जाते हैं।

इनमें प्रसाद-रूप अंश से, उत्तर धातु--'मांस' के उपादान बनते हैं। यह

३९. वात का प्रेरणात्मक कर्म (आविसडेशन के लिए प्रेरणा देने का कार्य)

थायरॉक्सिन नामक वाताग्निधर्म 'हामोन' द्वारा सम्पन्न होता है।

४०. अग्नि के रूप में अग्निकर्म या ज्वलन-कर्म को (शर्करा के ज्वलन को),

अग्निरस (इन्सुलीन) सम्पन्न करता है।

प्रसादभाग वही पार्थिवांश है, जिसे रक्ताग्नि-रूप पाचनांशों^{४१} ने मांसजातीय द्रव्य^{४२} के रूप में परिवर्तित किया या, अतएव जिसमें मांसतन्तु बन सकने की योग्यता उत्पन्न हुई थी ।

धातुरूप भाग वह जो रंजकपित्त और रक्ताग्निरूप^{४३} पाचनांशों द्वारा, लोहितकणों, श्वेतकणों और चक्रिकाओं के रूप में, यकृत, प्लीहा, मज्जा के भीतर प्रस्तुत हुआ था ।

किटू भाग में वे द्रव्य समाविष्ट हैं जो रक्ताग्निरूप अन्य अनेक पाचनांशों^{४४} की और वात^{४५} की क्रियाओं के अन्तिम परिणामरूप में उत्पन्न होते हैं ये किटू या मलपदार्थ मलाग्नियों या मलपाचनांशों^{४६} द्वारा यकृत-प्लीहा आदि यन्त्रों में परिवर्तित किए जाते हैं । इन मलों में मुख्य मल वह है जो लोहितकणों के दूटने और रक्तरंजक के विघटित होने पर, पहिले 'रंजकद्रव्य' में तदनन्तर 'याकृतपित्तस्राव' के रूप में परिणत होकर, अन्त्र के भीतर परिस्थुत होता रहता है, जिसे पित्त^{४७} (स्थूल पित्तस्राव) कहा जाता है । इस याकृतपित्तस्राव के अतिरिक्त, पित्तवर्गीय कतिपय ऐसे रसायनधर्मा द्रव्य भी तैयार होते रहते हैं, जो रुधिर में मिलकर अधो-आमाशय, अग्न्याशय, हृदय, मस्तिष्क, नेत्र, त्वचा आदि पित्तकेन्द्रों तक तथा एक-एक देहघट तक पहुँचते हैं और इनमें होने वाले अग्निकर्म को सम्पन्न करते हैं । इन्हें आयुर्वेद में, इनके कार्यनुसार पाचक, साधक, आलोचक, ख्राजक पित्त की संज्ञायें दी गई हैं । पर ये वास्तव में 'अग्निरूप' या 'पाचनांशरूप' हैं, इसी से इन्हें पाचकाग्नि, साधकाग्नि, आलोचकाग्नि आदि भी कहा है ।

इनके अतिरिक्त रुधिर के जिस 'रक्तरंजक' का विघटन होता है वह, क्योंकि

४१. पार्थिवांश 'बी १२' तथा इसी प्रकार के पाचनों की सहायता से, रक्तमें धुले हुए पार्थिवांश, देहजातीय और धातुजातीय पार्थिवांश में परिवर्तित होते हैं ।

४२. पूर्वोक्त 'एनिमल प्रोटीन' ।

४३. आमाशयस्य 'म्यूकोप्रोटीन' और 'पाचनांश बी१२' (तथा बी ११ या फॉलिक एसिड) आदि ।

४४. इन्सुलीन आदि ।

४५. प्राणद्रव्य 'आदिसज्जन' तथा प्रेरक द्रव्य 'यायरांडिसन' आदि, अपने इन गुणों के कारण, आयुर्वेद की दृष्टि से, वायुद्रव्य के अन्तर्गत आते हैं ।

४६. इनमें, अर्वाचीन विज्ञान के 'केटेलिस्ट' श्रेणी के पाचनांश आते हैं ।

४७. अर्वाचीन-क्रिया शारीर का 'वाइल' ।

मुख्यतः पार्थिव और आग्नेय अंशों से निर्मित है, अतः ये अंश भी अग्नियों द्वारा 'मलरूप' ग्रहण करने के लिये यकृत् प्लीहा में पहुँचते हैं। वहाँ इनके तैजस अंश (लोह ताप्र) संचित हो जाते हैं, और पार्थिवांश विघटित एवं परिवर्तित होकर 'यूरिया' नामक मल के रूप में आ जाता है, जो नित्य प्रति मूत्र के साथ घुलकर निकल जाया करता है।

किटू वस्तुतः एक 'सामान्य' संज्ञा है, इसके 'विशेष' की—विशिष्ट-विशिष्ट रूपों की—खोज करें तो भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक मलद्रव्य^{४८} उपलब्ध होते हैं। ये सब मलाग्नि (या मल पाचनाशों) की क्रियाओं के परिणाम हैं।

रक्त धातु में जिस रक्ताग्नि (विशिष्ट पाचनांश+ऊष्मा) की चर्चा की जा रही है, वह प्रत्येक प्राणी में और प्रत्येक व्यक्ति में, किंचित् भिन्न-भिन्न प्रकृति की होती है। रक्ताग्नि की इस भिन्नता को हटाना आवश्यक होता है, तभी एक व्यक्ति का रुधिर दूसरे व्यक्ति के रुधिर के साथ तदाकार या तद्रूप हो पाता है। इस भिन्नता को दूर करना भी प्राणी की अपनी रक्ताग्नि पर निर्भर है। जिन रोगियों को, रक्तक्षय में, आजकल नर-रक्त प्रदान किया जाता है, उनकी 'रक्ताग्नि' यदि क्षीण या तीक्ष्ण हो—अतएव वाह्यागत रुधिर के साथ सादृश्य या सजातीयता स्थापित न कर सके, तो उनमें रक्तदान के घातक परिणाम निकलते हैं। ऐसे रोगियों के रक्तक्षय में, रक्तदान द्वारा रक्तपूर्ति कर देने पर भी उनकी मृत्यु होती देखी गई है।

४८. इन मलों में 'बाइलीर्बीन' 'यूरिया' और 'यूरिक एसिड' प्रमुख हैं। बाइलीर्बीन, यकृत् में से पित्तलाव बनकर निकलता है, दोष दोनों मूत्र के साथ वृक्कों में से छनकर बाहर निकल जाते हैं।

मांसाग्नि

मांसाग्नि का क्रिया-क्षेत्र 'मांसधातु' है, देह में जहाँ-जहाँ मांसधट या मांससूत्र संलग्न हैं—वहाँ-वहाँ के, वे सब मांसतन्तु, 'मांसाग्नि' के क्रियास्थल हैं।

मांसधातु का स्वरूप

हमारे शरीर में मांसधातु की विद्यमानता, मुख्य और स्पष्ट रूप से, उन रवड़ जैसे लुचलुचे थकों की शक्ल में है, जिन्हें 'मांसपेशी' कहते हैं। वैसे तो यह धातु देह के भीतर हृदय, श्वासप्रणाली अन्नप्रणाली आदि बहुत से आशयों, अवयवों में है; रक्तवाहिनियों की भित्तियों में भी यथावश्यक परिमाण में सन्निविष्ट है; परन्तु त्वचा के भीतर विद्यमान मेदस् की तह के नीचे और अस्थियों के ऊपर मांसधातु रक्तवर्ण पेशियों के रूप में वहुतायत से जमा हुआ होता है।

'मांसपेशी' दीर्घकार मांसव्यूह है। पेशियाँ वहुसंख्यक हैं और अलग-अलग बैठी होती हैं। ये एक दूसरी के साथ सटी हुई—तर-ऊपर—विछी रहती हैं। प्रत्येक पेशी, मांस के वारीक सूतों या मांससूत्रों से बनी होती है। मांससूत्र 'मांसधटों' से बनते हैं।

मांसधट या सूक्ष्मतम मांसाणु एक तन्तुल धातु का बना होता है। प्रत्येक मांसधट स्वतन्त्र इकाई है और यह देह-जातीय मांसलद्रव्यों^१ के घोल में फूटा रहता है। मांसधटों से मांससूत्र और मांससूत्रों से दीर्घकार मांसपेशी बनी होती है।

मांसपेशी का अपना वर्ण श्वेतपाण्डुर है, पर इसके भीतर रुधिर भरा होने से लाल रंग की दिखाई देती है। यह लाल रंग उन रक्त केशिकाओं के जालकों के कारण है, जो मांसपेशी^२ भीतर-भीतर सब ओर फैली होती हैं और रुधिर से परिपूर्ण रहती हैं।^३

१. अर्बचीन क्रिया-शारीर में इसे 'सार्कोप्लाज्म' कहा जाता है, यह एल्व्यूमिन सदृश गुण रखने वाले 'भायोजिन्स' का विलयन है।

२. 'द्वितीया रक्तधरा मांसस्थ अभ्यन्तरतः तस्यां शोणितम्।'

उक्त रुधिर धातु, रस रक्त का मिश्रण है और द्रवरूप है। अतः मांसपेशी में भी आप्य अंश ७५ प्रतिशत रहता है। रस और रक्त अलग-अलग धातु हैं। यदि रस और रक्त के इस द्रव अंश को पृथक निकाल दिया जाय तो मांसपेशी में घन अंश ही प्रवान रूप में रह जाता है।

मांसधातु का भौतिक और रासायनिक संघटन

भौतिक रचना की दृष्टि से मांसधातु में, द्रव भाग को छोड़कर, पार्थिव अंश सबसे अधिक अर्थात् २१ प्रतिशत तक होता है। पार्थिव अंश के इस भाग को अन्तर्जन (अर्वाचीन क्रियाशारीर में प्रोटीन) कहा जाता है, ये अन्तर्जन अनेक प्रकार की होती हैं। इनके अतिरिक्त नन्तर अन्य पार्थिव द्रव्य भी अल्पमात्रा में रहते हैं। पार्थिवांश इन्थन-द्रव्य (के रूप में ग्लायकोजन) भी पेशी में होती है।

आप्य अंश के रूप में मांसपेशी के अन्दर स्नेह द्रव्य^१ होते हैं, इनके अतिरक्त, रस रक्त के भरे होने से, जलीय भाग तो प्रभूत मात्रा में रहता ही है।

आग्नेय अंश के रूप में विभिन्न खाद्योज,^२ पाचनांश,^३ धातुयें^४ और तैजस खनिज द्रव्य^५ होते हैं।

वायवीय अंश के रूप में नाना प्रकार के क्रियाशोल अणुद्रव्य^६ पेशियों में रहते हैं।

३. यथा—स्ट्रॉमाप्रोटीन, इन्ट्रासेल्युलप्रोटीन, मायोग्लोबीन, मसल्हीमोर्ग्लोबीन आदि।
४. अर्वाचीन क्रिया-शारीर का नाम 'लाइपिड्स'।
५. यथा—थियेमिन, एस्कोर्बिक एसिड् आदि।
६. यथा—एल-मायोसिन ए-टी-पी-एज्, मायोकायनेज्, एडेनाइलिक डि एमायनेज्, सार्कोलाजिमक ए-टी-पी-एज्, डाइफॉस्फो पाइरीडीन न्यूकिलयोटायड्, ड्राइफॉस्फो पाइरीडीन न्यूकिलयोटायड्।
७. यथा—सोडियम, पोटासियम, लोह, ताम्र, कोबाल्ट, निकल, यशद, मैग्नीजियम के अत्यल्प अंश।
८. यथा—गन्धक, प्रस्फुरक।
९. यथा—एडेनोसाइन ट्राइफॉस्फेट, यह शक्तिजनक अणुद्रव्य है। कैल्सियम फॉस्फेट—मैग्नीशियम फॉस्फेट, ये दोनों पेशी संकोच के प्रेरक द्रव्य हैं। न्यूकिलयोटायड् डाइफॉस्फो क्लायनेज्, यह विघटनकारक और शक्तिजनक द्रव्य है।

मांसधातु पांचभौतिक होते हुए भी मुख्यतः पार्थिव हैं, यद्यपि इसके भीतर प्रचुर आप्य अंश विद्यमान है, साथ ही अग्निकर्म या जीवरासायनिक क्रियायें करने-कराने वाले और शक्ति-उत्पादक अणुद्रव्य बड़ी मात्रा में होते हैं, जिनके साथ-साथ क्रियाओं के प्रेरक वातद्रव्य भी रहते हैं।

मांसधातु के प्रयोजन

मांसधातु के अनेक प्रयोजन हैं, यथा 'देहलेप'—अर्थात् शरीर को ऊँचा-नीचा या ऊबड़-खाबड़ न रखकर परिपुष्ट समतल रखना, अंगों का प्रसारण, आकुंचन कराना, देहगत अवयवों में दोलन (यथा आमाशय में,) अपकर्षण (यथा अन्त्र में), रक्तानुधावन (रक्तवहानाड़ियों में), संकोच विकास (हृदय में) आदि क्रिया चेष्टायें करना, अस्थियों को ठीक-ठीक स्थिति में स्थिर रखना, मेदस् की उत्पत्ति, नासिका, नेत्र, श्रोत्र, जननेन्द्रिय और रोमकूपों के किट्ठों की उत्पत्ति^{१०} आदि।

इन सब प्रयोजनों की सिद्धि के लिए, साधन-रूप में, मांसपेशियों के भीतर स्नायु-धमनी एवं सिराओं के जाल विछे हुए हैं। स्नायु-जालकों के माध्यम से इन पेशियों में व्यान वात का संचार होता है। धमनी केशिकाओं के द्वारा इनके भीतर रस रक्त पहुँचते हैं, जो अपने साथ-साथ धातु मल पोषक अंशों को और इलेष्मा (उपचयमूलक अंश), पित्त (पाचन द्रव्य एवं ऊष्मा) तथा वात (प्रेरक एवं गतिमूलक अंश) को मांसधातु तक लाते हैं। ये सब सूक्ष्म ऊतसों द्वारा मांसधटों तक पहुँचते हैं।

भौतिक दृष्टि से कहना हो तो, उक्त रस रक्त में लीन पार्थिव (नाना प्रकार के अस्त्रजन या प्रोटीन तथा शक्तिरायें), आप्य (लाइपिड्स तथा जलांश), आग्नेय (तैजस प्रकृति के खाद्योज, पाचनांश, धातुओं और खनिजों के यौगिक), वायव्य (नाना प्रकार के प्रेरक और क्रियाकारक) चारों प्रकार के द्रव्यांश मांस धातु तक आ पहुँचते हैं।

मांसपेशियों के भीतर स्थित सिरायें उस अंश का वहन करती हैं जो अन्वरत होते रहनेवाले अणुपाक के परिणाम-स्वरूप, किट्ठांशों की शक्ल में उत्पन्न होता रहता है। इस किट्ठांश या मल-भाग को प्रवाहित करती हुई, ये इसे, पेशी से बाहर निकाल ले जाती हैं।

१०. 'देहलेप—मल—मेदः—पुष्टिभिः मांसम् ।

उक्त धमनी सिराओं के साथ-साथ वातवहा नाड़ियों के सूत्र भी, जालकों के रूप में, पेशियों के भीतर बिछे होते हैं, जो 'स्वयम्भू' व्यान वात का वहन या इत्स्ततः संचार करते हैं।

मांसाग्नि का प्रयोजन

मांस धातु के भीतर पहुँचे हुए उपरिलिखित द्रव्यों की सहायता और सह-कार से भिन्न-भिन्न प्रकार के अग्निकर्म या जीव-रासायनिक क्रियायें सम्पन्न करना मांसाग्नि का प्रयोजन है।

मांसाग्नि की परिभाषा

रसाग्नि और रक्ताग्नि के समान 'मांसाग्नि' भी मांसगत पित्तोष्मा है, अर्थात् यह विशिष्ट प्रकार के पाचनांशों^१ और उनकी क्रियाओं के लिए अपेक्षित ताप का समवेत रूप है।

मांसाग्नि कर्म

मांसाग्नि द्वारा किए जाने वाले अग्निकर्म के दो प्रकार हैं :

(१) वह अग्निकर्म, जिसके द्वारा पोषक अंश, मांसघटों को पुष्ट करके, उनकी संतति वृद्धि कराता है; अपने से उच्च कोटि के अर्थात् मेदोजातीय घटों के उपादान का निर्माण करता है; और जीर्ण-जर्जर मांसघटों को विघटित करके उन्हें मलों का रूप प्रदान करता है। यह मांसाग्नि का जीवन मूलक और स्थायी कर्म है।

(२) वह अग्निकर्म, जो मांसपेशियों में नाना प्रकार की चेष्टायें उत्पन्न करते समय होता है। यह मांसाग्नि का चेष्टामूलक और सामयिक या असामयिक कर्म है।

११. इन विशिष्ट पाचनांशों में—ग्लायकोलिटिक एन्जाइम, आॅटोलिटिक एन्जाइम समूह, ऑक्सिडेज, रिडकेटेज, केटालेज, एल० मायोसिन ए-टी-पी-एज, मायोकायनेज, न्यूकिलयोटायड डाइफॉस्फो कायनेज, एडेनाय-लिक डि एमाइनेज नामक एन्जाइमों की गणना की जा सकती है, क्योंकि ये शक्तिजनन, चेष्टासहायक और मांसधातु के निर्माण में दीपन पाचन द्रव्यों का कार्य करते हैं।

दोनों प्रकार के अग्निकर्मों में 'मांसाग्नि' के साथ 'वात'^{१२} का सहकार अपेक्षित है और दोनों अग्निकर्मों की प्रक्रियाकालों में ऊष्मा की उत्पत्ति होती है, जो वल या ऊर्जा में परिणत होती रहती है; इस ऊर्जा को 'अग्निमूलक वल'^{१३} कहा जाता है।

यह प्रथम कहा जा चुका है कि मांसधातु, दीर्घकृति मांससूत्रों से बनता है। मांससूत्र^{१४} में वहुसंख्यक मांसधट (या 'सेल्स') होते हैं। मांससूत्रों तक रक्त-वह स्रोतसों के जालक पहुँचे हुए होते हैं, जिनमें से रसधातु रिस-रिस कर निकलता रहता है। मांससूत्र के ऊपर एक पतला आवरण या कला चढ़ी होती है, जो सुपिर और भेदिनी होती है, इस कला के आरपार अनेक साव या धोल आ-जा सकते हैं, रस भी आ-जा सकता है। अतः मांससूत्र, अपने भीतर के मांसधटों के लिए, उस भेदक आवरण या कला के माध्यम द्वारा, रसधातु में से, पोषक, तर्पक, दोपन, पाचन, दाहक, ज्वलनकारक, प्रेरक, वियोजक, संयोजक आदि विविध कर्मकर, नाना प्रकार के द्रव्यांशों को, अपने भीतर खींचता रहता है। इस प्रकार रस धातु प्रत्येक मांसधट के चतुर्दिक् आ जाता है।

मांससूत्र के चारों ओर तो कलामय आवरण रहता है, परन्तु मांसधट पर कोई आवरण या कला नहीं होती; अतः प्रत्येक मांसधट अपने चतुर्दिक विद्यमान रस में—अर्थात् 'मांसपोषकरस'^{१५} में छूवा रहता है। यह मांसपोषक रस जैसा कि प्रथम कहा जा चुका, प्रधान रूप से, पार्थिव द्रव्यों^{१६} का

१२. शारीर 'वात' पांचभौतिक द्रव्य है। दाष्टीय (या गैस की तरह के) द्रव्यों की वह लता के कारण इसे 'वायु आकाशीय' माना गया है। अन्य प्रकार के वातवर्गीय द्रव्यों में—सुधा या कैल्सियम, मेग्नीशियम और एडेनो-साइन ट्राइफॉस्फेट नामक अणु-द्रव्यों की गणना की जा सकती है, क्योंकि ये प्रेरक हैं तथा शक्ति-उत्पादन के कार्य करते हैं।

१३. अग्निमूल बलं पुंसाम् ।

१४. अर्वाचीन क्रियाशारीर का नाम 'मसल फ़ाइबर' ।

१५. अर्वाचीन क्रियाशारीर के अनुसार 'साकोप्लाज्म' ।

१६. ये द्रव्य प्रोटीनबहुल हैं, जिनमें एल्व्यूमिन के गुण होते हैं। अर्वाचीन क्रियाशारीर में इन्हें 'मायोजिन्स' नाम दिया गया है। प्रोटीन के अतिरिक्त पार्थिव 'ग्लायकोजन' भी होता है, जिसका इन्धन रूप से मासांग्नि में अहनिश ज्वलन हुआ करता है।

विलयन या घोल है। किन्तु इसमें आप्य, आग्नेय और वायव्य श्रेणी के अणु-द्रव्य भी समुचित मात्रा में लीन रहते हैं। उक्त मांसपोषकरस में नवीन मांसघटों के लिए 'गिरी' या 'केन्द्रक'^{१३} और मांसवीज^{१४} भी होते हैं, जिन पर मांसोष्मा और पाचनांशों की क्रिया होकर नवीन मांसघट बनते रहते हैं। इनके निर्माण की गति अधिक तीव्र नहीं होती, प्रायः मन्द ही होती है।

मांसपोषक रस में पार्थिव द्रव्यों के साथ-साथ जो आप्य^{१५} श्रेणी के द्रव्यांश घुले होते हैं, उनसे उपधातु, मांसवसा का और मेदो धातु का निर्माण भिन्न-भिन्न पाचनांशों की सहायता से हुआ करता है।

उक्त मांसपोषकरस में पार्थिव इन्धन द्रव्य (या ग्लायकोजन) भी घुला रहता है, जो अणुपाक के रूप में निरन्तर होने वाले अग्निकर्म के लिये अपेक्षित है।

मांसधातु देहचेष्टाओं का मुख्य साधन है। यह धातु जिन मांसघटों से निर्मित है, वे दो प्रकार के हैं—लोहितवर्ण और श्वेतवर्ण।

लोहितवर्ण धट उन मांसपेशियों के भीतर बहुत अधिक संख्या में होते हैं, जो धीमे-धीमे परन्तु वारम्बार और लगातार चेष्टा किया करती हैं, यथा हृदय यन्त्र की पेशियाँ। लोहित मांस धट, प्राण द्रव्य^{१६} का उपयोग, अधिक करते हैं। शक्ति का संचय ये निरन्तर किया करते हैं, और कार्य भी लगातार करते रहते हैं। इनके कार्य की गति यद्यपि मन्द होती है, पर अनवरत अर्थात् लगातार और दीर्घकाल तक होती है। ये धट विशेष प्राणवान् होते हैं।

द्वितीय प्रकार के श्वेतमांसधट अधिक ऊर्जस्वी^{१७} या स्फूर्तिमय होते हैं। इनकी क्रिया तीव्रता के साथ (भट्टिति) परन्तु अल्पकाल के लिए होती है। इनके भीतर अनेक ऐसे वाताग्निवर्गीय द्रव्य^{१८} रहते हैं, जो लोहितवर्ण के

उक्त रस में ही वे पाचनांश और वायव्य पदार्थ भी घुले रहते हैं, जो अग्निकर्म के लिए अपेक्षित हैं।

१७. 'न्यूक्लियस'

१८. 'माइक्रोसोस्ट'

१९. इन आप्य श्रेणी के द्रव्यों में—फॉस्फोलाइफिड्स, सैरिनोसाइड्स, कोलस्टिरोल, न्यूट्रिएन्ट फैट की गणना की जा सकती है।

२०. 'आदिसज्जन वायु'

२१. 'इनजेटिक'

२२. इनमें कतिपय प्रस्फुरक के यौगिक और डाइपेट्राइड एन्सेरोन आदि हैं।

घटों में नहीं होते। जिस समय मांसपेशियों में अणुपाक की किया हो रही होती है और इन्धन द्रव्य के रूप में 'ग्लायकोजन' का दहन होकर ताप एवं ऊर्जा (आग्नेय शक्ति) उत्पन्न होते हैं, तब इस शक्ति का संचय ये श्वेतघट अधिक मात्रा में और शीघ्र करते हैं। अस्तु,

मांसपेशियों की संकोच, विकास, दोलन, अपकर्षण, स्फुरण, प्रसर्पण आदि नाना चेष्टायें किस प्रकार होती हैं—यह विषय गूढ़ और अस्फुट है, फिर भी इतना निश्चित है कि ये सब गतिचेष्टायें मांसधातुगत 'अग्निकर्म' के ही परिणाम हैं, और 'मांसाग्नि' तथा 'वात' का सहकार इनके लिये उत्तरदायी है।

जैसा कि प्रथम उल्लेख हुआ है—मांसपेशी के एक-एक मांससूत्र तथा उसके प्रत्येक मांसघट में और उसके आस-पास पार्थिव, आप्य, आग्नेय और वायव्य चारों प्रकार के द्रव्यांश विद्यमान होते हैं।

पार्थिव द्रव्य, पचनात्मक क्रियाओं द्वारा, इतने सरल रूपों में परिवर्तित हो चुके होते हैं कि इनसे नाना जातीय मांस बन सकते हैं।^{२३} इन्धन द्रव्य भी पार्थिव ही हैं।^{२४}

आप्य द्रव्यों की चर्चा पहिले हो चुकी है। ये भी अग्निकर्म द्वारा पचते हुए इतने सरल रूपों में आ चुकते हैं कि इनसे कई प्रकार के योगिक बन सकते हैं।^{२५}

२३. पार्थिव द्रव्य मुख्यतः प्रोटीन्स हैं, ये क्रमशः पचते हुए 'एमीनोएसिड्स' के रूप में आते हैं, एमीनोएसिड्स से अनेक मांसवर्गीय द्रव्य निर्मित होते हैं यथा स्ट्रॉमाप्रोटीन, इन्ट्रासेल्युलर प्रोटीन, मायोग्लोबीन, मसल् हीमोग्लोबीन आदि।

एमीनो एसिड्स से ही मांसधातु में रहने वाले अनेकानेक सारभूत अणुद्रव्य बनते हैं, यथा—एडेनोसाइन डाइफॉस्फेट, एसिटाइलकोलीन, अन्सेरिन, कार्टिनाइन, क्रियेटिनफॉस्फेट, क्रियेटिनीन, ग्लुटेठियोन, हिस्टेमीन, हाइपोजैन्थीन, मियाइल ग्वायनाडीन, साकोसीन, स्पर्मीन, टारीन आदि।

२४. इंधन रूप में ज्वलन के लिए ग्लूकोज तथा ग्लायकोजन काम आते हैं।
 २५. आप्य द्रव्यों में जल के अतिरिक्त 'फॉटीएसिड्स' मुख्य हैं, ये 'लाइपिड्स' के रूप में होते हैं, लाइपिड्स के अनेक प्रकार हैं, यथा फॉस्फोलाइपिड्स सेरिब्रोसाइड्स, न्यूट्रिएन्ट फॉट, कोलस्टिरोल आदि।

आग्नेय द्रव्यों में बहुत प्रकार के पाचनांश और दीपनांश आते हैं, जो विविध जीवरासायनिक क्रियायें या अग्निकर्म सम्पन्न करते हैं।^{१९}

वायव्य अंश भी बहुत प्रकार के हैं, ये अग्निकर्म के लिए प्रेरणा देने या क्रिया कराने और विच्छेद कराने आदि में समर्थ होते हैं, ये 'शक्तिकोष' का भी कार्य करते हैं।^{२०}

जब मांसपेशी में चेष्टा होने लगती है तब यह, एक-एक मांसघट से, आरम्भ होती है। मांसघटों के भीतर 'मांसाग्नि' के रूप में कतिपय विशिष्ट पाचनांश अपनी-अपनी ऊष्माओं के साथ विद्यमान होते हैं।

इनमें से एक पाचनांश (मायोकायनेज) ऐसे महत्वपूर्ण द्रव्य (एडेनो-साइन ट्राइफॉस्फेट) को जन्म देता है, जो आग्नेय और वायव्य गुण-वर्मों से सम्पन्न है, यही पेशीगत संकोच-विकास की क्रियाओं का मूल जनक और प्रेरक है।

पेशीसंकोच के समय इस प्रेरक द्रव्य पर, कतिपय अन्य पाचनांश (यथा एल० मायोसिन ए० टी० पी० एज०) क्रिया करके इसका विघटन (हाइड्रोलाइ-सिस के रूप में) कर देते हैं। इस विघटन के समय जो ऊष्मा और शक्ति जन्म लेते हैं; उनसे मांसघट सिकुड़ते हैं, इन बहुसंख्यक मांसघटों की सिकुड़न या

२६. ये पाचनांश और दीपनांश-सोडियम, पोटासियम, लोह, ताम्र, यशद, निकल, कोबाल्ट, मैग्नीज आदि तैजस धातुओं तथा प्रस्फुरक गन्धक आदि तैजस खनिजों से बने हुए यौगिकों को सहायता से निर्मित होते हैं, इनके साथ ओषजन, उद्जन, क्लोरोन, आदि का संसर्ग रहता है। ये निम्नलिखित हैं:—
-एल० मायोसिन ए०टी०पी० एज०, यह गन्धक उद्जन का यौगिक है और हाइड्रोलाइसिस में वियोजनात्मक अग्निकर्म सम्पन्न करता है। इसी प्रकार न्यूक्लियोटायड डाइफॉस्फोकायनेज, एडेनायलिक डि एमाइनेज, मायोकाय-नेज आदि भी नाना प्रकार के अग्निकर्म सम्पन्न करते हैं।

२७. यथा खटिक या कैल्सियम के यौगिक,—ये क्रिया के प्रेरक हैं। मैग्नीशियम के यौगिक प्रायः क्रियाओं का नियमन करते हैं। न्यूक्लियोटायड डाइ-फॉस्फोकायनेज—यह फॉस्फेट् स पर क्रिया करके इसका विघटन करता है, और शक्ति का उत्पादक है। सार्कोप्लाज्मिक ए० टी० पी० एज०, यह (हाइड्रो-लाइसिस के रूप में) विच्छेदनात्मक वातकर्म सम्पन्न करता है। एडेनायलिक एमाइनेज भी विघटनकारक द्रव्य है। एडेनोसाइन ट्राइफॉस्फेट्, यह प्रमुख द्रव्य है।

संकोच से समूचे मांससूत्र का—सब स्थानीय मांस सूत्रों के समूह का—सम्पूर्ण पेशी का संकोच हो जाता है।

यह स्मरणीय है कि जो पाचनांश (एल० मायोसिन ए० टी० पी० एज०) उक्त मूलद्रव्य का विघटन करते हैं, उन्हें विघटन कर्म करने के लिये वातवर्गीय खटिक (कैलिशियम) और मेग्नीशियम के योगिकों से ही प्रेरणा प्राप्त होती है।

संकोच के लिए उत्तरदायी उक्त प्रेरक द्रव्य ही, बाद में, मांसधटों को पुनः प्रेरणा देता है, इस प्रेरणा से उनका संकोच दूर होता है, वे विकास करते हैं, मांसधटों के विकास से पूरे मांससूत्र का—सूत्र समूह का—अर्थात् सम्पूर्ण पेशी का विकास हो जाता है। पर विकास के लिए प्रेरणा देते समय उक्त प्रेरक द्रव्य पर अग्निकर्म (हाइड्रोलाइसिस) नहीं होता, अतएव उसका विघटन भी नहीं होता है।

मांसपेशियों में अन्यान्य क्रिया-प्रतिक्रियायें, चेष्टायें और गतियाँ भी, लगभग पूर्वोक्त प्रकार से ही सम्पन्न होती हैं। इन सब में वात के सहकार से मांसाग्नि द्वारा अग्निकर्म सम्पन्न होते रहते हैं। जिनके परिणामस्वरूप ताप और ऊर्जा जन्म लेते हैं।

मांसाग्नि कर्म के परिणाम

मांसाग्नि की जीवनमूलक और चेष्टामूलक दो प्रकार की क्रियाओं का पहिले उल्लेख हुआ है। इनमें से प्रथम अर्थात् जीवनमूलक अग्निकर्म के परिणाम-स्वरूप तीन प्रकार के द्रव्यों की उत्पत्ति होती है।

(१) मांस धातु की अपेक्षा उत्कृष्टतर धातु—मेदोधातु—के उपादानभूत सूक्ष्म अंश या प्रसादरूप अंश की उत्पत्ति।

(२) स्थूलांश अर्थात् स्वधातु-रूप मांसधटों और मांससूत्रों की उत्पत्ति।

(३) मलांशरूप इन्द्रिय स्नावों की—नेत्र, नासिका, कर्ण आदि के मलों की उत्पत्ति।

हमें ज्ञात है कि मांसधातु के पिण्डित अंशों में—मांसपेशियों में—स्नायु सिरा घमनियों के जाल फैले होते हैं, इनमें क्रमशः व्यान वात, अशुद्ध रक्त और शुद्ध रक्त का अनुधावन होता रहता है। शुद्ध रक्त के साथ-साथ आहार-रस-गत भौतिक द्रव्य पेशी तक आते हैं, इनमें पाथिव (नाना प्रकार के एमोनोएसिड्स व ग्लाय-कोजन), आप्य (लाइपिड्स व न्यूट्रिएन्ट फैट् आदि), आग्नेय (मांसाग्नि रूप मायोकायनेज ग्लायकोलिटिक एन्जाइम आदि पाचनांश), वायव्य (सुधा—मेग्नीशियम-प्राणद्रव्य औषजन आदि) चारों प्रकार के द्रव्य हैं।

मांसाग्नि की (या ग्लायकोलिटिक एन्जाइम्स आदि आग्नेय द्रव्यों की) मांसधातु में हर समय होने वाली जीवन-मूलक-क्रिया का परिणाम यह है कि प्रत्येक मांसघट के भीतर इन्धनद्रव्य ग्लायकोजन तथा प्राणद्रव्य ओपजन के पारस्परिक सम्बूच्छन से एक और ताप एवं ऊर्जा (आग्नेयशक्ति) का प्रादुर्भाव होता है, दूसरी ओर किटूरूप में जल एवं अंगाराम्ल वायु (कार्बन डायोक्साइड) की उत्पत्ति होती है। इस क्रिया से मांसघट प्राणवान् और जीवित रहते हैं।

आयुर्वेद के क्रियाशारीरविदों का यह विचार रहा है कि मांसधातु में उक्त अग्निकर्म के फलस्वरूप उत्पन्न वायु से तो देह में वायुवृद्धि होती है और जो जल उत्पन्न होता है, वह अन्यान्य किटों को अपने में धोल लेता है, इस जल का अधिकांश इन्द्रिय-स्रोतों को भेजा जाता है, जो इन इन्द्रियाधिष्ठानों में परिस्थुत होने वाले ऋबों के रूप में बाहर निकलकर प्रथम तो इनका उपलेपन करता है; और बाद को यही नेत्रदूषिका, कर्णगूथ, नासासंवाणक आदि इन्द्रिय-मलों का रूप ग्रहण कर लेता है।

उक्त मांसाग्नि, पार्थिव और आप्य द्रव्यों (मायोजिन्स, लाइपिङ्स आदि) की सहायता से, नवीन मांसघटों का भी, निर्माण करती है। यह मांसाग्नि द्वारा 'स्थूलांश रूप स्वधातु-निर्माण' है।

मांसघटों तक आने वाले अंशों में जब आप्य अंश (न्यूट्रिएन्ट फैट आदि) को प्रचुरता होती है तो मांसाग्नि इनका सम्पूर्ण रूप में ग्रास नहीं कर पाती, इसके कुछ अंश का ग्रास करके—वात के सहकार में—इससे ऊर्जा का उपार्जन करती है, कुछ अंश को अपने स्नेहन के लिए तथा भावी उपयोग के लिए बचाकर 'वसा' के रूप में रख लेती है और शेष भाग को अपने से उत्कृष्टतर धातु-'मेदस्' का रूप देने के लिए उसका अपनी ऊर्जा द्वारा पाक करती है। व्यानवात इस पक्व भाग को त्वचा, कपोल, उदर आदि स्थानों की ओर प्रवाहित कर देता है, जहाँ यह 'मेद' के रूप में संचित हो जाता है, इसे मांसाग्नि के अग्निकर्म का 'प्रसाद भाग या सूक्ष्म अंश' कहा जाता है।^{२८}

मांसाग्नि की जीवनमूलक उक्त क्रियाओं के अतिरिक्त, द्वितीय प्रकार की (अर्थात् स्थायी या सामयिक) चेष्टाओं के समय भी जीव रसायनक्रियायें होती

२८. 'ततः अपि आत्मपावकपच्यमानात् मलः—नासा कर्ण अक्षि प्रजनन आदि खोतोमलः, स्थूलोभागो मांसम्, सूक्ष्मो मेदः—' ॥

(सु० सू०-अ० १४ की टीका में डल्हन)

हैं, ये भी 'मांसाग्निकर्म' हैं। इनके परिणाम-स्वरूप, पेशी में, प्रसादरूप और किटूरूप दो प्रकार के द्रव्य उत्पन्न होते हैं।

किसी भी चेष्टा के समय व्यान वात-रूपी प्रेरक द्रव्यों की प्रेरणा पर पेशी-सूत्र संकुचित होते हैं। इस समय पेशी में इन्धन द्रव्य का दहन होता है, यह इन्धन-प्राणद्रव्य ओषजन के साथ समूच्छित होकर एक और प्रसादस्वरूप ताप को एवं ऊर्जा को उत्पन्न करता है तथा दूसरी ओर जल एवं अंगाराम्ल वायु को किटूरूप में जन्म देता है, ये किटूरिशारक्त में प्रवाहित होकर प्राणवह स्रोतस् तक आ जाते हैं और वहाँ से निश्वास द्वारा वाहर निकलते रहते हैं। यह साधारण स्थिति है, परन्तु चेष्टाकर्म अधिक हो या व्यायाम आदि के रूप में अधिक श्रम किया जाय, तो अंगाराम्ल और इसी जैसे द्रव्य तक्राम्ल^{१०} की पेशी में उत्पत्ति होती है। यह वहाँ संचित होने लगता है। तक्राम्ल पैत्तिक और विषरूप द्रव्य है, इसके कारण क्लम या थकान का अनुभव होता है। पेशी को विश्राम मिले तो तक्राम्ल का मलाग्नि से पाक और विघटन होकर वह घुल जाता है और वृक्कों में से होता हुआ मूत्र के साथ निकल जाता है।

इस प्रकार चेष्टा के समय मांसाग्नि की क्रिया के परिणामस्वरूप प्रसाद द्रव्य—'ताप एवं ऊर्जा' और किटूरूप—'जल-अंगाराम्ल—तक्राम्ल' उत्पन्न होते हैं।

२९. अर्वाचिंत वैज्ञानिक नाम—'साकोलेविटक एसिड'।

मेदोग्नि

मेदोग्नि का कार्यक्षेत्र मेदस् या मेद धातु है। मेद को साधारण वोलचाल में चर्बी¹ कहते हैं।

मेदधातु का स्वरूप

मांस आदि अन्य धातुओं के समान मेद के भी विशेष प्रकार के बने हुए अणु या सूक्ष्म घट (कोशा) हैं, जिन्हें मेदोघट कहते हैं। प्रत्येक मेदोघट के चतुर्दिक् एक पतला पारदर्शक आवरण या कला (फिल्ली) चढ़ी होती है, जिसके भीतर मेद के रूप में स्नेहद्रव्य भरा रहता है। मेद का स्वाभाविक वर्ण किंचित् पीत है।

जीवित दशा में देहोग्नि के कारण मेदधातु, मेदोघट के भीतर, द्रवरूप में रहता है; मृत्यु के उपरान्त यह सान्द्र हो जाता है—या जम जाता है।

मेद के उक्त सूक्ष्मघट परस्पर मिलकर बड़े-बड़े समूह या मेदःपुङ्ग बनाते हैं, जो देहगतों का पूरण करते हैं। मेदोघटों के मिलने से कलायें भी बनती हैं। मेद की मुख्यकला—‘मेदोघरा कला’² है। हमारे देह में, त्वचा के नीचे और मांसधरा कला के ऊपर यह ‘मेदोघराकला’ नाम की तृतीय कला³ चढ़ी रहती है।

मेद या चर्बी भी धूत, तेल आदि स्नेहों के समान स्निग्ध (चिकनी) होती है। यह एक शारीरिक स्नेह है—जो हमारे द्वारा सेवन किए गए स्नेहों का ही, शरीर में परिवर्तित, एक रूप है। देह के भीतर सूक्ष्म स्थूल अवयवों में स्नेह के अनेक रूप पाये जाते हैं, यथा—मेद, वसा, मज्जा आदि। स्नेह के ऐसे अनेकानेक रूप देहावयवों में तथा धातु उपधातुओं में यथास्थान सन्निविष्ट रहते हैं।

१. आँग्लभाषा का अर्वाचीन वैज्ञानिक नाम—‘एडिपोज टिश्यू’।

२. अर्वाचीन क्रिया शारीर में—‘सुपरफ़िशल फ़ेशिया’।

३. ‘तृतीया मेदोघरा’।

इन सब में से भेद का विस्तार अधिक है, इसके संग्रह के अनेक स्थल हैं, विशेष रूप से इसका संचय उदर^४ के भीतर होता है, जो वपावहन^५ नाम की कला में रहता है। उदर के अतिरिक्त भेद, नलकास्थियों में (पीतवर्ण) और छोटी (लम्बी एवं पतली) अस्थियों के भीतर (सरक्त या ईषत् रक्तवर्ण^६) भी प्राप्त होता है। भेदस् ही के अन्य प्रकार वसा और मज्जा हैं। वसा का उल्लेख मांस धातु के प्रसंग में हुआ है, यह मांस धातु का प्रसादभूत अंश है,^७ और उसका उपधातु माना गया है। मज्जा पृथक् और स्वतन्त्र धातु है। इस पर मज्जाग्नि के प्रकरण में विचार हुआ है।

भेद और स्नेह द्रव्य

यह प्रथम कहा जा चुका है कि सेवन किए गये स्नेह-द्रव्यों के पचन के उपरान्त उनका एक परिवर्तित रूप 'भेदधातु' है। इसे बनाने के लिए तथा अन्य प्रयोजनों की सिद्धि के लिए भी स्नेहों का हमारे भोजन में रहना आवश्यक है। स्नेह द्रव्य हमें स्थावर और जंगम^८ जगत् से नाना रूपों में प्राप्त

४. भेदोहि सर्वभूतानां उदरस्थम् । (सु० शा० ४।१२)
५. इसे अर्वाचीन क्रियाशारीर में 'ओमॅन्टम्' नाम दिया गया है।
६. भेदोहि उदरे, अग्नु अस्थिषु च सरक्तं भवति । (अ० सं० शा० ५)
७. 'मासांदृ वसा (प्रसादजा)' । (च० चि० अ० १५५)
८. स्नेहानां द्विविधा सौम्य योनिःस्थावर जंगमा ।

तिलः प्रियालभिषुकौ विभीतकः ।

चित्रामयैरण्डमधूकसर्षपाः ।

कुसुम्भविल्वारुकमूलकातसी-

निकोठकाक्षोडकरंजशिष्ठुकाः ॥

स्नेहाशयाः स्थावर संज्ञिताः, तथा-

स्पृजंगमा मत्स्यमृगाः सपक्षिणः ।

तेषां दधिक्षीरधूतमिष्वं वसा

स्नेहेषु मज्जा च तथोपदिश्यते ॥ (च० सू० १३।९, १०, ११)

उक्त स्थावर तथा जंगम स्नेहों के अनेक भेदोपभेद हो सकते हैं, यथा—

(अ) स्थावर स्नेह

(१) वानस्पतिक स्नेह—

(क) आहार्य स्नेह, अर्थात् तिल, सर्षप, नारियल, वादाम, पिस्ता, अखरोट,

होते हैं। स्नेहों का वर्गीकरण अन्य भी कई प्रकार से किया जा सकता है।'

मेद का भौतिक संघटन

भौतिक रचना की हृष्टि से स्नेह 'आप्य'-वर्गीय है। मेद भी आप्य है। अन्य भौतिक द्रव्यों के समान यद्यपि मेद पांचभौतिक द्रव्य है, पर इसमें अप्का अंश मुख्य और अधिक होने से इसे 'आप्य' कह सकते हैं। गुण की हृष्टि से मेद स्तिंग्रह एवं उष्णवीर्य है। इस प्रकार मेदस् में आप्य और आग्नेय भावों का मिश्रण^{१०} है। यह स्मरणीय है कि मेद-उष्णता के अभाव-में सान्द्र हो जाता है, सान्द्र गुण पार्थिव है, अतः आप्य के साथ पार्थिव अंश भी मेद में विद्यमान है। इस प्रकार रचना की हृष्टि से मेद को आप्य पार्थिव कहना चाहिए।^{११}

चिलगोजा, मूँगफली, खरबूजा बीज, ककड़ी बीज, खीरा बीज, तरबूज-बीज, खूबानी को गिरी, काजू, पोस्त, बिनौला, अलसी, महुआ, कुसुम्भ—आदि आहार योग्य द्रव्यों में से प्राप्त किये जाने वाले स्नेह।

(ख) औषध स्नेह—अर्थात् करंज, हिंगोट, मालकंगनी, राई, भिलावा, दालचीनी, लौंग, इलायची, सरल (चोड़), देवदार, जायफल, जावित्री, अगर, चन्दन, शीतलचीनी, जंतून, एरंड, निम्बगिरी, तैल-पत्री (युक्लिपट्स) आदि औषध द्रव्यों से प्राप्त स्नेह।

(२) खनिज स्नेह, यथा—मिट्टी का तेल, खनिज सिक्ख (हार्डपैराफीन) आदि।

(ब) जांगम स्नेह, अर्थात्—दूध, दही, नवनीत, घृत, वसा, मेद, मज्जा, सिक्ख (मोम), मत्स्यतैल, अण्ड आदि के रूप में पशु-पक्षियों जलचरों और विलेशयों आदि से प्राप्त स्नेह।

१०. यथा—(क) स्थायी स्नेह और उड़नशील स्नेह।

(ख) पार्थिव स्नेह, आप्य स्नेह, आग्नेय स्नेह, वायव्य स्नेह।

(ग) तृप्त स्नेह, अतृप्त स्नेह, अतितृप्त स्नेह (इनका स्पष्टीकरण आगे किया गया है)।

११. देह में स्नेहों का वात्वनिपाक होने के अनन्तर, परिणाम रूप में, जल की और ताप की विशेष उत्पत्ति होती है, यह तथ्य भी मेद के आप्य एवं आग्नेय भावों को सूचित करता है।

१२. 'मेदोजलपूर्यिव्यात्मकम्'।

(चक्रपाणि)

मेद का रासायनिक संघटन

'रासायनिक संघटन' की दृष्टि से भी स्नेहों के विषय में विचार किया जाता है। इस दृष्टि से स्नेह, स्नेहाम्ल^{१२} और मधुरोल^{१३} नामक मूल यौगिकों की पारस्परिक सम्मूहना से बने होते हैं।

मूल भौतिकों^{१४} की दृष्टि से सब स्नेह या स्नेहयोगिक^{१५} कज्जल, उद्ग्रन, ओषजन नामक मूलभौतिकों के संपृक्त रूप हैं—इन भूलभौतिकों या भौतिक तत्वों के पारस्परिक अनुपात-मेद के कारण या प्रस्फुरक आदि भौतिक तत्वों के साथ संयुक्त-वियुक्त होते रहने पर, अगणित असंख्य स्नेह-कृतियाँ बनती-विगड़ती रहती हैं।

स्नेहों का देह के भीतर परिवर्तित अन्यतम रूप 'मेद' धातु भी, उक्त कज्जल, उद्ग्रन, ओषजन नामक भौतिक तत्वों का ही, एक विशेष अनुपात में संपृक्त यौगिक है। इसी कारण रासायनिक संघटन की दृष्टि से, अन्य सब स्नेहों के समान, मेद को भी 'उद्कज्जलेत'^{१६} वर्ग के अन्तर्गत रखा जाता है।

स्नेहों से मेदधातु तक

मनुष्यों द्वारा स्नेहों का सेवन, आहार तथा औषध रूप में किया जाता है। देह के लिए इनका वाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार से उपयोग होता है।

आहार्य या खाद्य स्नेहों के रूप में घृत, नवनीत, तिलतेल और सर्पतेल का सेवन अधिक किया जाता है। मूँगफली तेल, नारियल तेल, विनोला तेल और महुआ तेल भी प्रचुर मात्रा में ग्रहण किए जा रहे हैं। सम्पन्न व्यक्ति वादाम, पिस्ता, काजू, चिलगोजा, अखरोट, चिरांजी आदि के रूप में भी स्नेहों का सेवन करते हैं। आमिषभोजी व्यक्ति मांस, वसा, मत्स्य, अण्ड एवं अस्थिमज्जाओं का सेवन करते हैं।

औषध द्रव्यों के रूप में, भिन्न-भिन्न प्रयोजनों की सिद्धि के लिए, नाना

१२. अर्वाचीन वैज्ञानिक परिभाषा में—'फँटी एसिड'।

१३. अर्वाचीन वैज्ञानिक परिभाषा में—'गिलसरोल'।

१४. मूलभौतिक या भौतिक तत्व—अर्वाचीन 'एलिमेन्ट्स'।

१५. स्नेहयोगिक—भिन्न स्नेहाम्ल, मधुरोल आदि।

१६. 'हाइड्रोकार्बन्स'।

प्रकार के स्नेह-द्रव्यों के माध्यम से, 'भूताग्नि' रूप पाचनांश^{१७} तथा प्रेरणामूलक और क्रियाशक्तिजनक वायवीय द्रव्यांश^{१८} भी हमारे देह के भीतर पहुँचते रहते हैं। अस्तु,

आहार तथा औषध द्रव्यों के साथ-साथ 'स्नेह' हमारे महालोतस् में पहुँचते हैं। पचन के समय, सेवन किये गये द्रव्यों का संघातभेद होकर पार्थिव, आप्य, आग्नेय, वायव्य भाव पृथक्-पृथक् रूप में पचते हैं।

पचन के समय इनके संघटन और विघटन होकर, अनेकानेक परिवर्तित रूप^{१९} या 'रूपान्तर' होते जाते हैं। अन्तिम रूपान्तर^{२०} के उपरान्त ये पच्यमानाशय में उपशोषित होते हैं।

जिस धृत या तेल का हम सेवन करते हैं, वह आमाशय में पहुँचकर कुछ देर रुकता है, आमाशयवर्ती ऊष्मा से यह द्रव रूप में आता है। यहाँ की वातिक गतियों से इसका मन्थन होकर यह सूक्ष्मकणों में विभक्त होता और स्थानीय द्रव्यों में घुल-मिलकर दूध जैसे श्वेत द्रव का रूप ग्रहण करता है। इस दुर्घट सदृश द्रव में स्नेह-कणिकायें विलम्बित रूप में रहती हैं। इस द्रव को 'मन्थ' कहा जा सकता है।

कभी-कभी आमाशय में स्नेह-पाचकाग्नि की या स्नेहपाचनांश की क्रिया भी होती है, पर क्योंकि यह स्नेह-पाचनांश आमाशयरस में न होकर प्रायः वाह्य द्रव्यों के साथ-साथ आया करता है,^{२१} इस कारण आमाशय में स्नेहों

१७. स्नेहों के साथ देह को प्राप्त होनेवाले 'भूताग्नि' रूप (आग्नेय प्रकृति के) पाचनांश, यथा—खाद्योज 'डी', खाद्योज 'ए'।

१८ स्नेहों के साथ देह में आने वाले प्रेरणामूलक एवं क्रियाशक्तिजनक 'वायवीय द्रव्यांश', यथा—खाद्योज 'ई', खाद्योज 'के' आदि।

१९. इन परिवर्तित रूपों को अवर्चीन विज्ञान में 'ट्राइग्लिसराइड' और 'डाइ-ग्लिसराइड' कहा जाता है।

२०. स्नेह के महालोतस् में बननेवाले, अन्तिम रूपान्तर 'फॉटो एसिड' और 'ग्लिसरोल' कहे गये हैं।

२१. 'गैस्ट्रिक लायपेज हैंज वीन रिपोर्ट' एज ए कान्सिस्टचुएन्ट आफ गैस्ट्रिक जूस, बट इट्स प्रेजेन्स एज ए सिकिटरी प्रोडक्टइज डाउट-फुल। इट्स एकशन इन दि स्टम्क कुड बी ऑफ लिटिल ऑर नो इम्पोर्टेन्स इन डायजेशन।

(वायोकेमिस्ट्री बाई वेस्ट एन्ड टाड, अध्याय १३, पृष्ठ ४६७)

का कभी-कभी किंचित्‌मात्र आंशिक रूप में ही पचन हो पाता है,^{३३} वहुधा यहाँ स्नेहों का मन्थन होकर 'मन्थद्रव' ही तैयार होता है और यह अग्निम पचन के लिये धीरे-धोरे आमाशय से आगे बढ़ता है।

उपर्युक्त मन्थद्रव के रूप में स्नेह आमाशय से निकलकर नीचे ग्रहणी अवयव में पहुँचते हैं। यहाँ याकृतपित्त और अग्न्याशयस्राव निकलकर इन स्नेहों के सम्पर्क में आते हैं।

ग्रहणी के भीतर आये हुए अग्न्याशय स्राव में 'पाचकाग्नि' या 'पाचनांश' प्रमुख रूप से रहते हैं, इन्हीं में 'स्नेहपाचकाग्नि' या 'स्नेहपाचनांश'^{३४} भी होते हैं।

अग्न्याशयस्राव का यह स्नेहपाचनांश, विशेष वीर्यवान् आग्नेयद्रव्य या 'अग्नि' होता है, परन्तु यह अन्य द्रव्यों का सहयोग पाकर या अन्य कई द्रव्यों के सहकार में ही क्रियाशील हो पाता है।

इन सहकारी द्रव्यों में 'याकृतपित्त' प्रमुख है।

याकृतपित्त के लवण, अग्न्याशयस्राव के इस स्नेहपाचनांश को उद्वुद्ध या उद्दीप करके इसे सक्रिय बनाते हैं। यह सक्रिय स्नेहपाचन, स्नेहों के कुछ अंश का 'उद्विच्छेदन' और विघटन करके इसे स्नेहाम्ल और मधुरोल में बदल देता है।

स्नेहाम्ल, आहार में आये हुए क्षारों के साथ मिलकर 'फेनक'^{३५} (या सावुन) ऐसे द्रव्य का निर्माण करते हैं। इस फेनक की सहायता से अवशिष्ट

२२. स्नेहपचन का रूप यह है कि इस पर 'स्नेहपाचनांश' को क्रिया होकर, इसमें से उद्जन के अणु का विच्छेदन होता है, और वह अणु पृथक् हो जाता है, इसे 'उद्विच्छेदन' (हाइड्रोलायसिस) कहते हैं। इस उद्विच्छेदन के परिणामस्वरूप, स्नेह, क्रमशः 'डाइग्लिसराइड' और 'डाइग्लिसराइड' में बदलते जाते हैं। उद्जन का अन्तिम अणु विच्छिन्न हो जाने पर 'अन्तिम 'उद्विच्छेदन' के पश्चात् स्नेह, स्नेहाम्ल और मधुरोल नामक द्रव्यों का रूप ले लेते हैं। यही महास्रोतस् में इनके पचन का अन्तिम रूप है। इसी रूप में ये पचयमानाशय या ग्रहणी द्वारा उपशोषित होते हैं।

२३. इन्हें अवचीन विज्ञान में 'लायपेज' नाम दिया गया है।

२४. फेनक या सावुन को आंग्लभाषा में 'सोप' कहते हैं, यह स्नेहाम्ल और क्षार के परस्पर सम्मुर्छन से बनता है। जिस प्रकार वस्त्रादि धोने के लिए सावुन बनाते हैं लगभग उसी प्रकार हमारे महास्रोतस् में पचनक्रिया के समय सावुन जैसा द्रव्य बना करता है।

स्नेह भी घुलमिलकर 'धौतद्रव'^{२५} (या इमल्शन) के रूप में आ जाता है।

जब 'फेनक' का कार्य हो चुकता है तब 'याकृत पित्त' इसे विघटित कर देता है। उक्त 'धौतद्रव' के रूप में आ जाने से, स्नेह, सूक्ष्म कणिकाओं के रूप में विखर जाता है, इन विखरी हुई स्नेहकणिकाओं को सब ओर से धेर कर, अग्न्याशय का पूर्वोक्त स्नेहपाचकाग्नि या स्नेहपाचनांश इन पर अपनी क्रिया सुगमता से करने लगता है, अतः अब अधिकांश स्नेह उद्विच्छिन्न और विघटित होकर स्नेहाम्लों तथा मधुरोल में रूपान्तरित हो जाता है।

याकृतपित्त अब भी स्नेहों के साथ-साथ होता है। याकृतपित्त में रहने वाले लवणों की उपस्थिति में, स्नेहाम्लों और मधुरोल दोनों को, पच्यमानाशय की रसांकुरिकायें अच्छे प्रकार से उपशोषित करने लगती हैं।

स्पष्ट है कि याकृतपित्त, अग्न्याशय के पाचनांशों को उद्बुद्ध या प्रदीप्त करता है, फेनक का विघटन करता है, स्नेहाम्लों और मधुरोल के उपशोषण को सुगम बनाता है। इतना ही नहीं, याकृतपित्त, अग्न्याशय से 'अग्नि' को (पाचनांशयुक्त साव को) क्षरित भी कराता है।

इस प्रकार पचनक्रिया में 'अग्नि' का आविर्भाव कराने, अग्नि का उद्वोधन या उद्वीपन करने, पचनकर्म सम्पन्न कराने, और पाचित स्नेह के रस का उपशोषण कराने में याकृतपित्त का प्रमुख स्थान है।^{२६} अस्तु,

पूर्वोक्त प्रक्रिया से अधिकांश स्नेह का पचन हो जाता है, जो अवशिष्ट रहता है वह पच्यमानाशय की पित्तघराकला में से परिस्तुत स्नेहपाचक अग्नि या स्नेह पाचनांश^{२७} के द्वारा पचा लिया जाता है।

२५. 'धौतद्रव' को अर्वाचीन विज्ञान में 'इमल्शन' कहा गया है। यह स्नेहों का जलीय विलयन या धोल है। जिस प्रकार एरण्ड स्नेह, बबूल गोद और जल को खरल में विविहत मिलाकर 'कस्ट्रायल इमल्शन' तैयार करते हैं, उसी प्रकार पचन के सभी महास्रोतस् में यह इमल्शन या धौतद्रव बना करता है।

२६. आयुर्वेद में इसी कारण याकृत पित्त को विशेष महत्त्व दिया गया है। पाचकपित्त का यह मुख्य अंग है। पाचकपित्त सब पित्तों में प्रधान है। अग्नि जैसे वीर्यवान् द्रव्य को इसी से 'पित्त के अन्तर्गत' रखा गया है।

२७. इसे भी अर्वाचीन क्रियाशारीर में 'लायपेज' नाम दिया गया है।

इस प्रकार महास्रोतस् के भीतर, स्नेहों के पचन कर्म को याकृतपित्त के सहयोग से, आमाशयगत स्नेहपाचनांश—अग्न्याशयवर्ती स्नेहपाचनांश—और पच्यमानाशयवर्ती स्नेहपाचनांश (अर्थात् स्नेह पाचक सब अग्नि) मिलकर सम्पन्न करते हैं। इनमें 'अग्न्याशयवर्ती अग्नि' स्नेहों का मुख्य पाचक है।

इन सभी अग्नियों का आविभाव उनकी अपनी-अपनी क्रिया के समय पर होता है। 'अग्नि' या 'पाचनांशों' का यह आविभाव दो प्रकार से होता है—(क) वायवीय प्रकृति के प्रेरक अंगों द्वारा, तथा (ख) आग्नेय प्रकृति के उद्दीपन द्रव्यों द्वारा।

(क) वायवीय प्रकृति के प्रेरक अंग, ये प्राणदा नाड़ी के नाड़ीसूत्र हैं, जो वात का वहन करते हैं। इन नाड़ीसूत्रों की प्रेरणा पर अग्न्याशय से वह स्राव निकलने लगता है, जिसमें भिन्न-भिन्न अग्नियाँ या पाचनांश समाविष्ट रहते हैं, 'स्नेह पाचनांश' भी इन्हीं में होता है।

(ख) आग्नेय प्रकृति के उद्दीपन द्रव्य, ये पच्यमानाशय की पित्तधराकला से क्षरित होने वाले दो स्रावों^{१०} के रूप में होते हैं।

अभिप्राय यह कि महास्रोतस् का स्नेह-पाचन-कर्म भी 'वात' और 'अग्नि' के पारस्परिक सहकार से सम्पन्न होता है और इन्हीं पर निर्भर करता है।

स्नेहों के इस पचन का स्वरूप क्या है—यह पीछे लिखा जा चुका है, अर्थात् स्नेह में से उद्दजन (हाइड्रोजन) नामक मूलभौतिक (एलिमेन्ट) के अणुओं का विच्छेदन हो-होकर उनका पृथक् होते जाना ही स्नेह का क्रमिक पचन है। स्नेह-पाचकाग्नियों की क्रिया से उद्दजन के अणुओं के निरन्तर पृथक् होते जाने का अन्तिम परिणाम यह है कि ग्रहणी में विच्छिन्न होता हुआ और आगे की ओर खिसकता हुआ स्नेह, अन्त को, विघटित हो जाता है; और यह पूर्वकथित दो प्रकार के द्रव्यों में विभक्त हो जाता है (क) स्नेहामल,^{११}

२८. इन दोनों स्रावों को अवचीन विज्ञान में 'सिक्रिटोन' तथा 'पैक्रियोज्ञाइमीन' नाम दिये गये हैं।

२९. स्नेहामल को अवचीन विज्ञान में 'फॉटो एसिड' कहा जाता है।

'स्नेहामल' वहुसंख्यक हैं, यथा—नवनीतामल, सर्वपामल, अतसीकामल, एरण्डामल, जातिपत्रिकामल, तालामल, बसामल, जैतूनामल, मुद्गफलिकामल आदि।

प्रत्येक स्नेह में 'मधुरोल' के साथ-साथ एक या अनेक स्नेहामल पाये जाते हैं, यथा—

(ख) मधुरोल^{३०} यह विभाजन ही स्नेह के पचन की मूमिका है। क्योंकि इन विभाजित रूपों में, फेनीकरण हो चुकने पर, पच्यमानाशय स्नेह को आचूषित कर लेता है। इस समय अग्न्याशय का अग्नि, यकृत् का पित्त और स्नेहद्रव्यों के साथ-साथ वाहर से आने वाला 'भूताग्नि' (खाद्योज 'डी' आदि)--ये तीनों यदि समुचित मात्रा में रहें तो महाक्षोत्सु में स्नेह का पचन और आचूषण उत्तम रूप में होता है।

परन्तु सेवन किए गये सम्पूर्ण स्नेहों का उक्त प्रकार से पचन नहीं हो पाता।

स्नेह स्वभावतः 'आप्य' हैं। परन्तु अप् तत्व की प्रवानता होने पर भी इनमें पाँचों महाभूतों के अंश रहते हैं। पृथिवी और वायु, अपनी-अपनी प्रकृति के कारण स्नेहों में गुरुता, कठोरता, रुक्षता उत्पन्न करते हैं और इन्हें दुष्पच बना देते हैं। अतः जिन स्नेहों में पार्थिव और वायवीय^{३१} अंश अल्पमात्रा में रहता है, वे ही सुपच होते हैं; जिनमें ये अंश कम हों वे

नवनीत या मक्खन में—मधुरोल के साथ वसाम्ल, तालाम्ल, जातिपत्रिकाम्ल, और जैतूनाम्ल होते हैं।

तिलतेल में—मधुरोल के साथ अतसीकाम्ल, जैतूनाम्ल मुख्य रूप से होते हैं सर्वपतेल में—मधुरोल के साथ अतसीकाम्ल, जैतूनाम्ल तथा अन्य भी अम्ल रहते हैं।

३०. मधुरोल को वैज्ञानिक शब्दों में ग्लिस्टरोल या ग्लिस्टरेन कहा जाता है। यह मधुर रस और गुरुगुण युक्त द्रव्य है, जो जल में तथा कोहल (अल्कोहल) में विलीन होता है। यह अपने में अनेक द्रव्यों को धोल लेने की क्षमता रखता है। ताम्र या लोह के यौगिक (यथा-हाइड्रॉक्साइड्स) इसमें विलीन हो जाते हैं। यह निर्विष द्रव्य है। हमारा सजीव शरीर मधुरोल को शोष्ण ही उपयोग में ले लेता है।

३१. स्नेहों का पचन, उनके भीतर विद्यमान स्नेहाम्लों की प्रकृति पर निर्भर करता है। स्नेहाम्ल, ओषजन या ऑविसजन (ओ) —कज्जल या कर्बन (क) और उद्जन या हाइड्रोजन (उ) नामक तीन मूलभौतिकों के बने होते हैं। इनमें भौतिक दृष्टि से, कज्जल पार्थिव, उद्जन वायवीय और ओषजन अग्निवायवीय ज्ञात होता है। अग्निकर्म में, इनके पारस्परिक सम्पूर्छन के परिणामस्वरूप 'द्रवता' का जन्म होकर 'स्नेह' का आविभव होता है।

'अतृप्त',^{१३} जिनमें मध्यम मात्रा में हों वे 'संतृप्त'^{१४} (या तृप्त), और जिनमें ये अंश अधिक मात्रा में हों वे 'अतितृप्त'^{१५} कहे जा सकते हैं।

जो स्नेह इन अंशों की अधिकता के कारण तृप्त और अतितृप्त श्रेणी के स्नेहाम्लों से युक्त हों, अतएव दुष्पच हों, वे प्रायः 'स्वरूप' में ही—जैसे के तैसे—पच्चमानाशय से आगे पक्वाशय और मलाशय की ओर बढ़ जाते हैं। ये इन भागों का स्नेहनमात्र करते हैं। प्रायः अपक्व रहकर ये आम द्रव्यों के उत्पादक बनते हैं, या विना पचे निकल जाते हैं। तीव्र जाठराग्नि के व्यक्तियों में ही इनका सम्यक् पचन हो पाता है।

इन तीनों में से ओषजन या आँविसजन (ओ) के अणु सदा द्वयणुक (दो को संख्या) रूप में रहते हैं, अर्थात् स्नेहाम्लों में ओषजन का 'द्वयणुक' रहा करता है। कज्जल या कर्वन (क) के अणु ४, ६, ८ आदि सम संख्या में और न्यूनाधिक रूप में होते हैं। उद्जन या हाइड्रोजन (उ) के अणु, कज्जल के अणुओं से प्रायः दुगनी संख्या में रहते हैं। ये कभी-कभी दुगने से कुछ कम या अधिक भी पाये जाते हैं, परन्तु रहते प्रायः दुगने के आसपास ही हैं।

३२. जिन स्नेहाम्लों में कज्जल के अनुपात में उद्जन के अणु दुगने से कुछ कम हों उन्हें 'अतृप्त' (अन सेचुरेटेड) स्नेहाम्ल कहा जाता है। इन स्नेहाम्लों से युक्त स्नेह भी अतृप्त कहाते हैं।

३३. जिन स्नेहाम्लों में कज्जल के अनुपात में उद्जन के अणु लगभग दुगने हों उन्हें 'तृप्त' (सेचुरेटेड) कहा जाता है, इन स्नेहाम्लों से युक्त स्नेह भी तृप्त कहाते हैं।

३४. जिन स्नेहाम्लों में कज्जल के अनुपात में उद्जन के अणु दुगने से अधिक हों उन्हें अतितृप्त (सुपर सेचुरेटेड) स्नेहाम्ल कहा जाता है, ऐसे स्नेहाम्लों से युक्त स्नेह भी 'अतितृप्त' कहाते हैं।

अनुभव और प्रयोग से जाना गया है कि अतृप्त स्नेहाम्लों और मधुरोल के संयोग से वने हुए स्नेह शीघ्र पचा करते हैं। इनके पिघलने में ताप और समय कम लगता है, अर्थात् इनका द्रावणांक कम होता है। ये प्रायः देहोष्मा से शीघ्र ही पिघल कर द्रव बन जाते हैं। इनके विपरीत 'तृप्त' और 'अतितृप्त' (पार्थिवांश कज्जल और वायव्यांश उद्जन की अधिकता वाले) स्नेहाम्लों के बने हुए स्नेह शीघ्र द्रवित नहीं होते। ये दुष्पच और अपाच्य पाये गये हैं।

यदि अनुत्त श्रेणी के—अतएव सुपच—स्नेहों का अधिक मात्रा में (स्नेहन के प्रयोजन से) सेवन किया जाय तो ये ग्रहणी में पचकर पञ्चमानशय से तो उपशोषित होते ही हैं, परन्तु आगे पक्वाशय में भी इनका कुछ अंश उपशोषित होता है। इस प्रकार ये पक्वाशय का स्नेहन करते हैं। इसी हाइटि से दुग्ध, धृत, तिल तेल का विशेष मात्रा में अन्तःसेवन करने और अनुवासन द्वारा लेने का विधान है। स्वतः पक्वाशय और मलाशय (स्थूलान्त्र) अपने स्नेहन के लिए रस रक्त से भी किंचित् स्नेह लेते रहा करते हैं। यह स्नेह, उपस्नेहों (कोलस्टिरोल आदि) के रूप में होता है।

हमारे उपयोग के मुख्य स्नेह स्थावर (वानस्पतिक) और जांगम (प्राणिज) श्रेणी के होते हैं, इनमें जांगम की अपेक्षा स्थावर स्नेह^{१४} सुपच हैं। अस्तु, पूर्वोक्त प्रकार से पाचकाग्नि द्वारा स्नेहों का पचन होकर वे पञ्चमानशय

कारण स्पष्ट है कि अतितृप्ति और संतृप्ति स्नेहाम्लों से बने स्नेहों में कज्जल और उसके साथ-साथ उद्जन के अणु स्वभावतः अधिक संख्या में होंगे, इनसे उद्जन के अणुओं को पृथक् करा देने पर ही ये 'अतृप्ति' प्रकार के स्नेह बन सकते हैं। अतृप्ति बन चुकने पर ही ये सुगमता से विघटित हो पाते हैं, और विघटित हो चुकने पर ही इनका सावनोकरण होकर उपशोषण होता है।

नवनीत (मक्खन)—धृत, सर्षपतंल और तिलतंल जिनका भारत में चिरकाल से उपयोग होता आ रहा है; सहज ही सुपच स्नेह हैं। इनमें मधुरोल के साथ अतृप्ति श्रेणी के स्नेहाम्ल पाये जाते हैं, और ये अनेक भूताग्नियों (नाना प्रकार के खाद्योज रूप पाचनांशों) से भी समृद्ध हैं, अतः देहसत्त्व हैं।

३५. स्थावर स्नेहों के सुपच होने का कारण यह है कि इनके कण निरावरण होते हैं, अर्थात् इनके अणुओं पर कोई कला या शिल्पी चढ़ी हुई नहीं होती, जब कि जांगम स्नेह (यथा प्राणियों की वसा मज्जा) के कणों पर चतुर्दिक् एक आवरण मढ़ा होता है। यह आवरण हमारे आमाशय के अम्लीय स्राव से धुल जाने पर ही टूट पाता है, और तभी इन कणों पर स्नेहपाचकाग्नि (स्नेह पाचनांश लायपेच) की क्रिया हो पाती है। जांगम के विपरीत स्थावर-स्नेह-कण निरावरण होने से, इन पर पाचकाग्नि (पाचक रसों, स्रावों और स्नेहपाचनांशों) की क्रिया शीघ्र आरम्भ होती है।

की अग्नि और वायु के सहकार से उपशोषित होते हैं। इस उपशोषण के अनन्तर, इन स्नेहों पर भूताग्नियों की क्रिया आरम्भ होती है। भूताग्नियों को क्रिया के विशेष स्थल—हमारे पच्यमानाशय की पित्तधराकला और यकृत हैं।

महास्रोतस् में स्नेहों के 'उद्विच्छेदन रूप' पचन के स्परान्त, जब ये, मधुरोल और स्नेहाम्लों में परिणत हो जाते हैं, तब इनका यकृत और अग्न्याशय के क्षारों के साथ मिश्ने होकर फेनक (साबुन जैसा द्रव्य) बनता है। यह फेनी-भूत द्रव जिस समय पच्यमानाशय की अंकुरिकाओं के मुखों पर पहुँचता है तो पचमसंस्थान में व्याप्त ऊष्मा के प्रभाव से, और समानवात की प्रेरणा पर, वे इस द्रव को शनैः-शनैः उपशोषित करने लगती हैं।

उक्त फेनीभूत स्नेह के साथ-साथ यकृत और अग्न्याशय के पित्तांश (याकृत लवण) और आग्नेयांश (पाचनांश) भी उपशोषित होकर देह के भीतर पहुँचते हैं, साथ ही स्नेहद्रव्यों में रहने वाले 'भूताग्नि' रूप द्रव्य—(विशेषतः खाद्योज 'डी', 'ए' 'ई') भी उपशोषित हो जाते हैं।

उक्त फेनीभूत एवं उपशोषित 'स्नेह' का अब 'भूताग्नि पाक' आरम्भ होता है। अंकुरिकाओं के मार्ग से भीतर आ चुकने पर यह स्नेह द्रव, पित्तधराकला के घटों (सेलों) के सम्पर्क में आता है, और घटों के सुषिर या सचिद्र आवरणों को भेदकर यह इन घटों के भीतर जा पहुँचता है।

पित्तधराकला के घटों के भीतर एक विशेषपित्त या अग्नि (सूक्ष्म पाचनांश) विद्यमान होता है।^{३६} यह उक्त स्नेह के कुछ अंश को परिवर्तित कर इसे 'स्फुरीय मेदस'^{३७} में बदल देता है। शेष वचा हुआ स्नेह, उक्त पाचनांश से पृथक् हो जाता है। पृथक् होते ही यह मधुरोल के साथ मिलकर पुनः प्रकृत स्नेह में^{३८} बदल जाता है। पर यह दोनों प्रकार का स्नेह अब 'देहजातीय स्नेह' होता है। यही भूताग्नि कर्म का उद्देश्य है, अर्थात् वाह्य भौतिक द्रव्य को 'देह जातीय भौतिक द्रव्य' में परिवर्तित कर देना।

स्नेह के उक्त विवर्तन या रूपपरिवर्तन-क्रिया के सम्पन्न कराने में, पित्तधराकला का पूर्वोक्त अग्निद्रव्य (पाचनांश), स्नेहवर्ती भूताग्नियाँ (खाद्योज 'डी' आदि), और देहाग्नि रूप कतिपय अन्य साव भी सहायक होते हैं।

३६. इस अग्नि को अर्वाचीन विज्ञान में 'ग्लिसरो फॉस्फेट' कहा गया है।

३७. अर्वाचीन वैज्ञानिक नाम—'फॉस्फोलाइफिड'

३८. अर्वाचीन वैज्ञानिक नाम—'नेचुरल फॉट'

अब यह 'देहजातीय स्नेह' उन कलाघटों की भित्तियों से बाहर निकलता है। यहाँ से यह रसायनियों में आता और रसायनियाँ इसे अधोगा महासिरा में पहुँचा देती हैं। यहाँ पर यह रक्तप्रवाह में मिलता है, और हृदय की ओर चला जाता है।

उक्त प्रकार से रक्तप्रवाह में मिलकर जो स्नेह हृदय की ओर चला गया वह वहाँ से रस रक्त के साथ-साथ विभिन्न देहभागों को पहुँचता है। सेवन किए हुए स्नेहों का लगभग दो-तिहाई भाग इसी प्रकार रस रक्त में जाया करता है।

जो स्नेह देहोष्मा से शीघ्र द्रवित होते हैं वे प्रायः महास्रोतस् में सुगमता से पचकर और उपशोषित होकर सीधे रुधिर-प्रवाह में जा मिलते हैं।^{१९}

कुछ स्नेह ऐसे भी हैं जो महास्रोतस् में विना पचे—'स्नेह' रूप में ही, उपशोषित होकर, रस-रक्त-प्रवाह में जा पहुँचते हैं। इनकी मात्रा अल्प होती है। ये मृदु भी होते हैं। अर्थात् ये पार्थिव या वायवीय न होकर 'आप्य' प्रकृति के होते हैं।^{२०}

लगभग एक तिहाई स्नेह हृदय की ओर नहीं भेजे जाते। ये प्रायः ऐसे होते

३९. ऐसे स्नेह प्रायः अतृप्त श्रेणी के हुआ करते हैं। इनमें पार्थिव और वायवीय अंश (अर्थात् कज्जल तथा उद्जन के अणुओं की संख्या तथा अनुपात कम होता है।

४०. 'पार्थिव' प्रकृति के स्नेहों में ऐसे स्नेहाम्ल होते हैं जिनकी रचना में कज्जल (कार्बन) के अणुओं की संख्या अधिक होती है। 'वायव्य' प्रकृति के स्नेहों में रहने वाले स्नेहाम्लों के भीतर उद्जन (हाइड्रोजन) के अणुओं की संख्या, कज्जल से द्विगुण की अपेक्षा भी अधिक होती है। 'आप्य' अतएव मृदु प्रकृति के वे स्नेह हैं जिनके स्नेहाम्लों में कज्जल के अणु कम संख्या में होते हैं और उद्जन के अनु कज्जल से द्विगु न होकर कुछ कम ही होते हैं।

X X X

पार्थिव प्रकृति के स्नेहाम्ल—यथा 'चर्विकाम्ल'। इसका सूत्र 'ओ २ क १९ उ ३८' है। यह संतृप्त श्रेणी का स्नेहाम्ल है। वायव्य प्रकृति का स्नेहाम्ल—यथा 'शोभाजनाम्ल'। इसका सूत्र 'ओ २ क १८ उ ४०' है। यह अतितृप्त श्रेणी का स्नेहाम्ल है। आप्य या मृदु प्रकृति का स्नेहाम्ल—यथा 'अतसी-काम्ल'। इसका सूत्र 'ओ २ क १८ उ ३२' है। यह अतृप्त श्रेणी का स्नेहाम्ल है। इसके बने हुए स्नेह शीघ्र विच्छिन्न होते हैं, अतः सुपच हैं।

हैं जिनका महास्रोतस् में पचन पर्याप्त सिद्ध नहीं होता, इनके और अधिक पचन की (उद्विच्छेदन की) आवश्यकता होती है ।^१

यह अतिरिक्त पचन, भूताग्नि पाक द्वारा, सम्पन्न हो पाता है, जो यकृत् में होता है । अतः ऐसे स्नेह, समानशत द्वारा पच्यमानाशय की अंकुरिकाओं के मूल-स्थित शिराओं में से, प्रतिहारिणी महाशिरा^२ में पहुँचाये जाते हैं और वहाँ से यकृत् की ओर भेजे जाते हैं ।

जब देहधातुओं को अधिक स्नेह की आवश्यकता होती है, तो यकृत् अपने भीतर विद्यमान अग्नियों (पाचनांशों) से इनका पचन (उद्विच्छेदन और विभाजन) करके इन्हें रुधिर प्रवाह में भेज देता है । इस पचन के उपरान्त ये स्नेह भी 'देहजातीय स्नेह' बनकर देहधातुओं के उपयोग में आने योग्य या देह में संचित होने योग्य बन जाते हैं । स्मरण रहे कि देह में संचित हो जाने पर भी यह आवश्यक नहीं कि 'धात्वग्नि' इन स्नेहों का पाक कर ही देगी । ऐसे स्नेह एक प्रकार के 'आम द्रव्य' हैं, जो मेदस्वी व्यक्तियों के देह में भरे रहते हैं ।^३

रुधिर-प्रवाह में और यकृत् में उक्त प्रकार से पहुँचने वाले स्नेहों के अतिरिक्त बहुत-से ऐसे भी स्नेह हैं, जिन पर पाचकाग्नि द्वारा पचनकर्म सम्पन्न नहीं होता, ये उद्विच्छेद होकर विभक्त नहीं हो पाते, इनका धौतद्रव और फेनक भी नहीं बनता, अतः ये पच्यमानाशय में उपशोषित नहीं होते । ये अन्नकिट्ट के साथ-साथ आगे पक्वाशय की ओर बढ़ते हैं, और अन्त्र-मलाशय एवं गुदा से होते हुए (इनका स्नेहन करते हुए) पुरीष के साथ-साथ वाहर चले जाते हैं । यथा एरण्ड स्नेह ।

जो स्नेह पचकर और देहजातीय बनकर रस रक्त में पहुँच जाते हैं, वे देहोपयोग के लिए होते हैं । इन पर धात्वग्निपाक आरम्भ होता है ।

४१. इन स्नेहों के भीतर संतृप्त या अतितृप्त श्रेणी के स्नेहाम्ल होते हैं । ये प्रायः वायव्य श्रेणी के हुआ करते हैं । मेषीघृत इसका एक उदाहरण है ।

यह दुष्पच अतएव अरुचिकर और छाती में घबराहट उत्पन्न करता है ।

चरक ने इसे निकृष्टतम् माना है—‘आचिकं सर्पिः अहृद्यानाम् ।

४२. ‘पोर्टल वेन ।’

४३. ‘.....आम एव अन्नरसो मधुरतरश्च शरीरं अनुक्रामन् अतिस्नेहात् भेदो जनयति, तत् अतिस्थौल्यं आपादयति ।’

देह के भीतर नानाजातीय धातु-उपधातु हैं। इनके सूक्ष्म धातुघटों के भीतर भी अपना-अपना अग्नि (पाचनांश) विद्यमान होता है। रस रक्त के भीतर आये हुए स्नेह को अपने अनुरूप बनाने के लिए ये धातुघट, अपने-अपने अग्नि (पाचनांश) को रुधिर-प्रवाह में छोड़ते हैं। उक्त अग्नि या पाचनांश गुण कर्म की दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रकार की योग्यतायें रखते हैं।^{४४}

इन धात्रविनियों या धातु-पाचनांशों की क्रियाओं के उपरान्त स्नेहों का कुछ अंश तत्-तत्धातु उपधातु का अंग बनने योग्य होकर उन उनका रूप ग्रहण करता है। यथा—

रस धातु में जाकर स्नेह, स्नेहाम्ल और मधुरोल के रूप में और फिर स्नेह विन्दुओं के रूप में रहता है। यह मातृस्तन्यगत स्नेहकणों के रूप में भी प्रकट होता है।

स्नेह के साथ प्रस्फुरक का संयोग होकर 'स्फुरीय स्नेह'^{४५} बनता है, जो रक्त धातु के लालवर्ण के बीज या लोहिताणु बनाने के काम आता है।

मांसधातु में पहुँचकर और निर्वित होकर, यह 'वसा' नामक उपधातु का रूप लेता है। कुछ स्नेह 'मेद' धातु में रूपान्तरित होता है। कुछ अस्थिगत मज्जा में जाकर पीतमेदस् और रक्त मेदस् में परिवर्तित होता है। कुछ स्नेह शुक्रक्षावों का अंश बनता है, और यस्तिकंचित् स्नेह 'ओज' का रूप ग्रहण करता है। पार्यिव या वायव्य प्रकृति का कुछ स्नेह 'उपस्नेहों'^{४६} का रूप भी ग्रहण किया करता है।

उक्त प्रकार से धातु-उपधातुओं में परिणत होने के अतिरिक्त, अधिकांश स्नेह को, प्राप्त समस्त देह के धातुघट, अपने लिए ऊष्मा और शक्ति सृजन के प्रयोजन से ग्रहण करते रहते हैं।

४४. इन धातु पाचनांशों में अग्नि और वायु दोनों-के गुण धर्म पाये जाते हैं अतः ये, स्नेह का उद्विच्छेदन, द्रव्यान्तर संयोजन, रूपान्तरोकरण आदि बहुविध क्रियायें सम्पन्न करते कराते हैं, जिनके परिणामस्वरूप स्नेह तत् तत्, धातु उपधातु के अनुरूप बनता रहता है।

४५. 'फॉल्स्फोलाइपिड'

४६. उपस्नेह—स्लिरायड, यथा—कोलस्टिरोल, अर्गस्टिरोल आदि। कोलस्टिरोल नालक उपस्नेह—लोहिताणु, पित्त, पित्ताश्मरी, यच्छत्, वातनाडी, मस्तुलंग सुषुम्ना आदि में रहता है और भिन्न-भिन्न प्रयोजन सिद्ध करता है। अल्पांश में यह समस्त धातुघटों के भीतर विद्यमान रहता है।

यह प्रथम कहा जा चुका है कि महास्रोतस् में पचकर उपशोषित होने वाला स्नेह या वहाँ विना पचे ही आचूषित हो जाने वाला स्नेह,—ये सभी स्नेह धात्वग्नियों की क्रिया से 'धातुजातीय स्नेह' बना लिए जाते हैं। स्नेह को इस प्रकार धातुजातीय स्नेह का रूप देने में—देह धातुओं के सूक्ष्म घटों से निकल-निकल कर आने वाले—धात्वग्निरूप पाचनांश—मुख्य भाग लेते हैं। फिर भी इस स्नेह पचनकर्म में 'पाचकाग्नि' की प्रधानता देनी जाती है। क्योंकि पाचकाग्नि^{४७} के अंश रक्त मार्ग से इन धातुघटों तक पहुँचते हैं और इन्हें अपने आग्नेय प्रभाव से उद्दीप्त या उत्तेजित करके उक्त स्नेहविश्लेषक या स्नेहविश्लेषक पाचनों को परिस्तुत कराते हैं।

इस प्रकार पाचकाग्नि भूताग्नि (खाद्योज 'डी' आदि) और धात्वग्नि (धातुघटों में परिस्तुत होने वाले स्नेहविश्लेषी पाचनांश) इन तीनों अग्नियों के सहकार से ही स्नेहों का भी पचन हो पाता है।

स्नेह, उक्त प्रकार से पचकर समान वात द्वारा रस रक्त को और वहाँ से व्यान वात द्वारा देहधातुओं को भेजा जाता है। देहधातु इससे अपनी पुष्टि करते या शक्ति के लिए इष्टका उपयोग करते हैं।

परन्तु जितने स्नेह का हम नित्य सेवन करते हैं, वह सबका सब उक्त प्रकार से व्यय नहीं हो पाता और कुछ स्नेह रस रक्त के भीतर अतिरिक्त रूप में वच रहता है। पार्थिव और वायव्य प्रकृति के (अर्थात् अतितृप्ति और

४७. पाचकाग्नि या पाचकपित्त का मुख्य स्रोत यकृत् है, यकृत् में रहने वाले यकृतीन (हिपेटीन) को यदि सूचीबद्ध द्वारा रुधिर में पहुँचा दिया जाय तो इसके सूक्ष्म अंश धातुघटों तक पहुँचकर उन्हें उद्दीप्त करते हैं और उनमें से 'स्नेह विश्लेषक' पाचनांशों को परिस्तुत कराते हैं। उक्त तथ्य आधुनिक परीक्षणों द्वारा ज्ञात किया गया है।

इस तथ्य के प्रकाश में यह समझना उपयुक्त जान पड़ता है कि यकृत पित्त या (पाचक पित्त) का कुछ अंश हमारे भीतर आचूषित होकर रस रक्त प्रवाह में पहुँचता है और इससे उद्दीप्त होकर भिन्न-भिन्न धातुघट अपने भीतर से अपने-अपने अग्नि (पाचनांश) का स्राव कराते हैं।

आजकल बहुधा दिये जाने वाले यकृतसार (लिवर एक्सट्रैक्ट) के सूचिकाभरण का भी यहीं परिणाम देखने में आता है कि रस, रक्त, मांस आदि का निर्माण करानेवाले विविध अग्नि (पाचनांश) वेह में जन्म लेने लगते हैं, जिससे रसक्षय, पाण्डु, शोष-आदि रोग शान्त होते दिखाई देते हैं।

संतुष्ट श्रेणी के) स्नेह ऐसे होते हैं, जो सरलता से पचकर विच्छिन्न नहीं हो पाते और इनके सूक्ष्मकण रस रक्त में बने रहते हैं। कुछ स्नेह विना पचे (विना विच्छिन्न हुए) सीधे ही रस रक्त में पहुँच जाया करते हैं। ऐसे सब स्नेह समानवात द्वारा पित्त के मुख्य स्रोत 'यकृत' में पहुँचाये जाते हैं।

यकृत एक ऐसा 'कमन्ति' अथवा यन्त्रागार (कारखाना) है, जो अग्नि और वायु का विशेष क्रियास्थल है। यहाँ नाना प्रकार के पाचकाग्नि, भूताग्नि और धात्वाग्नि रूप सूक्ष्मद्रव्य संचित रहते और बनते-विगड़ते रहते हैं। ये नये सिरे से संयुक्त वियुक्त भी होते हैं। अन्य अनेक देहोपयोगी (दोष-धातु-मलरूप तीनों वर्गों के) बहुत प्रकार के द्रव्य यहाँ बाहर से आते हैं। ये यहाँ विघटित रूपान्तरित और अन्य द्रव्यों के साथ संयोजित वियोजित कराकर बाहर भेजे जाते हैं। कुछ एक यहाँ रूपपरिवर्तन करके संचित हो जाते हैं और आवश्यकता पड़ने पर पुनः पूर्वरूप में परिवर्तित किए जाकर यथास्थान प्रेषित कर दिये जाते हैं। पार्थिव, आप्य, आग्नेय, वायव्य सभी वर्गों के द्रव्यों को यहाँ अपूर्व संश्रय प्राप्त होता है। पूर्वोक्त प्रकार के संतुष्ट और अतितृष्ट श्रेणी के स्नेहद्रव्य भी समानवात द्वारा यहाँ पहुँचाये जाते हैं।

देह-प्रकृति अपनी आवश्यकता के अनुसार इन स्नेहों के सम्बन्ध में निर्णय लेती है। यदि देह के धातु-उपधातुओं की आवश्यकता हुई तब तो यकृत में इन स्नेहों का स्नेहपाचनांश^४ द्वारा पचन (उद्विच्छेदन) होकर वहाँ इन्हें स्नेहाम्ल और मधुरोल में वियोजित कर दिया जाता है, तब ये देह-जातीय स्नेह बनकर बात द्वारा यथास्थान प्रेषित किए जाते हैं, जहाँ ये तत् तत् धातु की आवश्यकतानुसार धातुजातीय स्नेह बनकर उपयोग में आने लगते हैं। (ऐसा प्रायः स्नेह की कमी पड़ने पर हुआ करता है, जबकि अतृष्ट या मृदु श्रेणी के स्नेह शरीर को न मिल रहे हों), पर यदि आवश्यकता न हो तो ये स्नेह देहजातीय स्नेह के कोषस्थलों की ओर भेज दिये जाते हैं। जहाँ ये संचित हो जाते हैं। यह 'संचितस्नेह' ही 'मेद' या 'मेदोधातु' है।

मेद और मेदोग्नि

उक्त मेद धातु 'मेदोग्नि' का क्रियाक्षेत्र है। मेद यतः देह के भीतर बाहर समस्त धातु उपधातुओं में न्यूनाधिक मात्रा और विविध रूपों में रहता है, अतः 'मेदोग्नि' का भी इन सब स्थलों में सक्रिय बना रहना स्वाभाविक है।

४८. अर्वाचीन क्रियान्शारीर का 'लायपेज'।

'मेदोग्नि' जैसा कि हम अन्य धात्वग्नियों के प्रसंग में देख चुके हैं, 'मेदोगत कतिपय पाचनांशों का और ऊष्मा का समवेत रूप' है। यह स्मरणीय है कि मेद यद्यपि जल और पृथिवी प्रधान धातु है, पर यह ऊष्मा को अपने भीतर संचित रखता है। मेदोग्नि से विशेष अभिप्राय तो उस अग्नि या आग्नेय द्रव्यों (पाचनांशों)^{११} से है, जो मेदोधातु और उसके प्रसाद-मल-भागों में, अपनी क्रिया से, एक विशिष्ट अनुपात बनाये रखते हैं।

मेदोग्नि कर्म और उसके परिणाम

अन्यान्य धात्वग्नियों के समान मेदोग्नि के भी तीन परिणाम हैं:—

(१) प्रसाद अंश की उत्पत्ति, अर्थात् मेद से उच्च कोटि के (अस्थि) धातु के निर्माण की भूमिका प्रस्तुत करना।

(२) स्वजातीय धातु को—देहगत मेद को—पुष्ट रखना।

(३) अपने किटूंश का निर्माण करना।

मेदोग्नि के रूप में विद्यमान पाचनांशों में एक प्रमुख पाचनांश^{१०} को आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा पृथक् रूप में ज्ञात किया गया है। यह पाचनांश देह के भीतर कण्ठ भाग में स्थित चुल्लिका ग्रन्थि में उत्पन्न होता है, वहाँ से रक्त में, फिर रक्तरस में, और तदुपरान्त मेदःकणों के सम्पर्क में आता है। इसका धात्वग्निपाक की क्रिया पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पाया गया है। विशेषतः मेद, कफ आदि आप्य भाव इससे प्रभावित होते हैं। इस पाचनांश या अग्नि के, उपयुक्त मात्रा में बने रहने पर, मेद से उत्तम कोटि की धातु स्नेहगर्भी 'अस्थि धातु' का भी समुचित निर्माण होता है। यदि यह अग्निद्रव्य अपूर्ण रहे

४९. इन आग्नेय द्रव्यों या पाचनांशों में 'चुल्लिकालाव' महत्त्वपूर्ण है। इस पाचनांश के निर्माण में 'टायरोसिन' नामक पार्थिवांश के साथ तैजस् और तीक्ष्ण धातु नैल या जायोडिन का अंश प्रमुख है। यह चुल्लिका लाव रूपी पाचनांश (अर्वाचीन वैज्ञानिक नान-यायरांक्षितन) चुल्लिका ग्रन्थि से परिस्तुत होकर रक्त-प्रवाह में भिलता और रक्त रस (प्लाज्मा) द्वारा धातु उपधातुओं तक पहुँचता है। मेदो धातु को भी यह प्राप्त होता है और मेदोग्नि के रूप में क्रियाशील हो जाता है।

'फ्रीयायरांक्षितन इच्छा विहार्मोन ऑफ ब्लड एच्ड इच्छ केरेड् टु विटिश्यूच'

(उल्लू० टी० ३१-१२७३)

५०. आधुनिक वैज्ञानिक नाम 'यायरांक्षितन'।

तो अस्थि-विकास में प्रबल वाधा उत्पन्न होती है और 'वामनत्व' का रोग हो जाता है, साथ ही दाँत नष्ट होने लगते हैं और अस्थिमलरूपी 'केश' भी निर्बल व रुक्ष पड़कर गिर जाते हैं।

उक्त मेदोग्निरूप पाचनांश के समावस्था में रहने पर मेद धातु का संचय, देह में यथास्थान और सीमित रूप में होता है, धात्वग्निपाक यथावत् सम मात्रा में सम्पन्न होकर त्वचा-केश-लोमादि में स्तिर्घता वनी रहती है, धात्वग्निपाक में उत्पन्न ऊष्मा भी मर्यादित रहती है।

उपर्युक्त अग्निद्रव्य की न्यूनता में त्वचा रुक्ष पड़ जाती है, ऊष्मा कम होकर तापमान गिर जाता है। मन्द धात्वग्नि से 'धातुवृद्धि' होने के सिद्धान्त के अनुसार मेदोधातु अनुचित रूप में वढ़कर इसका विषम संचय होने लगता है। चेहरा फूल जाता है, जीभ और आँखें उभर आती हैं, और गला फूलकर गलगण्ड रोग हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को अनावश्यक संचय से स्रोतोरोध उत्पन्न होकर देहवृद्धि रुक्ष जाती है, पेशियाँ शिथिल पड़ जाती हैं, ऐसा व्यक्ति सुस्त-अकर्मण्य और क्लीव हो जाता है, उसकी वृत्ति तामसी होकर वह विमूढ़^{५१} रहने लगता है।

यदि यह अग्नि तीक्ष्ण हो उठे तो भी अवांछनीय क्रियायें होने लगती हैं, यथा—धात्वग्निपाक का सीमा से अधिक वड़े जाना, जिससे देहधातुओं का दहन^{५२} विशेष रूप में होने लगता है, परिणामतः मेद का (तथा इतर धातुओं का भी) अतिहास हो-होकर देह कृश पड़ जाता है। अति स्वेद, त्वचा की अधिक आर्द्धता, तापमान वृद्धि, हृद्रव, हृत्कम्प, अरति, चेष्टावृद्धि आदि (इलेष्मक्षय जनित) वातपित्त प्रकोप के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।^{५३}

मेद की अन्तिम गति

मेदोग्नि को क्रिया एवं उसकी मन्दता, समता, तीक्ष्णता से उत्पन्न परिणामों पर एक दृष्टि डालने के अनन्तर प्रसंगवश मेदोधातु की अन्तिम परि-

५१. बुद्ध या 'ईडियट'।

५२. 'आक्सिडेशन'।

५३. दि इफॉक्ट आफ दि थायरॉयड हार्मोन अपांन टिश्यू जाक्सिडेशन सोम्स

दु बी दि मोस्ट स्पेसिफिक ऑफ इट्स एक्शन्स। मोस्ट टिश्यू सेल्स रिस्पोण्ड

दु थायरॉक्सिन बाई एन्ड इन्ट्रोजेड यूटिलाइजेशन ऑफ ऑक्सिजन।

(दब्ल्यू० टी०, अध्याय ३१, पृष्ठ १२७४)

णति या अन्तगति पर तथा उससे उत्पन्न मलों पर विचार कर लेना उचित है।

यह प्रथम कहा जा चुका है कि मेदधातु देहगत स्नेहों का ही एक रूपान्तर है। स्नेह यद्यपि अनेक धातु-उपधातुओं में परिणत होता है और प्रत्येक धातुघट के निर्माण के लिए अपेक्षित है, पर अन्त में यह — आप्य होते हुए भी — पार्थिव द्रव्यों के समान — देह के लिए अपने आपको समर्पित करता है और अपनी आहुति दे देता है।

यज्ञों में घृतरूप 'स्नेह' की आहुति प्रसिद्ध है। उसी प्रकार हमारे द्वारा सेवन किए गये स्नेह भी, जीवनयज्ञ की देहाग्नि में, अपनी आहुति देते हैं तथा आत्मार्पण करते हैं। यह आहुति, धातु-उपधातुओं के घटों के भीतर स्थित 'स्नेह' की भी होती है और उसके चुक जाने पर मेदो धातु का स्नेह भी काम आता है।

सामान्यतः धात्वग्निपाक की क्रिया में पार्थिव^{५५} द्रव्यों का इन्धन पड़कर ज्वलन हुआ करता है। जिन अवस्थाओं में उक्त पार्थिव द्रव्य अप्राप्य या अपर्याप्त हो जाते हैं, तब 'स्नेह' भी जलकर उक्त इन्धन की कमी को पूरा करता है।

सेवन किए गये स्नेहों का महास्रोतस् में पाचकाग्नि से पचन (अर्थात् उद्विच्छेदन और विभजन) होकर, ये पच्यमानाशय से देह के भीतर उपशोषित होते हैं। पच्यमानाशय की पित्तधराकला में आकर और भूताग्निपाक होकर, ये देहजातीय स्नेह में परिणत होते हैं, यकृत् में भी भूताग्निपाक होता है, वह भी इन्हें देहजातीय स्नेह में परिणत करता है।

देहजातीय स्नेह, विविध धात्वग्नियों (धातुपाचन + ऊर्ध्वा) की क्रियाओं से, 'धातुजातीय स्नेह' में बदलता है और रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थिमज्जा, चुक रूप धातुओं तथा स्तन्य, आर्तव, त्वचा; स्नायु, कण्डरा (स्थूल स्नायु), सिरा, वसा रूप उपधातुओं के भीतर रहने वाले स्नेहांश के रूप में भी चला जाता है।

धातु उपधातुओं को पहुँचने वाला स्नेह, इनका अपना अंश भी बनता है, और आवश्यकता हो तो — ज्वलन के काम भी आता है।

वाह्य जगत् में जिस प्रकार स्नेह, घृत एवं तेल के रूप में हमारा 'आहार' बनता है, मालिश मर्दन के काम आता है और अवशिष्ट हो तो दीपक में

जलाने के काम में लिया जाता है; उसी प्रकार देहधातु, स्नेह के विविध उपयोग करते हैं। ये इसे खाते हैं, मांस, सन्धि आदि में स्नेहन के काम लाते हैं, और इन्धन के न^{५५} मिलने पर इसे ज्वलन के कार्य में ले आते हैं।

वाह्य जगत् में स्नेह के ज्वलन के समय 'ताप' उत्पन्न हुआ करता है, इस ताप को शक्ति-रूप में बदल लिया जाता है, जिससे विविध यन्त्रों में गति उत्पन्न की जाती है। स्नेह को जलाकर 'प्रकाश' तो उत्पन्न किया ही जाता है।

स्नेह के लगभग इसी प्रकार के उपयोग, हमारा प्राणान्निमय देह भी लेता है। यह प्राण के साहाय्य से—अग्नि द्वारा—इस स्नेह का 'दहन' करके, इससे उत्पन्न 'ताप' को ले लेता है, यह 'ताप' ही 'देहोष्मा' है। यह ऊष्मा—देहोत्तेजनारूप बल में या पित्तशक्ति^{५६} में बदलती रहती है।

स्नेहों का किंचित् अंश प्रकाश या शारीरिक 'तेज' का—नेत्र, नख, त्वचा आदि की कान्ति का—भी आविर्भाव करता है।

ऊपर स्नेहों के 'दहन' को बात कही गई है, इसे आज की वैज्ञानिक भाषा में 'ओषजनीकरण' कहा जाता है। ओषजनीकरण की इस प्रक्रिया में स्नेह का विच्छेदन होकर, इसके बनाने वाले मूलभौतिकों की—कज्जल, उद्जन, ओषजन की अणुशृंखलायें टूटती हैं और नई शृंखलायें बनती हैं। नवीन शृंखलाओं से एक ओर मलभूतवायु एवं जल की उत्पत्ति होती है—जो रुधिर में घुल-मिलकर वाहर निकलने के लिए प्राणवह स्रोतसों (फुफ्फुसों) की ओर चले जाते हैं, दूसरी ओर इस विघटन तथा नवीन संघटन (दोषधातु मल सम्मूच्छ्वन्त)^{५७} के समय 'ऊष्मा' की विशेष रूप से उत्पत्ति होती है, यह ऊष्मा ही उत्तेजना (या स्फूर्ति) रूपी ऊर्जा अथवा 'शक्ति' में बदलती रहती है।

उपर्युक्त प्रकार से 'दहन' होकर ऊर्जा या शक्ति में बदल जाना, यही स्नेहों की अन्तिम परिणति है। स्मरण रहे कि देह में पार्थिव द्रव्य रूपी इन्धन की अपेक्षा स्नेह के इस इन्धन के ज्वलन से द्विगुणशक्ति उत्पन्न हुआ करती है।

देह में उक्त स्नेह के दहन से जितने स्नेह का क्षय होता है, उसकी पूर्ति,

५५. कार्बोहाइड्रेट्स और प्रोटीन के अभाव में।

५६. 'थर्मल इनर्जी'। इस पित्तशक्ति को आयुर्वेद में 'आग्नेय बल' कहा गया है।

'अग्निमूलं बलं पुंसाम्'।

५७. 'दोषधातु मल सन्निपातजनितोऽन्तः ऊष्मा—'

दैनिक भोजनों में अतिरिक्त स्नेहद्रव्यों के सेवन से कर ली जाती है। परिश्रमी व्यक्ति इसी से स्नेहों का सेवन अधिक करते हैं। पहलवानों या व्यायामशील व्यक्तियों के शरीर में स्नेहों का यह दहन, इस दहन से विशेष तापोत्पत्ति, ताप से प्रबल ऊर्जा या शक्ति का उत्पादन, ऐसे व्यक्तियों द्वारा अधिक स्नेहों का सेवन, —ये सभी बातें उक्त वैज्ञानिक तथ्यों के प्रकाश में शृंखलावद्वा होकर स्पष्ट समझ में आती हैं।

प्रथम कहा जा चुका है कि 'मेदस्' के रूप में प्रायः वे ही स्नेह देह में संचित हुआ करते हैं, जो देह के उपयोग से बच रहते हों या जिनका दहन सुगमता से न हो पाता हो। जिन स्नेहों की रचना जटिल होती है वे भी 'मेद' के रूप में आकर संचित हो जाया करते हैं।

व्यायामशील लोगों या सैनिकों, योद्धाओं आदि के देह में अग्नि की प्रबलता होने से सामान्य मृदु प्रकृति के स्नेहों के साथ-साथ कठोर प्रकृति के और जटिल रचना वाले स्नेहों का भी दहन होता रहता है, इस कारण उनमें मेद या चर्बी संचित नहीं हो पाती।

परन्तु 'देहप्रकृति' सामान्यतः सभी मानवशरीरों में ऐसे स्नेहों को पर्याप्त मात्रा में बचाये रखती है, जो आकस्मिक आवश्यकता के आ पड़ने पर काम दे सकें। इस प्रकार के स्नेह मांसगत वसा एवं मेदोधराकला आदि के स्वाभाविक कोषों के रूप में संचित रहा करते हैं। यकृत् भी स्नेहों का एक कोष है। यह स्नेह को विभिन्न रूप देकर उन्हें अपने भीतर संचित कर लेता है।^{५८}

अब तक के विवेचन से स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों हमारी शक्ति का व्यय (व्यायाम, पदयात्रा, खेलकूद, दौड़भाग, मल्लयुद्ध, जलसंतरण, अश्वारोहण, मृगया आदि के द्वारा) अधिक होगा, त्यों-त्यों सेवन किए गये स्नेहों का पचन होकर उनका दहन या ओषजनीकरण शीघ्र होता जायगा।

यदि शक्ति का व्यय न हो, या बहुत ही कम हो (यथा—अव्यायाम, सुखासन, अतिनिद्रा, अचिन्तन, आलस्य आदि में) तो स्नेह-कोषों में स्नेहों का संचय अधिकाधिक होने लगेगा। ऐसे समय तो सामान्य दैनिक भोजन के साथ आने वाले सुपच और मृदु स्नेहों का भी दहन या ओषजनीकरण नहीं हो पाता और वे संचित हो-होकर मेदोवृद्धि हो करने लगते हैं।

५८. यकृत् के भीतर बने रहने वाले स्नेहों में से कुछ स्नेह-वसा (न्यूट्रल फैट) के रूप में, कुछ स्फुरीय स्नेह (फॉस्फोलाइफिड्स) के रूप में और कुछ अंश उपस्नेह (कोलस्टिरोल) के रूप में होते हैं।

पाया यह गया है कि जिन व्यक्तियों में स्नेह, पच्यमानाशय से उपशोषित होने के उपरान्त हृदय में और वहाँ से सीधे रस रक्त में जा मिलते हैं, वे एक बार तो 'मेद' के रूप में परिणत हो ही जाते हैं।

स्नेहपचन के प्रसंग में यह कहा जा चुका है कि स्नेहद्रव्य पचकर अन्नरस के साथ-साथ हृदय और यकृत् की ओर चले जाते हैं। वहाँ से, धातु उपधातुओं में धात्वग्निपाक की क्रिया से दहनकर्म कराने और ऊज्ज्वला एवं ऊर्जा की उत्पत्ति कराने के प्रयोजन से, व्यान द्वारा, देह में इत्स्ततः भेजे जाते हैं।

परन्तु परीक्षणों द्वारा जाना गया है कि स्नेहों के अणु जब तक सचेष्ट या सक्रिय न बना दिये जावें, तब तक इनका दहन या ओषजनीकरण नहीं हो पाता।

इन्हें सक्रिय बनाने की इस प्रक्रिया के समय, स्नेहाम्लों का एक अंश—'कज्जलोष्मिल खण्ड'^{५९} प्रमुख रूप में काम आता है। इसी को सचेष्ट या सक्रिय बनाना होता है। इसे सक्रिय बनाने के लिए पर्याप्त शक्ति अपेक्षित होती है; और हमारे देह में इस शक्ति के स्रोत वे वाताग्निवर्गीय^{६०} द्रव्य हैं, जो सूक्ष्म (अणुरूप) होते हुए भी क्रमशः प्रेरक^{६१} और उद्दीपक^{६२} होते हैं। ये दोनों अणुद्रव्य शक्ति के संचित कोष हैं, और स्थानीय धातुघटों के भीतर विद्यमान रहा करते हैं। इन्हीं से 'कज्जलोष्मिल खण्ड' को शक्ति एवं प्रेरणा प्राप्त होती है, जिससे वह सक्रिय बनता है। सक्रिय होकर यह अपने स्नेहाम्ल को एक उद्दीपक द्रव्य (अर्वाचीन वैज्ञानिक नाम—'को एन्जाइम-ए') के साथ संयुक्त कर लेता है। इस प्रक्रिया में उद्भव के दो अणु पृथक् हो जाते हैं। उधर, 'कज्जलोष्मिल खण्ड' को शक्ति प्रदान करते समय, 'प्रेरक द्रव्य' (एडीनोसाइट ट्राइफोस्फेट) स्वयं क्षीण होकर 'अम्ल विशेष'^{६३} में बदल जाता है।

५९. वैज्ञानिक नाम—'कार्बोविसल ग्रुप'।

६०. इन द्रव्यों को 'प्रेरक' विशेषता के कारण इन्हें 'वात धर्मा' और रसायन गुण के कारण 'अग्नि धर्मा' माना जा सकता है।

६१. इस प्रेरक प्रकृति के द्रव्य को अर्वाचीन वैज्ञानिक भाषा में 'एडीनोसाइट ट्राइफोस्फेट' नाम दिया गया है। हिन्दी नाम—'कोषिन त्रिस्फुरेत'

६२. इसका अर्वाचीन वैज्ञानिक नाम—'को एन्जाइम-ए' है। हिन्दी नाम—'सहविकर-अ'

यह क्योंकि अपने 'प्रेरक द्रव्य' को उत्तेजना देकर उसको सहायता करता है। अतः इसे 'उद्दीपक' कहा गया है।

६३. अर्वाचीन वैज्ञानिक नाम—'एडेनायलिक एसिड'

यही प्रक्रिया बारम्बार होती है और हर बार स्नेहाम्ल से उद्जन के दो अणु पृथक् होते चलते हैं, प्रत्येक बार में नया उद्दीपक द्रव्य सहयोग देता रहता है।

अब एक अन्य वातवर्गीय अणुद्रव्य स्नेहधटों से निकलता है, इसे 'प्रेरक-२'^{६४} नाम दिया जाता है। यह अणुद्रव्य 'कज्जलोष्मिल खण्ड' का विघटन करता है। विघटन के परिणाम-स्वरूप उससे कज्जल के दो अणु पृथक् होते और उद्दीपक (को एन्जाइम-ए) के साथ संयुक्त हो जाते हैं। इस संयोग से एक नया इन्धन^{६५} द्रव्य बनता है, जिसका विघटन होकर जल^{६६} एवं कज्जल द्विओषिद् या अंगाराम्ल नामक वायु की उत्पत्ति होती है।

इस रासायनिक प्रक्रिया या अग्नि-कर्म के समय स्नेहाम्लों का विच्छेदन होकर उनसे कज्जल का द्वयणुक (क २) पृथक् होता है। अवशिष्ट स्नेहाम्ल के यौगिक के साथ उद्विच्छेदी^{६७} (वातवर्गीय) अणुद्रव्य आकर मिलता है, जिससे उद्भजन के दो अणु (उ २) पृथक् होते हैं। तत्काल ही 'प्रेरक-३' आता है, यह पुनः कज्जल के द्वयणुक को पृथक् करता है। इसी समय नवीन इन्धन द्रव्य (चुकाइल सहविकर-अ)^{६८} की उत्पत्ति होती है, इसका दहन या ओषजनीकरण होकर वायु एवं जल बनते हैं।

६४. अर्वाचीन वैज्ञानिक नाम—'थियोलेज'

६५. अर्वाचीन वैज्ञानिक नाम—'एसिटाइल को एन्जाइम-ए'। हिन्दी नाम—'चुकाइल सहविकर-अ'

६६. वैज्ञानिक सूत्र—उ२ ओ (H_2O)=जल।

६७. वैज्ञानिक सूत्र—क ओ२ (CO_2)=कज्जल द्विओषिद् वायु (कार्बन डाइआक्साइड)

६८. अर्वाचीन वैज्ञानिक नाम—'इड्रोलिटिक एन्जाइम'

६९. 'चुकाइल सहविकर-अ' (एसिटाइल को एन्जाइम-ए) का निर्माण करने वाले पाचनांश समस्त देहके घटों (सेलों) के भीतर बनते और विद्यमान रहते हैं, पर इनका विशेष निर्माण यकृत् में हुआ करता है, वहाँ से ये धातु उपधातुओं को पहुँच जाते हैं। आवश्यकता पड़ने पर यकृत् इनका निर्माण अधिक संख्या में भी करने लगता है।

स्मरण रहे कि उक्त पाचनांश रूप इन्धनद्रव्य हीं अनेक स्नेह जन्य मलों और अमद्रव्यों के ज्वलन के समय भी बनता है, तभी उनका दहन (ओषजनीकरण) हो पाता है। बल्कि, पर्यावरण के मांसजातीय द्रव्य

उक्त प्रकार से धातु-उपधातुओं के भीतर, विच्छिन्न होकर, अन्त में जल एवं वायु में परिणत होते जाना ही 'स्नेह' की अन्तिम गति है।

जिन स्नेहों का हम सेवन करते हैं, उनमें से आप्य प्रकृति के अथवा मृदु स्नेह^१ तो सहज में ही उक्त प्रकार से विच्छिन्न हो-होकर दग्ध होते रहते हैं। परन्तु पार्थिव और वायव्य प्रकृति के, अतएव गुरु एवं कठोर स्नेह^२ जो प्रायः मेदोधातु के रूप में संचित हो जाया करते हैं, उनका सरलता से विच्छेदन और दहन नहीं होता। ये प्रायः विशेष आवश्यकता पड़ने पर या आड़े समय में जब देह को स्नेह द्रव्य न मिल रहे हों और पार्थिव द्रव्य (शक्करा तथा प्रोटीन) भी सुलभ न हो पाते हों^३ तब काम आते हैं।

ऐसे समय मेद के रूप में संचित स्नेह—जो प्रायः कठोर प्रकृति के हुआ करते हैं—उन्हें व्यान वात, उनके मेदःस्थानों से निकाल-निकालकर रक्त प्रवाह में भेजने लगता है और यकृत् रूपी यन्त्रागार (वर्कशाप) में पहुंचाता है। यहाँ यकृत् अपने स्नेहपाचनांश^४ से इनका उद्विच्छेदन^५ करके, इन्हें कठोर से मृदु प्रकृति^६ का बनाता है, और स्नेहाम्ल एवं मधुरोल में विभक्त कर-करके ज्वलन के योग्य वना देता है। इसके उपरान्त व्यानवात द्वारा प्रेरित होकर ये धातुघटों को पहुंचते हैं, जहाँ इनका पूर्वोक्त विधि से दहन (ओषजनीकरण) होने लगता है।

इस प्रकार अन्यान्य स्नेहों के साथ-साथ 'मेद' धातु का भी दहन होता आरम्भ हो जाता है और इसकी भी 'देहाम्लि' में 'आहुति' पड़ने लगती है।

स्मरण रहे कि स्नेह मात्र के (मेदोधातु के भी) इस दहन (ओषजनीकरण) की प्रक्रिया में अर्थात् मेद के धात्वग्निपाक के समय 'मेदोग्नि रूप' 'त्रुलिङ्कास्वाव' वाताम्लिनधर्म होने से महत्वपूर्ण कार्य करता है। इसकी उप-

अस्त्रजन (या प्रोटीन) के ज्वलन के समय भी उक्त इन्धनद्रव्य बन-बनकर दग्ध (ओषजनेभूत) होता रहता है, और ऊर्जा या शक्ति को उत्पन्न करने के साथ-साथ जल एवं वायु को उत्पत्ति करता रहता है।

७०. अतन्त स्नेहाम्लों से युक्त स्नेह।
७१. संपृत् और अतितृप्त स्नेहाम्लों से युक्त स्नेह।
७२. जब आहार में स्नेहद्रव्य न मिल रहे हों तब तजीब शरीर, शक्करा और नत्रजन रहित प्रोटीनों से भी 'स्नेह' तैयार करने लगता है।
७३. अर्वाचीन वैज्ञानिक नाम—'लायपेज'।
७४. इनमें से उद्जन के अगुओं को पृथक् कर-करके।
७५. अतितृप्त या संतृप्त स्नेहाम्ल से अतृप्त स्नेहाम्ल में परिवर्तित कर देता है।

स्थिति में धातुघट, अपने दहन के लिए, ओषजन नामक वायुद्रव्य को अधिकाधिक ग्रहण करने लगते हैं, और शीघ्रतापूर्वक दग्ध होते हैं।^{७५}

मेदोजनित किट्ट

उक्त दहन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले जल एवं वायु, रुधिर-प्रवाह में धूल-मिल जाते हैं और रुधिर के साथ-साथ परिभ्रमण करने लगते हैं। रुधिर जब चुद्ध होने के लिए प्राणवह स्रोतसोंमें (फुफ्फुसोंमें) पहुँचता है, तब इस 'अतिरिक्त' अतएव 'मलरूप' वायु को त्याग देता है और इसके स्थान पर 'अम्बर पीयूष'^{७६} से युक्त प्राणद्रव्य (चुद्ध वायु) को ग्रहण कर लेता है।

उक्त रुधिर, परिभ्रमण करता हुआ त्वचा के मूल में स्थित स्वेदवह स्रोतसों और स्वेद ग्रन्थियों तक भी पहुँचता है। ये स्रोतस् रुधिर में से उस अनावश्यक अतएव मलरूप जल भाग को ले लेते हैं, और वाहर त्वचा के ऊपर निकाल फेंकते हैं। यही 'स्वेद' है, जिसे आयुर्वेद में मेदोधातु का मल^{७७} कहा गया है।

स्वेद उक्त प्रकार से, मेदधातु के मलरूप में तो उत्पन्न होता ही है, परन्तु जो जल हम पीते हैं या ग्रीष्मकाल आदि में अधिक पियें, तो उससे भी स्वेद की विशेष उत्पत्ति हुआ करती है।^{७८}

७६ 'दि एकेक्ट आँफ 'थायरायड् हार्मोन' अपांन ट्रिश्यु आँक्सीडेशन सीम्स टु बो दि मोस्ट स्पैलिफिक आँफ इट्स एक्शन्स। मोस्ट ट्रिश्यु सॅल्स रेरपॉण्ड टु थायराविसन बह एन इन्क्रीज्ड थूटिलाइजेशन आफ आविसज्जन।

(डब्ल्यू० टो० द्वारा प्रणाली वायोकेमिस्ट्रो, अध्याय ३१, पृष्ठ १२७४)

७७ अवचिन्न वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत 'आविसज्जन'—(हिन्दी नाम 'ओषजन') के लिए आर्य चिकित्सा शास्त्र में प्रयुक्त प्राचीन संज्ञा।

'नाभिस्थः पवनः प्राणः स्पृष्ट्वा हृत्कमलात्तरम्।

कष्ठाद् वहिः विनियाति पातुं विष्णुपदामृतम् ॥

पोत्वा चाम्वरपर्यूषं पुनरायाति वेगतःः।

प्रोणयन् देहमखिलं जीवयन् जठरानलम् ॥

(शार्णघर पू० ५, अ० ६)

७८ '...मलः स्वेदस्तु मेदतः।' (च० च० अ० १५-१९)

७९ 'स्वेदो यद्यपि उदकविशेष एवं उक्तः, तथापि तस्य मेदोमलत्वेन एव उत्पत्तिः, कि वा उदकात् अपि स्वेदः भवति मेदोजलतया च भवति।'

(चक्रपाणिदत्त)

अस्थगिनि

‘अस्थगिनि’ से अस्थिधातुगत ‘पित्तोष्मा’ अभिप्रेत है। इस ऊष्मा के स्वरूप आदि पर आगे विचार किया गया है।

अस्थि

अस्थि शब्द से सामान्यतः श्वेत, गुरु, स्थूल, कठोर एवं विविध आकृति के उन ठोस शारीरिक^१ अवयवों का वोध होता है, जिन्हें साधारण बोलचाल में हड्डियाँ कहा जाता है और जिनके बने हुए ढाँचे या ‘अस्थि कंकाल’ के आधार पर हमारा यह देह स्थिर है। इन हड्डियों या अस्थियों के भीतर स्नेहमय पदार्थ के रूप में ‘मज्जा’ भरी होती है। हड्डियों के योग से सन्धियाँ बनती हैं और हड्डियों के ही संयोग से बने हुए खोखले कोटरों या पिजरों के भीतर अनेक मम्म सुरक्षित रखे रहते हैं।^२

सन्धिवन्धनों से युक्त अस्थि-कंकाल की विविध अस्थियों का अवलम्बन सहारा लेकर इनके ऊपर मांसपेशियाँ चिपकी होती हैं। स्नायु सिरायें इन पेशियों के साथ-साथ लिपटकर, अस्थियों के ऊपर इन्हें बांधे रखती हैं, जिससे ये मांसपेशियाँ गिरने से बचती हैं और शीर्ण-विशीर्ण या जज्जर नहीं होने पातीं।

अस्थिकंकाल शरीराकृति को स्थिर रखता है और संधियों की गति के लिए आधार प्रस्तुत करता है।

१. ‘अस्थीनि देहे स्थूलानि स्थिराणि कठिनानि च।’

(शा० त० द० ५-३६)

२. उदाहरणार्थ—शिर की कपालास्थियों के भीतर चिदारेन्द्रिय (मत्तिष्ठ) तथा ज्ञानेन्द्रियों के केन्द्र (था अन्तःकरण) सुरक्षित रहते हैं। वक्षोस्थि पर्शुकाओं और मेरुदण्ड के मेल से बने हुए ‘उरःपंजर’ के भीतर हृदय-द्वलोन-फुफ्फुस-यकृत्-प्लीहा आदि रखे रहते हैं। इसी प्रकार पृष्ठवंश या मेरुदण्ड के खोल के भीतर सुषुम्ना सुरक्षित रूप में स्थित होती है।

अस्थियों का ही एक अन्य रूप दन्त या दाँत है। दाँतों के रूप में अस्थियाँ चबाने का कार्य सम्पन्न करती हैं और मुखाकृति को भी स्वाभाविक रूप प्रदान किए रखती हैं।

अस्थियाँ कठोर होने के साथ-साथ स्थिर या स्थायी भी होती हैं। वहूधा देखा गया है कि मानवदेह के रक्त, मांस, त्वचा, स्नायु आदि क्षीण होकर—वह दुबला पतला पड़ जाता है, किर भी उसकी हड्डियाँ पोढ़ी होती हैं और साधारण अवस्था में देर तक ऐसी ही बनी रहती हैं। इस प्रकार इन्हें देह का तत्त्व भाग या देहसार समझा जाता है।^१

वृक्षों में जिस प्रकार उनका अन्तःकाष्ठ या काष्ठसार होता है, उसी प्रकार मानव-शरीरों के भीतर तत्त्वभाग या सार के रूप में अस्थियाँ होती हैं। वृक्ष और अस्थियुक्त प्राणी, दोनों के देह, इस सारभाग पर अवलम्बित हैं।^२

अस्थियाँ और उनका उपादान

अस्थियाँ स्वयं तो देहसार हैं ही, परन्तु इनका भी एक सार भाग है, जिन्हें

३. तस्माच्चिरं विनष्टेषु त्वड्मांसेषु शरीरिणाम् ।

अस्थीनि न विनश्यन्ति साराण्येतानि देहिनाम् ।

(सु० शा० अ० ५)

४. अभ्यन्तरगतैः सारैः यथा तिष्ठन्ति भूरुहाः ।

अस्थिसारस्तथा देहा घ्रियन्ते देहिनो ध्रुवम् ।

(सु० शा० अ० ५)

X

X

X

देहसार रूप अस्थियाँ, क्रिया-शारीर की दृष्टि से, 'वात' का मुख्य आवार या आश्रय स्थल हैं। इसी कारण—जैसा कि हम आगे पढ़ेगे—इनके भीतर—वहुसंख्यक क्रियशील घटों के नानाविधि क्रिया-कलाप सम्पन्न होते रहते हैं।

इस देहसार के भीतरीं भाग में मज्जाधातु सन्निविष्ट है, जिसमें से उत्कान्त होकर शुक्रधातु बनता है। मज्जा और शुक्र ये दोनों 'श्लेष्मा' के आश्रय-स्थल हैं। मज्जा के लोहितवर्ण भाग या 'लोहितमज्जा' भीतर 'पित्त' के आश्रयभूत 'लोहिताणु' और श्लेष्मा के आश्रयभूत 'इवेताणु' जन्म लेते हैं। इस प्रकार अस्थि धातु, वात, पित्त, श्लेष्मा इन तीनों देहधारक तत्वों का एक मुख्य आवार और नानाविधि क्रिया व्यापारों का केन्द्र है।

'अस्थिघट' कहते हैं। अस्थिघट अस्थियों का क्रियाशील अंश है। दूसरा भाग वह उपादान द्रव्य है, जिसके निक्षिप्त और संचित होते रहने से अस्थियों का स्थूल रूप बनता है।

अस्थि का उक्त उपादान मुख्यतः सुधा या खटिका नामक खनिज से निर्मित होता है। यह खटिका या सुधा वास्तव में ही देह के लिए सुधारूप या अमृत-तुल्य है। इसके अभाव में अस्थि नहीं बन सकती और रस, रक्त, मांस, पेशी, स्नायु, हृदय, यकृत् आदि कोई अवयव—छोटे से छोटा देहाणु तक—नहीं बन सकता, इसकी न्यूनता से ये सब अस्वस्थ हो जाते हैं। समस्त देहतन्त्रओं के निर्माण एवं स्वस्थता के लिए उक्त खटिका नितान्त आवश्यक है। अस्तु,

अस्थियों के अनेक भेद हैं, यथा—त्रहणास्थि, अस्थि, दन्त। अस्थियों के सदृश गुरु, सघन, स्थिर, कठोर होने से नख भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत हैं।^५ इन सब पर, धातु-उपधातु-मल के प्रकरण में विस्तार से विचार हुआ है।

अस्थि का संघटन

प्रत्यक्ष में अस्थियों के उपरिस्तर पर एक कठोर अंश का वाहूल्य होता है। इस अंश के भीतर की ओर—सुषिर भागों में—अस्थि घट सुरक्षित रहते हैं, इनसे भी गहरे नलिका सदृश खोखले भागों में स्नेहमय मज्जा भरी होती है।

भौतिक संघटन की दृष्टि से 'अस्थि' पांचभौतिक है। पाँचों महाभूतों में भी वाहूल्य या अधिकता के कारण इन्हें 'पृथिवी-वायु अग्नि, प्रधान'^६ माना गया है, अन्य भूतों के अंश भी इसमें विद्यमान हैं।

सजीव देह की अस्थियों में स्थिरता, गुरुता (भार), मूर्ति (आकृति) एवं गन्ध गुण 'पार्थिव' हैं। रूक्षता, काठिन्य, व्यूहन या रचनावैशिष्ट्य और इनकी चेष्टामूलकता 'वायवोय' हैं। रूप, वर्ण, पंक्ति (धात्वगिनपाकरूपी अग्निकर्म) 'आग्नेय' हैं। मज्जारूपी स्नेह तथा जलीयांश 'आप्य' हैं। सुषिरता (सच्चिद्रता) और लघुता 'नाभस' हैं।

रासायनिक संघटन की दृष्टि से अस्थि में दो प्रकृतियों के द्रव्यों का संयोग

५. 'यद्यपि नरका विविध-अशित-मीतीये मलभागपोष्यत्वेन मल एव प्रक्षिप्तः, तथापि इह 'अस्थि'—रूपयोग्यताया अपि विद्यमानत्वात् अस्थिगणनायां पठिताः।' (च० शा० ७-६ पर चक्रवाणि)

६. 'अस्थि पृथिवी-अनिल-तेजसाम्।'

(सु० सू० १५-१० को टोका में डल्डन)

है—सेन्द्रिय और निरन्द्रिय। सेन्द्रिय द्रव्य एक तिहाई और निरन्द्रिय द्रव्य दो तिहाई के लगभग होते हैं।

सेन्द्रिय भाग में 'अस्थिशाखा' या आधारीय अंश प्रधान है। यह अस्थि के खाँचे के रूप में या अस्थिजालक के रूप में होता है। इस जालक के भीतर निरन्द्रिय द्रव्य भरे रहते हैं और इसे कठोर अस्थि का रूप प्रदान करते हैं।

निरन्द्रिय भाग में खटिका या खटिक (चूना) मुख्य है, यह यहाँ अनेक यौगिकों के रूप में होता है। खटिक के अतिरिक्त कुछ अंश में मग्न घातु भी इसमें रहता है।

मूल भौतिकों या भौतिक तत्वों की दृष्टि से समझना चाहें तो अस्थि घातु; खटिक, मग्न, स्फुर, कज्जल, हरिण, ओषजन, उद्जन की पारस्परिक समूच्छनाओं (रासायनिक सम्मिश्रणों) से निर्मित है।

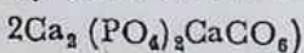
उपर्युक्त रासायनिक संघटन के द्रव्यों पर भौतिक दृष्टि से विचार करें तो अस्थि के निर्माणकारक यौगिकों में से सेन्द्रिय भाग (स्कलीरोप्रोटीन) पार्थिव है। निरन्द्रिय भाग (कैल्सियम के फॉस्फेट तथा कार्बोनेट) पृथ्वी-वायु—अग्निप्रधान है।

इसके मूल भौतिकों में खटिक (कैल्सियम घातु) पृथ्वी-वायुप्रधान है। स्फुर (फॉस्फोरस) आग्नेय है। कज्जल (कार्बन) पार्थिव है। मग्न (मेग्नीशियम) वायु—पृथिवीवहुल, हरिण (क्लोरीन) पृथिवी, अग्निवहुल, उद्जन

७. अर्वाचोन शरीर-रक्षना-शास्त्र में इसे 'बोन मेंट्रिक्स' नाम दिया गया है। यह 'स्कलीरो प्रोटीन' नामक द्रव्य का बना होता है, जो पार्थिव प्रकृति का मांसजातीय द्रव्य है।

८. खटिक के यौगिकों में 'खटिक स्फुरेत' (कैल्सियम फ़ास्फेट) मुख्य है, यह अस्थि का १० प्रतिशत भाग है, शेष १० प्रतिशत में—खटिक कज्जलेत (कैल्सियम कार्बोनेट) और मग्नस्फुरेत (मेग्नीशियम फ़ास्फेट) होते हैं। अल्पांश में खटिक हरिद (कैल्सियम एलोराइड) और खटिक प्लिविड (कैल्सियम एलोराइड) भी पाये जाते हैं।

अस्थि को संग्रहत्वारकी तरह इवेत-चिकना-कठोर रूप जो यौगिक प्रदान करता है, वह खटिक-स्फुरेत और खटिक-कज्जलेत का सम्मिश्रित यौगिक है, इसका रासायनिक सूत्र निम्न प्रकार है :—



९. 'मेग्नीशियम'।

(हाइड्रोजन) वायु-अग्निवहन और ओपजन (ऑविसजन) आगे आगे है।

अस्थि का प्रारम्भ

किया-शारीर की हिट से यह स्मरणीय है कि अस्थि के निर्माण का आरम्भ, गर्भ-शिशु के देह में, द्वितीय मास से ही हो जाता है। वायु महाभूत, अस्थि के उपादानस्वरूप पार्थिव और आप्य द्रव्यों को, अस्थि-स्थलों की ओर प्रेरित करता है। अग्नि, उनका पचन और रूप-परिवर्तन करता है। वायु उन्हें भावी आकृति के अनुकूल यथास्थान सञ्जिविष्ट करता हुआ काठिन्य प्रदान करता है। अप तत्व से पार्थिवकण परस्पर संश्लिष्ट किये जाते हैं। आकाश की विद्यमानता से उन्हें आवश्यकतानुसार सच्चिद्रता (सुषिरता) प्राप्त होती है। जैसा कि प्रथम कहा गया है—अस्थियों का सारभूत अंश वायवीय प्रकृति के वे 'अस्थिघट' हैं, जो इन अस्थियों के सुषिर भागों में यत्र-तत्र सञ्जिविष्ट हो जाते हैं।

जीवन-दशा में, अन्य धातुओं के सदृश अस्थि धातु में भी, इन घटों से, सर्जन और संहार के कर्म होते रहते हैं। जिनके कारण परिणाम रूप से अस्थियों के नवीन कण संघटित होते और नीर्ण कण विघटित होते हैं। इस प्रकार रूप-परिवर्तन करती हुई, वे नित्य नवीन बनी रहती हैं। प्रकृत दशा में, इन दोनों कियाओं का परस्पर तारतम्य बना रहता है, जिससे अस्थियाँ प्रतिदिन यथावत् स्थिर प्रतीत हुआ करती हैं।

अस्थि के उपादान द्रव्य : उनका पचन : उपशोषण

हमारे सजीव देह को मूर्तरूप (आकृति) प्रदान करने वाले सभी 'धातु-उपधातु' हैं, इनमें अस्थि प्रधान है।

अन्य धातुओं के सदृश अस्थि भी अपने कणों का व्यूह अर्थात् संघात है। प्राणवान् देह की तरह इस अस्थिसंघात में कणोत्पादन और कण-संहार दोनों कर्म एक साथ चलते रहते हैं। ऐसा निरन्तर होता है। इस कर्म-सातत्य में अर्थात् निरन्तर साथ-साथ होते रहने वाली किया में, धातुओं का उत्कान्ति कर्म (प्रसाद भाग या उत्कृष्टतर अंश के निर्माण का क्रम) भी जारी रहता है। अस्थि से पूर्व की धातु 'मेद' में विद्यमान अग्नि-मेदोग्नि की पाक-प्रक्रिया के प्रसंग में हम जान चुके हैं कि देह में जहाँ, मेद धातु का निर्माण और संचय होता है, वहाँ इसका एक ऐसा अंश भी

निर्मित हो रहा होता है, जो अस्थि धातु की भूमिका प्रस्तुत करता है। यह मेद धातु का 'प्रसादांश' है और अस्थि के उदर में स्थित होने से अस्थि का एक अंश है। यह द्रव्य वहाँ-वहाँ पहुँचता है, जहाँ-जहाँ अस्थि धातु का निर्माण हो रहा होता है।^{१०} अस्थिनिर्माणकारक यह अंश तथा अन्यान्य सब अंश, रस में लीन होकर रहते हैं और यथासमय अस्थि का बंग बनते जाते हैं।

अस्थि धातु, जैसा कि हमें ज्ञात है, मूर्ति (आकृतियुक्त) और कठोर धातु है, पर अन्य धातुओं के सदृश इसका निर्माण भी द्रवरूप आहाररस से होता है, अर्थात् रस में अस्थि धातु, द्रवरूप में, विलीन होकर रहता है। अस्थि धातु पार्थिव होते हुए भी रस में जाकर स्वभावतः अणुरूप और अपोमय हो जाता है; अर्थात् जलविलेय बनकर रहता है। यह द्रवरूप 'अस्थि' वस्तुतः अस्थि का 'उपादान' है। इस उपादान से सर्वप्रथम वह सूक्ष्म इकाई बनती है; जिसे अस्थि अणु, अस्थिघट या अस्थिकोशा कहते हैं। अस्थिघट बहुसंख्यक होते हैं। ये घट अग्नि वायु की सहायता से उन अस्थिकणों या अस्थिघटकों का निर्माण करते हैं, जो संचित हो-होकर नानाकृति अस्थियों में परिणत होते जाते हैं। सिर, कपाल आदि की अस्थियाँ इन्हीं से बनती हैं।^{११}

यह सर्वविदित है कि देह का पोषक 'रस' हमारे अन्न-पान से प्रस्तुत होता है। अतः अस्थि के निर्माण के लिए उपादानभूत द्रव्य भी स्वतः खाद्य ऐप आदि पदार्थों के माध्यम से हमें प्राप्त होते हैं।

अस्थि के भौतिक एवं रासायनिक संघटन पर ध्यान देने से विदित होगा कि अस्थि के निर्माण में पार्थिव उपादान मुख्य है, अग्नि-वायवीय द्रव्य इसके सहायक होते हैं। पार्थिव उपादानों में एक विशिष्ट वस्तु अन्नजन^{१२} है, और दूसरा खटिक या चूना,^{१३} इनका पहिले उल्लेख हो चुका है। खटिक

१०. इसका, अस्थिमध्यवर्ती 'सरक्त मेदस्' और 'पोतमेदस्' के नाम से यथास्थान विचार हुआ है।

११. अस्थीन्यनेकरूपाग्नि कपालादीनि यानि च।

सूक्ष्मास्थिघटका एवं तडुपादानकारणम् ॥ (शा० त० द० ६-४४)

१२. इस विशिष्ट अन्नजन को पाश्चात्य किया-जारीर में 'स्त्रलीरोप्रोटोन' नाम दिया गया है।

१३. खटिक या चूना, अस्थि में, १० प्रतिशत रहता है। यह भूमि से उत्पन्न

या चूना का सइकारी 'स्फुर' या प्रस्फुरक नाम का आगेय द्रव्य है।

देहोपयोगी खटिक या चूना, अपने खाद्य पदार्थों के माध्यम से हमें नित्य प्रति प्राप्त होता रहता है। यह मुख्यतः दूध, पनीर, हरे शाक-सब्जी, फल, दालों आदि के भीतर से तथा अमिष द्रव्यों से मिलता है। इसके सूक्ष्म कण इन द्रव्यों में व्यस्त होकर रहते हैं और भोजन के साथ-साथ पचकर—अर्थात् रासायनिक क्रियाओं से रूप परिवर्तन करके और रस में विलीन होकर—देह के भीतर पहुँचते हैं। अचेतन द्रव्यों की अपेक्षा चेतन प्राणियों और वनस्पतियों से प्राप्त खटिक हमारे लिए सुपाच्य और सहज-सात्म्य होता है। इसको हमारे सभी देहावयवों को—हृदय, मस्तिष्क, यकृत, स्नायु आदि को, विशेषतः रस, रक्त, मांस, अस्थि को आवश्यकता रहा करती है।

यतः अस्थियों का निर्माण — गर्भस्थ शिशु में — दूसरे महीने से आरम्भ हो जाता है और गर्भ-शिशु को मातृरस से ही खटिक की प्राप्ति हो सकती है, अतः गर्भवती को खटिकायुक्त आहार का पहुँचना बहुत आवश्यक होता है।¹⁴ शिशु के देह में अस्थियाँ बनते समय इस खटिका की पुष्कल मात्रा अपेक्षित होती है। प्रसव के बाद स्तनपायी शिशु को मातृदुग्ध से या बाह्य गोदुग्ध आदि से भी खटिका प्रचुर मात्रा में मिलती रहनी आवश्यक है।

अन्नाहार लेने वाले व्यक्तियों में, आहार के माध्यम से प्राप्त खटिका, उनके

खनिज हैं, जो पावाणों के रूप में खानों से या पहड़ों से प्राप्त होता है। इसके पावाणों को अग्नि में दग्ध करके नित्य हंजारों-लाखों भन चूना बनाया जाता है, जो गृह निर्माण कार्य के अतिरिक्त पान, तमाखू आदि के साथ खाने में तथा औषधरूप से अन्तःसेवन एवं बाह्य प्रयोग—दोनों कायों में, लिया जाता है।

१४. यदि नर्भवती को सगभवित्या में, या बाद में प्रसूता को, पूर्ण पौरिटिक आहार पर्याप्त मात्रा में प्राप्त न हो और बाहर से आने वाली खटिका का पर्याप्त अंश न मिलता हो, तो उसके देह में अपचयमूलक वातविकृति होकर अस्थिक्षय होने लगता है। उस दशा में गर्भदती एवं प्रसूता के शरीर में अस्थिभंजक रीढ़घट (ऑस्टियोक्लास्ट) अधिक उत्पन्न हो जाते हैं, जो इनको हड्डियों में से खटिका का अंश छुड़ा-छुड़ा कर शिशु शरीर को पहुँचाने लगते हैं।

आमाशय में जाकर और अम्लीय पाचकपित्त से मिलकर जब अम्लीय बन जेती है, तभी यह ग्रहणी से उपशोषण के योग्य हो पाती है। आमाशय में आहार द्रव्यों का मन्थन भी होता है, अतः आहार के साथ-साथ 'अम्लीय मन्थ' के रूप में जब खटिका ग्रहणी के भीतर पहुँचती है, तब यहाँ पर समान-वात और अग्नि के सहयोग से इसका ग्रहण या उपशोषण आरम्भ हो जाता है, अर्थात् खटिका का उपशोषण हमारे अधो-आमाशय एवं पच्यमानाशय के आरम्भिक भाग में — पाचकपित्त और समान-वात की सहायता से होता है। यह उपशोषण कुछ-कुछ स्थूलान्त्र तक भी — तब तक — होता रह सकता है, जब तक अम्लीय पाचक-पित्त का सहयोग प्राप्त रहे। आमाशय में यह अम्लीयता देर तक बनी रहे, तो खटिका और उसके यौगिक^{१५} अधिक घुलनशील एवं उपशोषण योग्य बनते हैं। भोजन से एक धंटा पूर्व और खाली पेट सेवन किये जाने पर ये सदृज में पचते और उपशोषित होते हैं।

देह धातुओं की—अस्थि, मांस, रक्त, रस आदि की—आवश्यकता के अनुसार खटिका की न्यूनाधिक मात्रा देह के भीतर उपशोषित हुआ करती है। उपशोषित होने से वची हुई खटिका का अंश अन्त्रमल के साथ बाहर चला जाता है।^{१६} अस्तु,

खटिका, आहार द्रव्यों के विविध स्रोतों से, हमारे भीतर आती है; पर यह

१५. खटिका के मुख्य यौगिक खटिकस्फुरेत (कैलिशयम फॉस्फेट) और खटिक कञ्जलेत (कैलिशयम कार्बोनेट) हैं, ये अम्ल के सम्पर्क में यट्टिकचित् दिलेय (घुलनशील) हो जाते हैं।

१६. प्रायः देखा गया है कि प्रसूता स्त्री के देह में शोणितक्षय होकर वात—वृद्धि से—विषमाग्नि हो जाती है, या वातक्षय होकर मन्दाग्नि होने लगती है। तब अम्लीय पाचक पित्त का ह्रास होने से खटिका का उपशोषण नहीं हो पाता। उधर शिशु के प्रवर्धमान देह में अस्थिनिर्माण प्रक्रिया चल रही होती है और उसे खटिका को निरन्तर आवश्यकता बनी रहती है। यह खटिका-मन्दाग्नि एवं अजीर्ण होने से—आहार रस के साथ-साथ—मातृस्तन्त्र में नहीं पहुँचती, अतः प्रसूता के देह की अस्थियों से क्षरण हो-होकर (झड़-झड़कर) खटिका उसके शिशु को पहुँचने लगती है। उस दशा में प्रसूता की अस्थियाँ क्षोण होकर उसे प्रतिलोम क्षय हो जाने का भय रहता है। उपशोषण न होने से उसके मल में अजीर्ण खटिका की मात्रा बढ़ी हुई होती है।

यौगिकों या समासों के रूप में हमें प्रात होती है। देह की अस्थियों और दांतों में भी खटिका, यौगिकों के रूप में जमती है। इन यौगिकों में प्रस्फुरक या स्फुर^{१४} के साथ सम्मूळित खटिका के योग प्रमुख स्थान रखते हैं। अतः देह के लिए स्फुर भी अपेक्षित है।

स्फुर या प्रस्फुरक खनिज द्रव्य है और आग्नेय है। यह प्राणियों की अस्थियों से भी पृथक् किया जाता है। दूध, द्विदल धान्य (यथा—माप, मूँग, अरहर, मसूर, चना, मटर आदि) शाक, फल^{१५} (यथा सेव), तैलाक्तु गिरी (वादाम, पिस्ता, अखरोट आदि), तथा आमिष, मत्स्य, अण्ड, यकृत्-स्नेह, मज्जा आदि के माध्यम से यह देह को प्राप्त होता है। स्फुर की अत्यल्प मात्रा ही देह के लिए अपेक्षित है, परन्तु वह अनिवार्य रूप से आवश्यक होती है। बालक-शरीर को (जिसके भीतर उपचय क्रम प्रदल होता है) स्फुर की विशेष आवश्यकता पड़ती है। स्फुर भी, खटिका की तरह, हमें यौगिकों के रूप में ही प्राप्त होता है। स्फुर के सेन्द्रिय और निरस्निद्रिय वहुसंख्यक यौगिक^{१६} हमारे देह की धातु-उपधातुओं में रहते हैं, पर निरस्निद्रिय यौगिक^{१७} ही अस्थि-निर्माण में विशेष काम आते हैं। स्फुर के यौगिक वाहर से प्रायः निरस्निद्रिय स्फुरेतों के रूप में हमें मिलते हैं। खटिका के अतिरिक्त — लोह, मग्न, सोडियम, पोटाशियम आदि के यौगिकों के रूप में भी स्फुर हमें प्राप्त होता रहता है। इनमें से खटिक स्फुरेत, सोडियम स्फुरेत और पोटाशियम स्फुरेत प्रायः अपने इसी रूप में हमारे भीतर उपशोषित हो जाते हैं। उक्त सब धातुओं के और स्फुर के सम्मूळित, जिन निरस्निद्रिय यौगिकों का आहार रूप में सेवन किया जाता है, वे पचते हुए आहार के साथ-साथ क्रमशः पच्यमानाशय में पहुँचते हैं। यहाँ यदि वात और अग्नि समुचित रूप में हों — अर्थात् वाताग्निवर्गीय द्रव्य (यथा खाद्योज डो आदि) पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हों, तो आहारगत ये निरस्निद्रिय

१७. फॉस्फोरस ।

१८. अत्यधिक उबले हुए शाक-सब्जों तथा फलों में से प्रस्फुरक का अंश निकल जाया करता है।

१९. देहगत स्फुर के यौगिकों में निम्नलिखित यौगिक मुख्य हैं:—

फॉस्फोब्रोटीन, फॉस्फोलाइपिड, ग्लिस्टरोफॉस्फेट, कैल्सियम फॉस्फेट आदि।

२०. इनमें खटिक स्फुरेत (कैल्सियम फॉस्फेट) एवं मग्न स्फुरेत (मेर्नो-शियम फॉस्फेट) सर्वप्रधान हैं।

स्फुरेत, 'खटिक स्फुरेत' में परिवर्तित होते हैं और शीघ्र उपशोषित होने लगते हैं।

स्फुर के सेन्ट्रियू^{११} यौगिक भी आहार में आते हैं। ये जब पच्यमानाशय में पहुँचते हैं, तब अग्न्याशय और पच्यमानाशय के अग्निद्रव्यों या पाचनांशों की क्रिया से इनका पचन (उद्विच्छेदन अर्थात् उद्जन के अणुओं का पृथक्करण होने के रूप में) होता है और इस क्रिया से स्फुर का अंश अलग होकर यह हमारे भीतर उपशोषित हो जाता है।

इसकी चर्चा पहिले हो चुकी है कि खटिका का उपशोषण आमाशय के अम्लीय पाचकपित्त की विद्यमानता में अधिक होता है। परन्तु स्फुरेतों का या स्फुर का उपशोषण तब आरम्भ होता है, जब अग्न्याशय के क्षारीय स्राव से अम्ल उदासीन हो चुका हो और अग्न्याशय का कटुक्षारीय अग्नि प्रवल हो। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो खटिका के उपशोषण के लिए (पाचक) पित्त की उपस्थिति और स्फुर के उपशोषण के लिए (पाचक) अग्नि की उपस्थिति विशेष अनुकूल है।

यतः पित्त का अम्लीय द्रव्य आमाशय और पच्यमानाशय के प्रारम्भिक भाग तक प्रवल रहता है, इस कारण खटिका का उपशोषण इसी भाग में से हुआ करता है और अग्नि का क्षारीय द्रव्य यतः पच्यमानाशय से उसके अन्तिम भाग तक जाता है; इसलिए स्फुर का उपशोषण पच्यमानाशय के उसी भाग में से होता है।

स्वभावतः खटिका का उपशोषण पहिले और महास्रोतस् के आरम्भिक भाग में होता है, तथा स्फुर का उपशोषण बाद में और महास्रोतस् के मध्यभाग में होता है।

स्फुर के उपशोषण में अग्नि-वायवीय प्रकृति का द्रव्य 'खाद्योज - डी' विशेष सहायक है और वहां यह देखा गया है कि स्फुर का उपशोषण अधिक हुआ हो तो खटिका का उपशोषण भी अधिक होने लगता है। उक्त 'खाद्योज-डी' खटिका के उपशोषण में भी सहायक सिद्ध^{१२} होता है।

खटिका और स्फुर के सम्मूहित यौगिक 'खटिक स्फुरेत' के अतिरिक्त, इन

२१. यथा—फॉस्फोप्रोटीन और न्यूक्लियोप्रोटीन।

२२. 'खाद्योजडी' खटिका के अविलेय यौगिकों के बनने में वाधा उपस्थित करता है, यह इसकी क्षारीयता को भी कम करता है, जिससे खटिका के उपशोषण का मार्ग प्रशस्त होता है।

दोनों के कतिपय अन्य योगिक भी, भोजनों के साथ-साथ आते हैं। उन भिन्न-भिन्न रूपों में भी इनका कुछ-कुछ उपशोषण हुआ करता है, यथा—‘खटिक कज्जलेत’। यह आमाशय के अम्लीय पाचकपित्त की क्रिया से पचकर और रूप-परिवर्तन करके उपशोषित होता है।^{२३}

खटिका के सेन्द्रिय या निरन्द्रिय कोई भी योगिक हों—ये प्रायः अधो-आमाशय से ग्रहणी तक के बीच में, ‘अम्ल’ की सहायता से ही उपशोषित होते हैं। इस भाग से आगे कभी-कभी खटिका का उपशोषण अन्य विशिष्ट योगिकों के रूप में भी होता है।^{२४}

इसी प्रकार स्फुर भी कतिपय अन्य योगिकों के रूप में उपशोषित होता है।^{२५}

अस्थिनिर्माण में बाहुल्य की हजिट से खटिका और स्फुर का मुख्य योगिक ‘खटिकस्फुरेत’ है। जैसा कि प्रथम कहा जा चुका है, यह अम्लीय माध्यम में, अधो-आमाशय से ग्रहणी तक पहुँचते-पहुँचते उपशोषित हो जाता है।

देह में खटिका व स्फुर के समुचित उपशोषण के लिए इन दोनों का एक नियत अनुपात में रहना आवश्यक है। हमारे महास्तोत्रस् के भिन्न-भिन्न भागों में खटिक योगिकों और स्फुर योगिकों—दोनों का—पचन (रासायनिक रूप-परिवर्तन) और उपशोषण साथ-साथ चलता रहता है, अर्थात् अस्थि के ये दोनों मुख्य उपादान, पाचकाग्नि (और समानवात) की क्रियाओं से पचकर आहाररस के साथ-साथ उपशोषित होकर देह के भीतर पहुँचते रहते हैं।

अस्थि के उपादानों का देहसात्मीकरण

पूर्ववर्णित प्रकार से अस्थि के मुख्य उपादान—खटिका एवं स्फुर—ग्रहणी तथा अन्त्र द्वारा उपशोषित होकर जब देह के भीतर पहुँच जाते हैं, तब वे आहाररस में विलीन होकर रहते हैं। उस रस में खटिका की मात्रा अधिक और स्फुर की मात्रा अत्यल्प होती है।

२३. खटिक कज्जलेत (कैलिसयम कार्बोनेट) लवगाम्ल के साथ सम्मूचित होकर और खटिकहरिद (कैलिसयम क्लोराइड) में बदल कर उपशोषित होता है।

२४. यत्किञ्चित् खटिका, गोधूमेत् (ग्लुटेमेट) और दुग्धेत् (लेवटेट) के रूप में भी उपशोषित होती है।

२५. यथा—‘सोडियम स्फुरेत’, ‘पोटाशियम स्फुरेत’—‘मेनोशियम स्फुरेत’।

खटिका उक्त रस में, और रक्त में भी, एक नियत राशि तक रहता है। उससे अधिक हो जाय तो इनमें से निकल-निकलकर अन्त्र या वृक्क के मार्गों से मल एवं मूत्र के साथ-साथ बाहर जाने लगता है।

देह में खटिका का नियत मात्रा से अधिक या न्यून रहना—दोनों ही स्थितियाँ—अवांछनीय हैं, इनके अनिष्टकारक परिणाम होते हैं। खटिका की न्यूनता रहे तो अस्थिनिर्माण रुकता है, वल्कि यह उस व्यक्ति की अस्थियों में से छुट-छुटकर रस-रक्त में आने लगता है, जिससे अस्थिक्षय उत्पन्न होता है। खटिका अधिक हो तो इससे वृक्काश्मरी बनने की या अन्य रोगों की सम्भावना रहती है।

खटिका का नियत परिमाण में रहना वहुधा अग्नि वायु के साम्य पर निर्भर है। खटिका के साथ-साथ स्फुर का भी महत्त्व है, विशेषतः अस्थिनिर्माण की दृष्टि से। स्फुर प्रायः 'स्फुरेत'^{३१} के रूप में रहता है। स्फुरेत कम हों तो 'खटिक स्फुरेत' नहीं बनता और अस्थिनिर्माण में वाधा पड़ती है।

खटिका के अणु हों या स्फुरेत के अणु हों, ये दोनों ही निरन्द्रिय द्रव्य हैं। निरन्द्रिय होने से, सेन्द्रिय देह के लिए, ये तब तक व्यर्थ हैं; जब तक इनमें देह का अंश बनने की योग्यता उत्पन्न न हो। वाह्य द्रव्यों में देहांश बनने की यह योग्यता, वात के सहकार में, भूताग्नि-पाक के अनन्तर आया करती है। खटिका और स्फुरेत का भी, देह के भीतर पहुँचने पर, वात और अग्नि से सम्पर्क होता है, परिणामस्वरूप वायु एवं अग्नि के गुण-धर्मों से दीक्षित होकर ये दोनों 'वाताग्नि धर्म'^{३२} बनते हैं। इस विशेषता के आते ही इन दोनों के अणुओं में क्रिया-प्रतिक्रियायें होने लगती हैं और यथास्थान पहुँचने पर ये परस्पर आकृष्ट होकर समूचित होने लगते हैं, जिससे इनका यौगिक 'खटिक स्फुरेत' तैयार होने लगता है। इस रूप में ये स्त्रभावतः अविलेय या अघुलनशील होते हैं और किसी स्थान पर जाकर वहीं निक्षित होकर वैठ रहते हैं। अस्तु, कहने का अभिप्राय इतना ही है कि अस्थि के मुख्य उपादान 'खटिका' और 'स्फुरेत'—ये दोनों—देह के भीतर रस रक्त में जब पहुँचते हैं, तो अस्थि रूप में आने के पूर्व इन दोनों को देहगत अग्नि वायु^{३३} से संस्कारित होना पड़ता है, इस संस्कारित या दीक्षित रूप में ही

२६. 'फाँसफेट'

२७. अर्वाचीन क्रियाशारीर की भाषा में—'आयोनाइज्ड'

२८. 'डेंवर्टी विद्युत्'—यह विद्युत्, भौतिक दृष्टि से अग्निवायवीय द्रव्य ज्ञात होता है।

ये देह के लिये सात्म्य होते हैं और तभी ये परस्पर आकृष्ट एवं सम्मूचित होकर देहधातु 'अस्थि' का अंग बन पाते हैं।

अस्थग्नि

यह पहिले स्पष्ट हो चुका है कि देह का प्रत्येक धातु आहाररस का ही परिवर्तित रूप है और आहार-रस-गत धात्वीय अंश पर प्रत्येक धातु की अपनी-अपनी अग्नि की—धात्वग्नि की—क्रिया के उपरान्त उस धातु का निर्माण हो पाता है। धात्वग्नि के साथ वात का सहयोग अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

अस्थि धातु के निर्माण के लिए भी, इसके अपने विशिष्ट 'अग्नि' और 'वायु' अपेक्षित हैं। अस्थि का अग्नि अर्थात् 'अस्थग्नि' इसके अपने घटों में व्यस्त और विलीन रहता है। आवश्यकता के समय अस्थिघट इस 'अस्थग्नि'^{१०} को प्रकट करते हैं।

अस्थग्नि, अपनी भौतिक रचना की हड्डि से पार्थिव है,^{११} किन्तु प्रकृति से 'अग्निधर्मा'^{१२} द्रव्य है। यह स्फुर के निरन्द्रिय योगिकों को विघटित करके उनसे स्फुर को स्वतन्त्र करता है। स्वतन्त्र स्फुर 'स्फुरेत' रूप में पाता है और खटिक के साथ सम्मूचित होकर 'खटिक स्फुरेत' को तैयार करता है। जितना अधिक स्फुर स्वतन्त्र होगा, उतना ही 'स्फुरेत' बनेगा, जिससे 'खटिक स्फुरेत' बन-बनकर अस्थि-मूर्ति प्रस्तुत हो सकेगी।

अस्थग्नि में यह शक्ति है कि सेन्द्रिय स्फुरेतों को विघटित करके उनसे भी

२९. आवृत्तिक समय के वैज्ञानिकों की खोजों के अनुसार यह अस्थग्नि एक प्रकार का एन्जाइन जात हुआ है, जिसे जीव-रसायन-विज्ञान में—'एल्कला-इन फॉस्फेटेज'—(हिंदी भाषा में 'क्षारीय स्फुरेतेज') नाम दिया जाता है।

३०. 'प्रोटोन निर्मित'

३१. 'एल्कलाइन फॉस्फेटेज' या 'क्षारीय स्फुरेतेज' नामक एन्जाइम एक रासायनिक द्रव्य है, जो स्फुर के ईस्टर्स (प्राप्रूपों) पर क्रिया करके उनसे उद्विच्छेदन (हाइड्रोजन के अणुओं का वियोजन) करता है, इस क्रिया से वे यौगिक टूटते हैं और स्फुर स्वतन्त्र होकर स्फुरेत के रूप में आता है। यह स्फुरेत ही खटिक धातु के साथ निलकर और सम्मूचित होकर 'खटिक स्फुरेत' बनाता है, जो अस्थि-कोटरों में जाकर बैठता है और अस्थि का अपना रूप बनता है।

यह 'स्फुरेत' को पृथक् कर लेता है, जिससे 'खटिक स्फुरेत' अधिक बनने लगते हैं।

अस्थि धातु, जैसा कि प्रथम कहा जा चुका है, अपने उक्त उपादानोंके रूप में द्रवीभूत होकर रस में रहता है। यह रस, रक्त धातु में मिलकर विविध प्रयोजनों से रक्तवाहिनियों द्वारा यकृत, प्लीहा, वृक्क, फुफ्फुस, अग्न्याशय, उपचुल्लिका आदि नाना अवयवों तक पहुँचता रहता है, साथ-साथ 'अस्थ्यग्नि' भी जाता है, इसी से इन अवयवों में भी यह अग्निद्रव्य पाया गया है। परन्तु सबसे अधिक यह अस्थियों में होता है। यह पित्तधराकला में भी पर्याप्त रहता है, वहाँ रहकर यह खटिक स्फुरेत के उपशोषण में सहायक बनता है। यकृत में यह अनेक अवसरों पर निर्मित भी होता है।

'अस्थ्यग्नि', अस्थिसर्जक घटों या अस्थि उत्पादक वीजों के भीतर तथा अस्थिभंजक घटों (वृहदाकार अस्थिघटों) के आन्तरिक भागों में निर्मित हो-होकर वहाँ से रक्तप्रवाह में सम्मिलित होता रहता है। अस्थियाँ, पच्यमानाशय की पित्तधराकला और वृक्क, इसके विशेष स्थान हैं। अस्थि सामग्री के निर्माण के लिये अस्थिघटों से आविर्भूत यह अग्नि, क्षार माध्यम में शीघ्र क्रिया करता है।

यह स्मरणीय है कि अस्थि के उपादान खटिका और स्फुरेत, भूताग्नि पाक के उपरान्त संस्कारित होकर अग्नि एवं वायु के गुण-वर्मों से दीक्षित^{३२} हो चुकते हैं, ऐसी अवस्था में इनके भीतर रसायनधर्मिता और क्रियाशीलता आ जाती है। अस्थ्यग्नि के द्वारा अब ये परस्पर आकृष्ट एवं संयुक्त होकर शीघ्र समूर्धित हो सकते हैं और 'खटिक स्फुरेत' बनकर अस्थिनिर्माण के लिये प्रस्तुत होते हैं।

अस्थ्यग्नि और वात

आयुर्वेदीय मान्यता के अनुसार दोषों की क्रिया के लिए—सूक्ष्म स्थूल पित्त के और तदगत अग्नि के लिए भी—वात का सहयोग आवश्यक है। देह का कोई अग्नि विना वात के सक्रिय नहीं होता। अस्थ्यग्नि की क्रिया के लिए भी वात की उपस्थिति और इसकी प्रेरणा आवश्यक है। वात से प्रेरित होकर उपर्युक्त अग्निद्रव्य क्रियाशील होते हैं।

इस प्रसंग में अस्थिगत वातद्रव्य पर विचार करने के पूर्व यह स्मरण कर

३२. 'आयोनाइज्ड' रूप में।

लेना आवश्यक है कि आयुर्वेद में अरिथ को वात का विशेष आश्रय स्थल कहा गया है, यहाँ स्वभावतः वातधर्मा द्रव्य अधिक संख्या में और विशेष क्रियाशील होने चाहिए।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि पित्त एवं श्लेष्मा तो अपने-अपने आश्रय-भूत धातु में रहते हुए उन्हें अपनी वृद्धि या धय द्वारा सीधे ही प्रभावित करते हैं, अर्थात् पित्त-कफ की वृद्धि या धय हो तो ये अपने आश्रयदाता रक्त एवं रस की भी वृद्धि या धय करते हैं, परन्तु वात के विषय में नियम इसके प्रतिकूल है। वात की वृद्धि-प्रकोप हो तो अस्थिक्षय होता है और वात—अल्प एवं शिथिल शान्त हो—तो अस्थि का पोषण संवर्धन हुआ करता है। अस्तु

अन्य धात्वग्नियों के सदृश 'अस्थ्यग्नि' भी वात द्वारा प्रेरित होकर किया आरम्भ करता है। जिस प्रकार 'अस्थ्यग्नि', एक द्रव्य के (क्षारीय स्फुरेतेज के) रूप में, अस्थिघटों से जन्म लेकर अस्थियों को उपलब्ध होता है, उसी प्रकार 'वात' भी कतिपय वातधर्मा द्रव्यों के रूप में यहाँ उपलब्ध होता है। इन द्रव्यों में खाद्योज 'डी'^{३३}, खाद्योज 'सी'^{३४}, खाद्योज 'ए'^{३५} उपचुलिका 'साव'^{३६} की गणना की जा सकती है।

खाद्योज 'डी' यदि उचित मात्रा में विद्यमान हो तो 'अस्थ्यग्नि' को अपनी किया के लिए इससे प्रेरणा मिलती है और पूर्वोक्त अग्नि अपना अग्निकर्म (स्फुर वियो-जन कर्म) आरम्भ करके उसे त्वरित गति से सम्पन्न करने लगता है। परिणाम-स्वरूप स्फुर एवं स्फुरेत शीघ्र तथा पर्याप्त मात्रा में प्रस्तुत होते हैं, जिससे अस्थिनिर्माण-कार्य सम्यक् प्रकार से सम्पन्न होने लगता है। उक्त वातद्रव्य अन्त में उपस्थित खटिका के यौगिकों को विच्छिन्न करवा कर उनसे खटिका को स्वतंत्र करवा देता है, जिससे अब खटिका सुगमता से उपशोषित होने लगती है। इस प्रकार यह खटिका की मात्रा को पर्याप्त बनाये रखता है। इसी प्रकार यह स्फुर को भी प्रबल बनाता है। स्फुर पर्याप्त हो तो अग्नि द्वारा 'स्फुरेत' दनने में सुगमता रहती है। खटिका और स्फुरेत के बने हुए 'खटिक स्फुरेत' को यह उपशोषित शीघ्र कराता है और उन्हें यथास्थान निश्चिप्त कराता रहता है, जिससे अस्थि का निर्माण-कार्य स्वाभाविक रूप में और भले प्रकार सम्पन्न होता है। यह द्रव्य अस्थि की कठिनता या कठोरता को भी बनाये रखता है।^{३७}

३३. विटामिन 'डी'।

३४. विटामिन 'सी'।

३५. विटामिन 'ए'।

३६. पैराथार्मोन।

३७. उक्त कर्म इस वातद्रव्य को समावस्था के हैं। विषमावस्था में यदि इसकी

कहने का अभिप्राय यह कि उक्त वातद्रव्य आनी समावस्था में रहे तो 'अस्थि निर्माण' और 'अस्थि सुधार' दोनों कार्यों को सम्पन्न कराने में परम सहायक है।

द्वितीय वातधर्मा द्रव्य खाद्योज 'सी' १६ है। इस वातद्रव्य की उपस्थिति में अस्थिगिल्लप 'क्षारीय स्फुरेतेज' को प्रेरणा मिलती है और इसकी क्रियाशीलता बढ़ती है, जिससे अस्थियों को कठोर बनाने वाले लवणों का निर्माण और अस्थियों में उनका निक्षेप समरूप में होता है।

खाद्योज 'ए' भी अस्थगिल्लप का सहायक और वायवीय प्रकृति का एक उपयोगी द्रव्य है। यह अस्थिघटों का और खटिक स्फुरेत आदि अस्थि के उपादान द्रव्यों का नियामक है। इसकी उपस्थिति में अस्थि के उपादान-

वृद्धि हो जाय तो अस्थियों में से खटिका का क्षरण आरम्भ हो जाता है; अर्थात् अस्थिक्षय होने लगता है।

यदि इस वातद्रव्य की क्षीणता या कमी हो जाय, तो खटिका और स्फुर का उपशोषण बन्द और कम होकर, अस्थियाँ मृदु, पतली एवं विरूप हो जाती हैं। इसी रूप में ये देह में इधर-उधर उभर कर बढ़ जाती हैं।

इस द्रव्य के उक्त वृद्धि एवं क्षय को शान्त करके यदि इसे पुनः सन्तुलित या साम्य अवस्था में ले आये तो विछृत एवं क्षीण अस्थियों में सुवार होने लगता है।

३८. खाद्योज 'सी' नामक द्रव्य, श्वेत, स्फटिक रूप, निर्गन्ध और अम्ल-रस-युक्त पदार्थ के रूप में प्राप्त किया गया है। प्रकृति में यह आमलक, नीबू, नारंगी, हरे पत्र शाक, (एवं हरी मीरच) के भीतर पुष्कल मात्रा में पाया जाता है। देह के भीतर यह रस-रक्त में रहता है और 'क्षारीय स्फुरेतेज' को, अस्थियों एवं दाँतों के कठिन स्तर का निर्माण करने वाले खटिक-योगिक 'ऑस्टिअयड' एवं 'डेन्टोन' का निर्माण करने की, प्रेरणा देता है।

इस वातद्रव्य के अभाव या अल्पता (क्षय) में 'अस्थगिल' शिथिल पड़ जाता है, अग्नि का पचन-कर्म मन्द होने से अस्थि और दाँतों को कठोर करने वाले उपादान प्रस्तुत नहीं हो पाते, जिससे अस्थियाँ भंगुर पड़ जाती हैं, वे शीघ्रता से टूट सकती हैं। दाँतों को वृद्धि यथाकृत नहीं होती, वे विछृत, टेढ़े-मेढ़े, इधर-उधर निकले-फैले हुए से, सुविर, भंगुर रूप में उगते हैं।

द्रव्य ठीक दिशा में गति करने हैं और यथास्थान पहुँचते रहते हैं, जिससे अस्थि-निर्माण-कार्य प्रत्येक अस्थि की नियताकृति के अनुसार योजनावद्ध रूप में सम्पन्न होता है।^३

अस्थ्यग्नि पर और अस्थि-निर्माण पर प्रभाव डालने वाला अन्य वातधर्म द्रव्य उपचुल्लिका स्थावर है। यह भी समावस्था में रहे तो अस्थ्यग्नि

३९. खाद्योज 'ए' गाजर, चुकन्दर आदि रंगीन शाकों तथा प्राणिज स्नेहों में उपलब्ध होता है। देह में आकर यह अनेक रूप-परिवर्तन करता है। इसके समावस्था में बने रहने पर अस्थियों का निर्माण स्थाभाविक रूप में होता है।

इसको वृद्धि हो जाय तो अस्थि की घात्वग्नि विषम हो जाती है, जिससे उत्थित-सौषिर्य एवं अस्थि-क्षय उत्पन्न होते हैं, अस्थि-भंग शोषण होने लगता है, अस्थियों में वेदनायें होती हैं, रोगी के बाल झड़ते हैं, शिरोवेदना बनी रहती है और निर्वलता दढ़ती है।

इस द्रव्य की क्षीणता में अस्थ्यग्नि मन्द पड़ती है, जिससे अस्थ्यग्नि-पाक का कार्य धीमा पड़ जाता है, परिणामस्वरूप अस्थि का उपादान (खटिक स्फुरेत) देह के बाहर (मूत्रमार्ग से) जाने लगता है। दाँत खोखले और विकृत हो जाते हैं। अस्थियाँ विरूप होकर इतस्ततः निकलने और बढ़ने लगती हैं। मेहदण्ड की विषमवृद्धि हो जाती है, जिससे सुषुम्ना दबने लगती है।

यदि इस खाद्योज की वृद्धि या क्षीणता के स्थान पर इसे समावस्था में ले आया जाय, तो अस्थिनिर्माण-विषयक टूटा हुआ तारतम्य पुनः स्थापित हो जाता है और उक्त लक्षण दूर होने लगते हैं।

४०. इसका अवचित वैज्ञानिक नाम 'पैरायामॉन' है। यह द्रव्य गले में स्थित चुलिलका ग्रन्थि केऊपर—उससे सटकर लगी हुई, चौथाई इंच लम्बी 'उपचुलिलका' नाम की—चूर छोटी-छोटी ग्रन्थियों में उत्पन्न होता है। उपचुलिलका-स्थाव पार्यिव (प्रोटीनस्य) है। यह उपचुलिलका ग्रन्थियों से निकाल कर भीतर ही भीतर रस रक्त में निश्चित होता है और अस्थ्यग्नि के सम्पर्क में जाता है।

इस प्रसांग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि उपचुलिलका ग्रन्थि के भीतर, अस्थ्यग्नि रूप 'कारंय स्फुरेतेज' नामक द्रव्य उपलब्ध भी होता है।

को प्रेरणा देकर उसे सबल बनाता है, जिससे उसकी क्रियाशीलता यथावत् बनी रहती है। मुख्य रूप से यह नियामक द्रव्य है। खटिका का रस रक्त में यह, सन्तुलन या साम्य स्थापित रखता है, उसे कम नहीं होने देता।^{११} परन्तु समरूप में ही यह नियामक है, यदि प्रवृद्ध हो तो अस्थियों पर वात प्रकोप^{१२} के लक्षण और क्षीण हो तो वातक्षय^{१३} के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

४१. जब किसी कारणवश अग्निवायु द्वारा संस्कारित खटिका का अंश रस-रक्त में कम हो जाता है, उस समय यह वातद्रव्य अस्थि के भीतर अस्थि-भंजक रौद्रघटों (ऑस्टिग्रोक्लास्ट) को संख्या बढ़ा देता है, उनके आकार को भी वृद्धि कर देता है। ये भंजक या संहारक घट अस्थि पर क्रिया करके—उसमें से खटिकाकणों और स्फुरेतों—दोनों का क्षरण करने लगते हैं। इनका यह छुटा हुआ अंश रस रक्त में आ मिलता है, इस प्रकार रस-रक्त को खटिका की कमी पूरी होती है।

४२. यदि यह वातद्रव्य रस-रक्त के भीतर मात्रा से अधिक बढ़ा हुआ हो तो अस्थग्नि रूप 'क्षारीय स्फुरेतेज' विवरण (न्यूनाधिक) हो जाता है। इसकी दूसरी क्रिया यह होती है कि अस्थियों में जहाँ-तहाँ रौद्रघट बड़ी संख्या में उत्पन्न हो जाते हैं, ये अस्थियों को कुरेद-कुरेदकर उनमें से खटिक स्फुरेतों को छुड़ाते हैं। अस्थग्नि भी प्रचण्ड होकर खटिका को पृथक् और स्फुरेतों को पृथक् करने लगता है। इन दोनों की रस-रक्त में मात्रावृद्धि होने से या तो अश्वरी बनने लगती है, या ये मल-मूत्र द्वारा देह के बाहर निकल-निकलकर रोगी को निर्वल करने लगते हैं, अथवा हृदय-फुक्सस-मांसपेशियों आदि में जमकर विकृतियाँ उत्पन्न करते हैं। खटिक स्फुरेतों के निकलते रहने के परिणामस्वरूप अस्थियाँ खोखली, भंगुर, परस्पर जुड़ जाने से विरूप हो जाती हैं। अस्थियों में कहीं-कहीं उभार या अर्द्धद घनने लगते हैं। यह सब, वात वृद्धिजनित 'अस्थिक्षय' की स्थिति है। रस रक्त में खटिका की मात्रा बढ़े होने पर अश्वचि, बमन, अतिसार, तृष्णा-विक्षय आदि कफवात वृद्धि के लक्षण प्रकट होते हैं।

४३. यदि उक्त वातद्रव्य न्यून हो जाय तो अस्थग्नि रूप—'क्षारीय स्फुरेतेज' अन्य और भन्दक्रिय हो जाता है। अस्थियों में अस्थिभंजक रौद्र घटों की संख्या घट जाती है, इनकी क्रियाशीलता भी मारी जाती है। ये जीर्ण अस्थिकणों के विघटन का कार्य बन्द कर देते हैं। इसका परिणाम यह होता

अस्थियों के अतिरिक्त दाँतों पर भी इस वातद्रव्य की न्यूनाधिकता के दुष्परिणाम देखे जाते हैं। अस्थिधातु और उसके उपादानों को प्रभावित करने वाला अन्य द्रव्य-अन्तर्मुख ग्रन्थिस्त्रोतर् 'पोपणिका'^{४५} के अग्रिम खण्ड का एक साव है। इसे पुष्टिवर्धन साव^{४६} कहते हैं। इस साव की समता (मात्रा साम्य) रहे, तो अस्थियाँ समझप और पुष्ट बनी रहती हैं।^{४७}

अस्थि धातु से संबंध रखने वाले उक्त अग्निधर्मा और वातधर्मा द्रव्यों

है कि अन्य धातुओं के सदृश अस्थिधातु में भी निरन्तर होती रहने वाली नवधातु सृजन और जीर्णधातु विघटन की प्रक्रिया अव्यवस्थित हो जाती है। इस दशा में अस्थि के जीर्ण-जीर्ण कणों का विघटन नहीं हो पाता, ये जीर्ण और अशवत कण-भार बोझ को—सहन नहीं कर सकते। तब अस्थि के अन्यतम पर्याप्त भाग—'अस्थिजालक' (बोन मेंट्रिक्स) पर कार्यभार अधिक आ पड़ता है और यह भी जर्जर हो जाता है, परिणामस्वरूप अस्थियाँ भंगुर पड़कर जलदी टूटने लगती हैं और मृदु तथा विरूप हो जाती हैं।

उक्त वातद्रव्य की क्षीणता का दूसरा प्रतिकूल परिणाम रस-रक्त पर पड़ता है। रस-रक्त में बने रहने वाले खटिका का स्तर भी गिर जाता है, जिससे या तो 'स्तम्भ' रोग होकर—तीन-चार दिन के भीतर—रोगी की मृत्यु हो जाती है, या आक्षेप—टांगों का स्तम्भ रोग, अँगुली-अँगूठे आदि का परस्पर जुड़कर ऐंठ जाना और अन्दर को मुड़ जाना—आदि अनेक (वातिक) लक्षण उत्पन्न होते हैं।

४४. 'पिट्यूटरी ग्लैण्ड'

४५. 'ग्रोथ हॉमोन'

४६. 'पुष्टिवर्धन साव' इलेज्मधर्मा साव है। इसकी वृद्धि या प्रकोप हो तो देह की अस्थियाँ भी बढ़कर अनुपात से अधिक लम्बी-चौड़ी हो जाती हैं। वालक में यह स्थिति उत्पन्न होतो वह दानवकाय हो जाता है (जाइगॅन्टिज्म)। बड़ा मनुष्य हो तो उसकी अस्थियों के प्रात्त भागों में अतिस्थूलता आ जाती है (एक्रिमिग्ली)। उसके हाथ-पैर विशाल, नासिका स्थूल, गण्डास्थियाँ उभरी हुईं, जबड़े बड़े-बड़े और दाँत पृथक-न्यूथक दिखाई देते हैं।

यदि यह साव न्यून या क्षीण हो जाय तो इस क्षय को अवस्था में अस्थि-विकास रुक जाता है, जिससे वे आयु के अनुपात में छोटी पड़ जाती हैं और वह व्यक्ति ठिगना अर्थात ऊँचाई में कम रह जाता है (वामनत्व)

पर विचार करने से विदित होता है कि इनमें प्रधान वातधर्मा द्रव्य हैं; ये संख्या में भी अधिक हैं, अन्य सब धातुओं की तुलना में अस्थि धातु में इनका विशेष प्रावल्य है। आयुर्वेदीय क्रियाशारीर में 'अस्थि' को वात का मुख्य आश्रयस्थल पहले हो निर्धारित किया जा चुका है। धात्वग्नि रूप में अग्नि तो इसमें प्रतिष्ठित है ही। ये वायु और अग्नि—एक दूसरे के सहकार में—अस्थि के उपादान भूत (अस्थि के निर्माण की सामग्री के रूप में) पार्थिव आप्य द्रव्यों पर, जब यथासमय अपनी-अपनी क्रियायें करते हैं, तब अस्थि का निर्माण होता है।

अस्थिघट : अस्थयग्नि : वात

अस्थयग्नि का कार्य—देह के निभित्त—इस प्रकार का अग्निकर्म (जीवरसायन क्रिया) सम्पन्न करना है जिससे अस्थियों का उपादान-द्रव्य तैयार होकर अस्थि-संघटन हो सके। अस्थि के लिये नित्य-नवीन उपादान प्रस्तुत करने के अतिरिक्त जीर्ण उपादानों को विघटित करते रहना भी अस्थयग्नि का कार्य (अस्थयग्नि-कर्म) ही है।

इस वात का प्रथम उल्लेख हो चुका है कि अस्थिधातु 'वात' का विशेष आश्रयस्थल है और अस्थियों के भीतर—उनके सुषिर (सचिद्र अतएव पोले) भागों में दो प्रकार के क्रियाशील अस्थिघट रहते हैं—'अस्थि-सर्जक' और 'अस्थि-भंजक'।

अस्थि-सर्जक या 'ब्राह्मघट'^{४७} अस्थि-निर्माण के अवसरों पर अपने भीतर से एक तैजस अंश को या अग्नि द्रव्य को जन्म देकर उसे रस-रक्त में छोड़ते हैं, यह अस्थयग्नि (क्षारीय स्फुरेतेज) रूप होता है, नवास्थिनिर्माण के लिये यह नाना योगिकों को संघटित करता हुआ अस्थि के उपादानभूत पार्थिव अंश का—खटिका के 'स्फुरेत', 'कर्जलेत' आदि का—निर्माण करता रहता है। अस्थि का ढाँचा बनाने वाले पार्थिव अंश 'अस्थि शय्या'^{४८} या अस्थिधार को भी यह प्रस्तुत करता है।

४७. अस्थि का सृजन करने वाले अस्थिघटों में सर्जनात्मक प्रदृढ़ि होती है।

सृजन या निर्माण 'ब्रह्मा' का कार्य है, अतः इस प्रकार की प्रकृति के अस्थि-लघ्टा घटों को 'ब्राह्मघट' कहना उपयुक्त है। अर्बचीन क्रियाशारीर में इन्हें 'आस्थियोब्लास्ट' संज्ञा दी गई है।

४८. 'प्रोटीन-मय बोन मैट्रिक्स।'

द्वितीय प्रकार के अस्थिभंजक या 'रोद्रघट'^{४९} हैं। ये भी अस्थि-गुहाओं एवं अस्थिछिद्रों में विद्यमान रहते हैं। ये आकार में अपेक्षाकृत वड़े-वड़े या विशालकाय होते हैं। इनमें 'केन्द्रक'^{५०} अनेक पाये जाते हैं। ये रोद्रघट भी समय-समय पर अपने भीतर से एक तैजस अंश को या अग्निद्रव्य को जन्म देते हैं। परन्तु यह अग्निद्रव्य—आवश्यकता के समय—अस्थिशय्या का या अस्थि के आधारीय द्रव्य (मैट्रिक्स) का पाक करके इसे ध्वस्त करने का और इसके रासायनिक रूप-परिवर्तन का कार्य करता है, साथ ही खटिक स्फुरेत, खटिक कज्जलेत आदि योगिकों को विघटित करने लगता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अस्थिधातु स्वयं अपने अग्नि को—'अस्थ्यग्नि' को—अपने भीतर सञ्चिविष्ट रखता है और यह अग्निद्रव्य अस्थि की अपनी आवश्यकता के अनुकूल अस्थिसृजन तथा अस्थिसंहार की क्रियाओं में (अस्थि निर्माणकारक सामग्री के संधटन-विघटन में) संलग्न रहता है।

उक्त अस्थ्यग्नि या 'क्षारीय स्फुरेते' नामक द्रव्य को अपने अग्निकर्म के निमित्त प्रवृत्ति या प्रेरणा 'वात' से प्राप्त होती है। वात या वातधर्म द्रव्य के रूप में खाद्योज 'डी', 'सी', 'ए', 'उपचुल्लिका स्राव' आदि अस्थियों तक पहुँच कर वहाँ उपस्थित रहते हैं। ये संयोजन, वियोजन, प्रेरण, नियमन आदि अपने कार्यों के रूप में, उक्त अग्नि को अपना-अपना सहयोग प्रदान करते हैं।

अस्थ्यग्निकर्म और उसके परिणाम

अब तक के विवेचन से स्पष्ट है कि 'अस्थ्यग्नि' 'जीव-रसायन धर्मी' द्रव्य है, इसकी योनि या उत्पत्ति का स्रोत वे अस्थिघट हैं; जो हमारे देह की अस्थियों के भीतर यत्र-तत्र सञ्चिविष्ट होते हैं। ये देह की आवश्यकता-नुसार अस्थ्यग्नि का आविर्भाव करते रहते हैं। वात (या विविधवात द्रव्य) इस अग्नि को देह के विभिन्न भागों की ओर प्रेषित करता है।

४९. निरन्तर जीर्ण होते रहने वाले अस्थिकणों का विघटन करने के लिये ये दूसरों प्रकृति के अस्थिघट होते हैं। इनको संहारक या ध्वसक प्रवृत्ति होती है। यह कार्य 'रुद्र' का है, अतः इस प्रकृति के अस्थि संहारक घटों को 'रोद्रघट' कहा है। अर्बाचीन क्रिया-शारीर में इन्हें 'आस्टियोक्लास्ट' नाम दिया गया है।

५०. 'न्यूक्लियस'

अस्थ्यग्नि अस्थिधातु के निर्माण के लिए उपादान-द्रव्यों को (स्कलीरोप्रोटीन, खटिक स्फुरेत, खटिक कज्जलेत आदि को) संघटित कर करके प्रस्तुत किया करता है ।

इस उपादान द्रव्य को क्रियाशील वात के द्वारा प्रेरणा दी जाती है और यह प्रेरित होकर—देह की आवश्यकता के अनुसार—यथास्थान पहुँचता रहता है, जिससे ये द्रव्य प्रथम अस्थिशय्या की रचना करते हैं, फिर अस्थिशय्या के भीतर निश्चिप्त हो-होकर ये इसे कठिन अस्थियों का रूप प्रदान करते हैं ।

उपर्युक्त प्रक्रिया मानव के युवा-शरीर में भी सम्पन्न होती है और गर्भ-शरीर के भीतर भी । अन्तर यह है कि गर्भशरीर के भीतर कुछ अस्थियाँ प्रथम तरुणास्थियों के कणों से भी बनाई जाती हैं । वाद में इनका स्थान अस्थि के उपादान द्रव्य ही ग्रहण कर लेते हैं ।

अस्थ्यग्नि द्वारा अस्थियों के उपादानरूप द्रव्य का उत्पादन—न्यूनाधिक रूप में—वात को प्रेरणा पर होता है । इस प्रेरणा से अस्थि-संवर्धन अथवा अस्थि-क्षय के लिए दो प्रकार के अस्थिघटों (पूर्ववर्णित ब्राह्मघटों और रीढ़घटों) से दो प्रकृतियों की अग्नि का प्रादुर्भाव हुआ करता है । ये दोनों अपने-अपने उपादानद्रव्य का क्रमशः संघटन और विघटन करने लगते हैं । अस्थि के उपादानद्रव्य के संघटन से उसका चय या संवर्धन और विघटन से उसका क्षरण होकर, क्रमशः अस्थि-संवर्धन अथवा अस्थिक्षय होने लगते हैं ।

क्रियाशारीर में अस्थि का स्वाभाविक संवर्धन ही विशेष विचारणीय विषय है और यह अस्थ्यग्नि की साम्यावस्था में ही उपर्युक्त विधि से सम्पन्न होता रहता है ।

अस्थ्यग्नि-कर्म के स्वाभाविक और सम्यक् रूप में होते रहने के तीन परिणामों का आयुर्वेद में उल्लेख है—

(१) स्वधातु का—‘अस्थि’ का—निर्माण ।

(२) प्रसादांश का, अर्थात् अस्थि से उत्कृष्टतर धातु ‘मज्जा’ के अंश का आविभाव ।

(३) अस्थिधातु के किट्ट का प्रस्तुतीकरण ।

अस्थि के निर्माण का अभिप्राय है—अग्निकर्म द्वारा अस्थि के उपादानभूत द्रव्य का संघटन-विघटन करना, इसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है ।

अस्थ्यग्निकर्म का द्वितीय परिणाम—प्रसादांश का अर्थात् अस्थि से उत्कृष्ट

तर धातु 'मज्जा' का आविर्भाव है। अस्थिनिर्मण प्रक्रिया पर ध्यान देने से विदित होता है कि जब अस्थिशश्याया अस्थि का आधार (अस्थि जालक) प्रस्तुत हो चुकता है, तब वात की प्रेरणा पर, अग्निगर्भी अस्थि-घट उक्त आधारभूत जालक के भीतर विशिष्ट स्रोतसों या भागों में प्रविष्ट होकर यथास्थान सन्निविष्ट हो जाते हैं; यहाँ ये अस्थग्नि का प्रादुर्भाव करते हैं; जिससे रस-रक्त में विद्यमान सामग्री से अस्थि के उपादानभूत अंश का संघटन होना आरम्भ होता है और पूर्वोक्त जालक में इस संघटित अंश का निक्षेप हो-होकर अस्थियों की इस प्रकार रचना होने लगती है कि उनके भीतरी भाग सचिद्र या सावकाश बनते जाते हैं। इनमें से दीर्घकृति अस्थियों के मध्यवर्ती भाग में तो कई-कई प्रणालिकायें भी बन जाती हैं। ये सुषिर (सचिद्र) एवं सावकाश स्थल तथा प्रणालिकायें ही, अपने भीतर उस स्नेहांश को प्रश्रय देते हैं, जिसे 'मज्जा' नाम दिया जाता है। यदि इन सचिद्र स्थलों और प्रणालिकाओं की रचना न हो तो उक्त स्नेहद्रव्य (मज्जा धातु) का यहाँ आश्रय ग्रहण करना संभव नहीं हो सकता। अस्थग्नि द्वारा इन आश्रय-स्थलों के निर्माण को मज्जाधातु की 'भूमिका' समझना चाहिए। आयुर्वेद के मनीषियों का यह भी विचार है कि रस रक्तगत जो स्नेह अस्थि-रचना-काल में इन सुषिरस्थलों एवं प्रणालिकाओं के भीतर आ-आकर संचित होता है, वह अग्निकर्म द्वारा इस योग्य बनाया जाता है कि अस्थि के भीतर आश्रय ग्रहण कर सके। इस स्नेह पर किसी अग्निकर्म का परिणाम तो इसी तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि अस्थिगत यह स्नेह कई प्रकार का है और अपने रूप, रंग, रस आदि में अन्य स्थानों के स्नेहों से बहुत भिन्न होता है, इसके गुणधर्म भी पृथक् ही हैं। इसी से आयुर्वेद में इसे एक पृथक् धातु मानकर इसे विशिष्ट नाम (मज्जा) दिया गया है।

मज्जा को अस्थियों के भीतर सन्निविष्ट करने के कार्य में अस्थग्नि का कितना महत्वपूर्ण योग है, यह वात पूर्वलिखित विवरण से स्पष्ट है। आयुर्वेद में इस कार्य को "अस्थि के प्रसादांश का या उत्कृष्टतर धातु के प्रस्तुतीकरण का कार्य" कहा गया है।

अस्थग्नि का तीसरा परिणाम 'अस्थि-किटूं की उत्पत्ति' है। इन किटूं में केश, रोम, नखों की गणना है। इन पर विशेष विचार 'मल' प्रकरण में हुआ है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि केश, रोम, नख—ये तीनों भौतिक संघटन की दृष्टि से पार्थिव हैं, किन्तु शरीर-रचना-शास्त्र की दृष्टि से देह की त्वचा के रूपान्तर हैं। अर्थात् ये देह की त्वचा के घटों के बने हुए हैं। परन्तु ये उन घटों के परिवर्तित और कठिनीभूत अंश से बने हैं। इनका उद्गम त्वचा के उपरिस्तर

से होता है और ये अपने-अपने मूलों में से—पत्तों के भीतर से उठने वाली कलिका के सदृश—उद्गमन करते हुए बढ़ते हैं।

शरीर-रचना-शास्त्र के अनुसार त्वचा का निर्माण आवरक^{५१} श्रेणी के घटों से हुआ करता है, जो भौतिक दृष्टि से 'आप्य' वर्ग के घट हैं। परन्तु केश, लोम, नख बन जाने पर उक्त आप्य घट पार्थिव वर्ग के घटों में परिवर्तित हो चुकते हैं। इनमें केशीन^{५२} नामक द्रव्य बन जाता है, जो इन्हें काठिन्य प्रदान करता है।

इस द्रव्य के अतिरिक्त इन किटूं में 'रंजक द्रव्य' की उत्पत्ति भी हो जाती है, जिसके भिन्न-भिन्न वर्ण होने के कारण केश काले, भूरे, पीले, सुनहरे दिखाई दिया करते हैं।

आयुर्वेद की मान्यता है कि आप्य घटों का पार्थिव घटों में उक्त परिवर्तन, एवं रंजकद्रव्य की उत्पत्ति, ये दोनों कार्य किसी भौतिक क्रिया के परिणाम नहीं, प्रत्युत अग्निकर्म या जीव-रसायन-क्रिया के परिणाम हैं और यह अग्निकर्म 'अस्थग्नि' (एवं समानवात) से संबंधित है। इन अग्नि वायु की विषमता में जब अस्थि-विकार जन्म लेते हैं, तब अस्थि के साथ-साथ अस्थि के ये किटू—केश, लोम, नख भी विकारग्रस्त देखे जाते हैं।

५१. 'एपीथोलियल सेल्स'।

५२. 'किरेटोन'।

मज्जाग्नि

मज्जाग्नि का क्रियास्थल 'मज्जा' धातु है, यह धातु अस्थियों के भीतर सन्निविष्ट होकर रहता है।

मज्जा धातु अन्य धातुओं के सदृश विशिष्ट प्रकार के घटों या कोशाओं का समूह है, जो देहपोषकस्नेह या स्नेह धातु^१ के बने होते हैं। मज्जागत स्नेह को शुद्ध स्नेह^२ माना गया है।

स्नेह : मेद : मज्जा

मेदोऽग्नि के प्रकरण में हम जान चुके हैं कि आहारगत स्नेह प्रथम महास्रोतस् में पाचकाग्नि से पचकर आहाररस में परिवर्तित होते हैं, फिर भूताग्नि (आप्याग्नि) की क्रिया से इनमें—देहपोषयोगी विशिष्ट आप्यगुण उत्पन्न होकर ये देहपोषक बनते हैं और रस-रक्त के साथ-साथ देह के भीतर पहुंचते हैं। देहपोषक स्नेहों पर धात्वग्नियों की क्रियायें होती हैं, इन अग्नियों में से मेदोऽग्नि के अग्निकर्म द्वारा देहपोषक स्नेह का पर्याप्त भाग 'मेद' धातु में परिवर्तित होता है। देहपोषक स्नेह के अन्यान्य अंशों पर अन्य प्रकार के अग्निकर्म भी सम्पन्न होते हैं।

देहरचना में अन्य धातुओं के निर्माण के समय जब अस्थ्यग्नि की क्रिया से अस्थियाँ बन रही होती हैं, तब (अस्थियों में क्रियाशील व्राह्म एवं रौद्र घटों के रूप में) वात^३ के सहकार से इनके भीतर वे नलिकायें जटिलप्रणालियाँ और सछिद्रस्थल भी बनते जाते हैं, जो अस्थि से उत्कृष्टतर धातु के—मज्जा के—आश्रयस्थल होते हैं। इन सुधिर भागों के भीतर मेदो रूप में जो स्नेह संचित होता है, वही 'मज्जा' बन जाता है।^४ मज्जा धातु के निर्माण के लिए देहपोषक स्नेह पर 'मज्जाग्नि' की क्रियायें होती हैं।

१. अर्वाचीन क्रिया-शारीर में 'एडिपोज टिश्यु'

२. 'मज्जा'—अस्थनः शुद्धस्नेहभागे।

(वैद्यक शब्दसिन्धु)

स्नेहोऽस्थनः शुच्चिरेवस्थात्।

(वैद्यक शब्द-सिन्धु)

३. करोति तत्र सौषिर्यं अस्थनां मध्ये समीरणः।

(च० चि० अ० १५)

४. मेदसस्तानि पूर्यन्ते स्नेहो मज्जा ततःस्मृतः।

(च० चि० अ० १५)

इससे पूर्व कि मज्जाग्नि पर विचार करें, यह जान लेना आवश्यक है कि अस्थियों में सन्निविष्ट स्त्रिघट धातु या मेदःकण दो प्रकार के प्राप्त होते हैं, वर्ण की दृष्टि से इन्हें पीतमज्जा और रक्त वर्ण या लोहितमज्जा कहा जाता है। इन दोनों पर धातु प्रकरण में विशेष विचार हुआ है।

यहाँ इतना जानना आवश्यक है कि पीतवर्ण स्नेह प्रणालिकायुक्त स्थूलास्थियों या नलकास्थियों के मध्य विवरों में भरा होता है और इसमें मेदःसद्वश पीतवर्ण के स्नेहघट ही वहुसंख्या में होते हैं, यही पीतमज्जा कहाती है।

दूसरा लोहितवर्ण या लालरंग का दिखाई पड़ने वाला स्नेह है। यह गर्भशिशु की नलकास्थियों के विवरों में, युवाशरीर की स्थूलास्थियों के प्रान्त भागों में एवं अन्य क्षुद्रास्थियों के सुषिर (सच्छिद्र) संघात में भरा रहता है। इसके भीतर रस-रक्तवाहिनी केशिकाओं के प्रतान या जालक विशेष रूप से फैले होते हैं, जिनसे यहाँ के धातु को पोषक अंश प्राप्त होता है। यहाँ लाल (और श्वेतवर्ण के भी) रक्तबोज तथा चक्रिकायें करोड़ों की संख्या में निर्मित हो रहे होते हैं, जिनके कारण यहाँ के स्नेह का रंग लाल रहता है। इस लाल रंग के स्त्रिघट धातु का या रक्तवर्ण के मेदस् का विशेष महत्त्व है, इसे सुश्रुत संहिताकार ने 'सरक्तमेदस्' नाम से स्मरण किया है। रक्तमज्जा में अनेक प्रकार की कोशायें या घट होते हैं। इनमें ७५ प्रतिशत मज्जाघट रहते हैं, ये कालान्तर में रुधिर के क्षत्रकणों का (श्वेतवर्ण रुधिराणुओं का) रूप ले लेते हैं। २५ प्रतिशत ऐसे घट होते हैं, जो रक्तवर्ण के बीज हैं, ये विकसित होकर लोहितकण (रक्तवर्ण के रुधिराणु) बन जाते हैं।

संक्षेप में—अस्थियों से भीतर का स्त्रिघट धातु ऐसे घटों का विराट् कोष है, जो 'स्नेह' से परिवर्तित होकर 'मेद' धातु के रूप में आ चुके होते हैं। ये मेदोघट यहाँ की अग्नि से संस्कारित किए जाते हैं, अर्थात् इन पर 'मज्जाग्नि' की क्रियायें होती हैं।

मज्जाग्नि का स्वरूप

मज्जाग्नि—अन्य धात्वग्नियों के सद्वश—मज्जागत 'पित्तोष्मा' है, अर्थात् यह भी पित्तवर्णीय आग्नेय द्रव्यों का तथा ऊष्मा का समवेत रूप है।

५. स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जात्वम्यन्तराश्रितः।

अयेतरेषु सर्वेषु सरक्तं मेद उच्यते॥

पित्तवर्गीय या आग्नेय द्रव्य हमारे महास्रोतस् में – मुख्यतः यकृत् एवं अग्न्याशय के स्रावों के रूप में – आविर्भूत होते हैं। उक्त स्राव जहाँ पच्य-मानाशय में अग्निकर्म सम्पन्न करते हैं, वहाँ इनका अन्नरस और रस रक्त के साथ-साथ देह भर में परिभ्रमण करना भी स्वाभाविक है। अनुधावन काल में ये सक्रिय या अलस रूप में रहते हुए यथावसर विविध धातुघटों पर पाचन दीपन आदि कर्म करते हैं और ये उनके अपने-अपने अग्नि-द्रव्यों का आविर्भाव भी करते हैं।

अस्थिगत मेदःकणों या स्नेहकणों तक भी ये पाचकाग्नि के अंश (पाचकांश) पहुँचते हैं। यहाँ ये 'धात्वग्नि' के रूप में होते हैं।

मेदःकणों का, पीतवर्ण एवं रक्तवर्ण लेकर 'पीतमज्जा' एवं 'लोहितमज्जा' का रूप ग्रहण करना और इस प्रकार रूप-परिवर्तन कर लेना, साथ ही इनमें गुण धर्म का परिवर्तन होना, यह सब आयुर्वेद की ट्रिष्ट से यहाँ के अग्निकर्म का परिणाम है और यह अग्निकर्म 'मज्जाग्नि' द्वारा सम्पन्न होता है।

मेद के कणों का पीतवर्ण, यहाँ सूक्ष्म रूप में विद्यमान खाद्योज 'सी' के प्रभाव से सम्भावित है। अन्य प्रकार के मेदःकणों का लोहितवर्ण या लालरंग उन रक्तवीजों के कारण है, जो यहाँ करोड़ों की संख्या में निर्मित होते हैं। इनके निर्माण में खाद्योज 'वी १२' विशेष रासायनिक क्रियायें सम्पन्न करता है। यह अग्निद्रव्य युवाशरीर की मज्जा में विद्यमान रहता है और यहाँ के कार्य एवं स्थान-विशेष के अनुसार मज्जाग्नि के अन्तर्गत हैं तथा उसका एक घटक है।

इस प्रकार मज्जा में स्थित पाचनांश, खाद्योज 'वी १२' आदि (ज्ञात अज्ञात) अग्निद्रव्य तथा इनकी क्रियाओं के लिए अपेक्षित ऊष्मा, ये सब मज्जाग्नि के अन्तर्गत हैं। इनका समष्टि रूप 'मज्जाग्नि' है, इसी को 'मज्जाग्नि पित्तोष्मा' कहा गया है।

मज्जाग्नि और वात

मज्जाग्नि के साथ 'वात' (समान वात) उसका सहकारी द्रव्य है। मज्जा में सूक्ष्मपित्त (या पित्तवर्गीय अग्निद्रव्यों) के सहस्र, सूक्ष्म वात भी—वायवीय प्रकृति के क्रियाशील अणुद्रव्यों के रूप में — विद्यमान रहता है।

इन क्रियाशील द्रव्यों में पीयूष ग्रन्थि के (अग्रिम खण्ड और विशेषतः मध्य खण्ड

के) स्राव,^६ तथा वृक्कोपरिवल्क के स्राव^७ प्रमुख हैं। ये प्रेरक स्राव हैं, जो रस रक्त में विलीन रहते हुए यहाँ के मेदःकणों को प्रेरित करते रहते हैं और उन्हें मज्जोन्मुख बनाते हैं। इनकी प्रेरणा से मेद के-कण अस्थियों की दिशा में गति करने लगते हैं और उनके भीतर — सुषिर भागों में (छिद्रों-विवरों तथा नलिकाओं में) प्रवेश कर करके वहाँ सन्निविष्ट होने लगते हैं।

उक्त वायवीय प्रकृति का अन्य द्रव्य खाद्योज 'सी' है, यह भी प्रेरक द्रव्य है और मज्जाघटों को सक्रिय बनाये रखने में सहायक है। मज्जा में— इसके कारण—घटों को परस्पर संयुक्त होने में भी सहायता मिलती है, क्योंकि इस खाद्योज 'सी' की उपस्थिति में अणुश्लेष्मा (शिलषजन)^८ के निर्माण का कार्य समुचित रूप में सम्पन्न होता है, यह श्लेष्मा, घटों को परस्पर आशिलष्ट करके उनका उपचय करता है। उक्त खाद्योज की उपस्थिति मज्जागत लोहित वीजों के निर्माण के लिए भी आवश्यक पाई गई है; क्योंकि इस साक्षील्प प्रेरक द्रव्य के अभाव में लोहित वीजों का निर्माण घट जाता है। यही खाद्योज मज्जा के श्वेतवर्ण रुधिरवीजों की क्रियाशीलता को भी बढ़ाता है।

इस प्रकार 'मज्जाग्नि' के रूप में जहाँ यकृत् अन्याशय पित्तवराकला आदि के—पाचकाग्नि के अंश (पाचनांश) एवं खाद्योज 'बी' १२ अग्निकर्म सम्पन्न करते हैं, वहाँ 'समान वात' के रूप में 'अग्निम मध्य पीयूष',—'वृक्कोपरिवल्क' के स्राव तथा खाद्योज 'सी' आदि वायवीय प्रकृति के द्रव्य उक्त अग्निकर्म के प्रेरक हैं।

मज्जाग्नि-कर्म और इसके परिणाम

अस्थिरचना के समय वात की प्रेरणा से रस रक्त (रंजित रस) में विद्यमान मेदोघट अस्थि-विवरों की ओर गति करने लगते हैं। इनके भीतर पहुँचकर नलिकाओं में तथा सुषिर संधात में ये यथास्थान सन्निविष्ट होते हैं। यहाँ इन पर आग्नेय द्रव्यों की—मज्जाग्नि की—क्रियायें होती हैं, जिनसे इन मेदोघटों में विभिन्न रासायनिक परिवर्तन आते हैं और कोटि-कोटि मेदोघट रुधिर के श्वेत वीजों, लोहित वीजों, चक्रिकाओं, पीतवर्ण मेदःकणों

-
- ६. 'एन्टीरियर पिट्यूटरी तथा पार्स इन्टरमीडिया के हार्मोन'—इनका विचार 'अन्तर्मुख ग्रन्थि स्रोतस्' के प्रकरण में अन्यत्र हुआ है।
 - ७. 'एड्रिनल कॉटेक्स का हार्मोन'।

तथा अन्यान्य विविधाकृति स्नेहघटों के रूपाकार ग्रहण करते रहते हैं। मेदो-घटों का इस प्रकार रूप-आकृति-वर्ण का परिवर्तन होने के साथ-साथ इनके गुण, धर्म और कार्य भी बदल जाते हैं और मेदोधातु के कण अब अन्य 'धातु' संज्ञा का—'मज्जा' का—नाम ग्रहण करते हैं।

मज्जा धातु के 'अग्नि' और इसके सहकारी 'वात' के प्रसंग से जिन विशिष्ट आग्नेय और वायवीय गुणधर्म रखने वाले अनुद्रव्यों के नामों का इससे पूर्व उल्लेख किया गया है, उनके लिए तथा उनके तुल्य अन्य द्रव्यों के लिए भी आयुर्वेद के प्राचीन विद्वानों ने 'सामान्य' नाम के रूप में 'मज्जाग्नि' और 'समान वात' शब्दों का ही प्रयोग किया है। उस 'सामान्य' में अनेकानेक ऐसे 'विशेष' नाम समाविष्ट किए जा सकते हैं, जिनमें से कुछ की आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा खोज की जा चुकी हैं और कुछ संभवतः भावी खोज के विषय हैं। अस्तु,

अन्य धात्वग्नियों की क्रियाओं से उत्पन्न परिणामों के सदृश मज्जाग्नि की क्रिया के भी तीन परिणाम^८ आयुर्वेद में कहे गये हैं।

(१) स्वधातु का निर्माण (स्थूल भाग) ।

(२) उत्कृष्टतर धातु के अंश का—'शुक्र' का निर्माण (सूक्ष्मभाग) ।

(३) किछु भाग की—इन्द्रिय मलों के स्नेहांश की—उत्पत्ति (स्थूल भाग) ।

स्वधातु के रूप में 'मज्जा' धातु के निर्माण की चर्चा ऊपर की गई है। इसका अधिक विस्तार धातु-उपधातु प्रकरण में हुआ है।

उत्कृष्टतर धातु के अंश के रूप में 'शुक्र धातु का उपादान-द्रव्य' मज्जाग्नि द्वारा प्रस्तुत होता है, यह विचार आयुर्वेद में प्रकट किया गया है। शुक्रगत स्नेहांश—आयुर्वेदीय मान्यता के अनुसार—मज्जाधातु के एक अंश का परिवर्तित रूप है। जैसा कि आगे शुक्रधातु के प्रकरण से विदित होगा, शुक्र धातु के निर्माणकारक ग्रन्थि स्रोतसों को उन्हीं श्वेत वीजों, रक्त वीजों, चक्रिकाओं तथा नाना प्रकार के स्नेहघटों से युक्त रस (रंजित रस) पहुँचता है, जिनका निर्माण मज्जा धातु के उदर में हुआ है, इस प्रकार मज्जांश का शुक्र तक पहुँचते रहना स्वाभाविक है।

तृतीयांश मज्जाकिछु के रूप में इन्द्रियमलों के साथ-साथ रहने वाला स्नेह

८. 'ततोऽपिमज्जः—पावक—पच्यमानात् मलो नयन-पुरीष-त्वचां स्नेहः, स्थूलो भागो मज्जा, सूक्ष्मः शुक्रम् ॥'

(सू० सू० १४-१० की टीका में डलहन)

है। इस स्नेहांश से युक्त मलों में, नेत्रादि इन्द्रियों के मलों का—पुरीषका—त्वचा के किट्ठ का परिगणन हुआ है। मज्जा के भीतर निर्मित और रंजित रस जिस प्रकार शुक्र आदि धातुओं को जाता है उसी प्रकार इन्द्रिय-गोलकों, अन्त्रभागों एवं त्वचा को भी पहुँचता है। ये इन्द्रिय आदि अवयव अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार—अपना पोषक अंश और क्लेदांश—इसमें से ग्रहण करते हैं, स्नेहांश भी इन्हें पहुँचता है। इन स्थलों में होते रहने वाले अग्निकर्म के परिणामस्वरूप यहाँ जिन किट्ठों का निर्माण होता है उनमें पार्थिव भाग के साथ-साथ आप्य भाग का—स्नेह का भी—किंचित् अंश रहता है। आयुर्वेद की मान्यता है कि यह किट्ठीभूत स्नेहांश वही स्नेह है, जिस पर मज्जाग्नि की क्रिया हो चुकी है।

शुक्राग्नि

शुक्र धातु के निर्माण में कारणभूत आग्नेय द्रव्यों तथा इनकी क्रिया के लिये अपेक्षित ऊष्मा को 'शुक्राग्नि' कह सकते हैं।

शुक्र

शुक्र शब्द से सामान्यतः वह स्राव समझा जाता है, जिसका मैथुनोपरात्त शिश्नमुख से निर्हरण हुआ करता है। उक्त शुक्र — कोई एक स्राव न होकर— अनेक स्रावों का मिश्रण है। इस मिश्रित स्राव में वह अंश भी सम्मिलित है, जिससे गर्भ की स्थापना होती है, वही अंश मुख्य है और शुक्र शब्द से यहाँ वह विशेष रूप से अभिप्रेत है।

शुक्र पर विस्तृत विचार 'धातु उपधातु' प्रकरण का विषय है, यहाँ शुक्राग्नि के प्रसंग में शुक्र संबंधी कुछ मुख्य-मुख्य वार्ताओं की चर्चा कर लेना उपयोगी है।

हमारे दैनिक आहार के रस से जिस रसधातु की पुष्टि होती है, वह रसधातु व्यानवात् द्वारा संचार करता हुआ देहव्यापी होता है। शुक्रवाही (एवं आर्तववाही) स्रोतसों तक भी वह पहुँचता है और शुक्रातंव का पोषण करता है। रस में आप्य-आग्नेय आदि सभी प्रकार के भौतिक अंश हैं, इसमें भिन्न-भिन्न अन्तर्मुख-ग्रन्थि-स्रोतसों के परिस्तुत स्राव भी मिश्रित होते हैं और नानारूप आग्नेय अणुद्रव्यों की रासायनिक क्रियायें होती रहती हैं। परिणामतः लगभग सभी धातुओं के उपादान भूत अंश रस में प्रस्तुत होते हैं। रस-रक्त संचार के समय ये अंश तत् तत् धातु तक पहुँचते हैं। सर्वांगव्यापी रस में शुक्र के उपादान-भूत अंश भी हैं, ये जब शुक्रवाही स्रोतसों तक पहुँचते हैं, तब उक्त स्रोतस् उसमें से अपने अंश ग्रहण कर लेते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि रस गत 'शुक्र के उपादान द्रव्य' (वा 'सूक्ष्म शुक्र') केवल शुक्रवहस्रोतस् तक सीमित नहीं हैं,

-
१. केवल एक स्थान पर सीमित न होने से ही—मानव शब की मृतक परीक्षा करने पर—'शुक्र' किसी स्थान-विशेष पर नहीं पाया जाता।
‘विशस्तेष्वपि गात्रेषु यथा शुक्रं न दूश्यते’। (सु० नि० १०।११)

प्रत्युत ये भी अन्य अनेक धातुओं के सहश 'देहव्यापीधातु'^३ के रूप में होते हैं। इसी से आयुर्वेद में शुक्रधरा कला सर्वागव्यापिनी^३ मानी गई है। 'शुक्रवह स्रोतस्' तो इस प्रकार के यन्त्र हैं, जो उक्त शुक्रोपादानभूत द्रव्य से विविध प्रयोजन सिद्ध करने के लिए इसे शुक्रबीजों का रूप तथा शुक्र सहयोगी नाना स्वावों का रूप प्रदान करते रहते हैं।

शुक्र के उपादानभूत अंशों से युक्त रसधातु यतः समस्त धातु-उपधातुओं—अंगावयवों तक संचरण करता रहता है, इस कारण इसके आश्रित, 'शुक्रोपादान' में सजीव देह के रूप-रंग, आकृति-प्रकृति, संस्कार-विकार आदि सूक्ष्म रूप में समाविष्ट होते हैं। शुक्रवहस्रोतसों में यह शक्ति होती है कि वे इस रस में से अपने उक्त उपादानभूत अंश का ग्रहण करके समस्त देह की प्रतिच्छवि या प्रतिविम्ब को शुक्रबीजों में केन्द्रित कर लेते हैं। इन शुक्रबीजों को आधुनिक समय में 'शुक्रकीट'^४ या शुक्राणु कहा जाता है।

लगभग यही स्थिति आर्तवीज या शोणितवीज की है। इसमें मातृ देह के रूप-रंग, आकृति-प्रकृति, संस्कार-विकार की प्रतिच्छवि केन्द्रित होता है। आर्तवीज को, जोकि अन्तःफल (डिम्ब ग्रन्थि) से उत्पन्न होती है, रजःकीट^५ कहते हैं।

इन शुक्रबीज और आर्तवीज का सम्मिलन होने पर गर्भ स्थापना के समय जिस एक की प्रवलता होती है, उसी के अनुसार पुंगर्भ या स्त्रीगर्भ रह कर उसका निर्माण होने लगता है।

ऊपर शुक्र के विभिन्न प्रयोजनों का और उन प्रयोजनों के अनुसार उसके नाना स्वरूपों का प्रसंग आया है। शुक्र के प्रयोजन अनेक हैं। आयुर्वेद की मान्यता यह है कि शुक्र यदि अपनी उचित मात्रा में रहे तो मनुष्य के देह मानस में कुछ विशेषतायें पाई जाती हैं, यथा—आपत्ति एवं दुःख में भी विचलित न होना, देह मन में शक्ति एवं उत्साह बना रहना, स्त्री के प्रति स्वाभाविक

२. 'कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्रम्'।

X

(सु० शा० अ० ४)

X

X

'कृत्स्नदेहात्-इत्यादि रसधातोः व्यानविक्षिप्तस्य सर्वदेहगतत्वात्।'

(सुश्रुत संहिता के स्तन्य प्रकारण में डल्हन)

३. 'सप्तमी (कला) शुक्रधरा, या सर्वप्राणिनां सर्वं शरीरव्यापिनी'।

(सु० शा० ४।२०)

४. पाश्चात्य क्रियाशारोर का नाम—'स्पर्मेटोजोआ'।

५. 'ओवम्'।

आकर्षण और प्रीति, सहवास के समय तत्काल शिश्न में हर्ष उत्पन्न होना तथा सहवास काल तक वरावर बना रहना, सहवासोपरान्त स्रावरूप से शुक्र का उचित मात्रा में बाहर आना और उस स्राव में विद्यमान शुक्रबीजों से गर्भस्थापना के प्रयोजन की 'वीजवत्' सिद्धि होना — इन प्रयोजनों को आयुर्वेद शास्त्र में धैर्य, देहवल, प्रीति, हर्ष, च्यवन और वीज शब्दों से कहा गया है।

उत्तर प्रयोजनों की सिद्धि किसी एक स्राव से नहीं होती, प्रत्युत सूक्ष्म, स्थूल, द्रव, पिच्छिल, सांद्र, चल, स्थिर आदि गुणों से युक्त अनेकानेक द्रव्यों द्वारा होती है, इन्हीं सबके मिश्रण से एक विशिष्ट पदार्थ निर्मित हो जाता है, जो मैथुनोपरान्त बाहर आकर श्वेत पिच्छिल पारदर्शक (स्फटिकाभ) सान्द्र स्राव के रूप में प्रकट होता है। इस समष्टि-द्रव को ही सामान्यतः शुक्र कहा जाता है।

ऊपर शुक्र के जिन प्रयोजनों की चर्चा हुई है, उनमें 'गर्भस्थापना' के लिए वीजवत् कार्य करना' यह प्रयोजन मुख्य है और इस प्रयोजन की सिद्धि जिस अंश से होती है उस 'शुक्रबीज' का स्वभावतः महत्त्व भी अधिक है।

शुक्रबीज पांचभौतिक एवं जीवनीशक्ति से सम्पन्न अणुद्रव्य है, यह प्राणमय एवं गतियुक्त है।^१ जिस द्रवमिश्रण में यह निर्मित रहता है, वह भी पांचभौतिक विशेषतः 'आप्यपार्थिव' अतएव सौम्य होता है।

यहाँ विशेष द्रष्टव्य यह है कि शुक्रधातु का प्रमुख अंश शुक्रबीज होता है, यही एक प्रकार से वास्तविक शुक्रधातु है, और 'शुक्राग्नि' का इससे विशेष सम्बन्ध है।

शुक्राग्नि का स्वरूप

शुक्र की प्रासंगिक संक्षिप्त चर्चा के उपरान्त शुक्राग्नि के स्वरूप का विचार उपस्थित होता है। 'शुक्राग्नि'—जैसा कि अन्य धात्वग्नियों की चर्चाओं के प्रसंग में आता रहा है—शुक्र से संबंधित 'पित्तोष्मा' है। अर्थात् शुक्रनिर्माण के लिए

६. 'शुक्रं धैर्यं च्यवनं प्रोत्ति देहवलं हर्षं (करोति) वीजार्थं च।' (सु० स० अ० १५१५)

X

X

X

'शुक्राद् गर्भः प्रसादजः।' (च० चि० अ० १५१६)

७. 'स प्राणः प्राणिनां स्मृतः'—'वायोश्चलनम्'-के अनुसार शुक्रवर्ज को ये विशेषतायें—'प्राकृत वात मूलक' हैं। —ले०

८. 'प्रोटोनस पलुइड़।'

उत्तरदायी 'पित्त' या 'आग्नेय प्रकृति के द्रव्य' एवं इनकी रासायनिक क्रियाओं के लिए अपेक्षित 'ऊष्मा' या ताप।

आयुर्वेद की प्राचीन सूत्रप्रणाली के अनुसार 'शुक्राग्नि' शब्द भी एक 'सूत्र' ही समझना चाहिए। इस सूत्र में शुक्रनिर्माण से संबंधित अग्नियों का 'सामान्य' रूप में उल्लेख है। आधुनिक समय में इनकी व्याख्याओं के रूप में 'विशेष' पर, अर्थात् शुक्र से संबंधित आग्नेय आदि द्रव्यों पर, कुछ कार्य हुआ है। यह संक्षेप में निम्न प्रकार है :-

अग्नि के प्रकरण में, इससे पूर्व, अन्य धात्वग्नियों की जहाँ-जहाँ विशेष चर्चा हुई है, वहाँ-वहाँ हम पढ़ आये हैं कि हमारे देह में इस प्रकार के रासायनिक एवं भौतिक अणुद्रव्य क्रियाशील रहते हैं, जो धातुओं के नव्य संघटन (एवं जीणाश विघटन) का कार्य करते रहते हैं। शुक्र की अर्थात् शुक्रवीजों की भी संरचना के लिए उत्तरदायी कुछ अणुद्रव्य ज्ञात किए गये हैं। इनमें खाद्योज या जीवतिती नाम से अभिहित करिपय जीवनीयों का तथा अन्तर्मुख ग्रन्थिस्रोतसों के वीर्यवान् सूक्ष्म स्रावों (ओजस द्रव्यों) का उल्लेख किया जा सकता है।

खाद्योजों में खाद्योज 'ई' प्रमुख है, यह अनेक आहार द्रव्यों^{१०} तथा औषध द्रव्यों^{११} के माध्यम से देह को प्राप्त होता है। प्राणियों के यकृत् वृक्क आदि अवयवों में तथा वसा एवं रक्तद्रव्य^{१२} में भी इसकी प्राप्ति हुई है।

आयुर्वेदीय हृष्टि से उक्त खाद्योज 'ई', प्रकृत्या, अग्निषोमीय^{१३} द्रव्य ज्ञात होता है। यह अणुद्रव्य वैसे तो देह की सभी कोषाओं की उत्पत्ति के

९. विटामिन "ई" ।

१०. आहार्य द्रव्य यथा—गोधूम, बिनौला, सलाद, तृणदुग्ध के भीतर यह अणुद्रव्य विशेष रूप से मिलता है और मक्खन, बादाम, मखाना, अण्ड (पतिभाग) आदि में आंशिक रूप से विद्यमान पाया जाता है।

११. औषध द्रव्यों में से—शतावरी, गोक्षुर, इमलो बोज, अश्वगन्धा, विधारा, भंगा आदि आयुर्वेदीय शुक्रवर्क द्रव्यों में भी यह द्रव्य प्राप्त होता है।

१२. 'ब्लडसीरम'।

१३. अश्वगन्धा, विधारा, बिनौला, बादाम, भंगा, यकृत्, अण्ड (पौत्रभाग) आदि उष्ण वीर्य द्रव्यों में आश्रित होने, देहकोशाओं को परिपक्व बनाने, एवं किसी (अभी तक अज्ञात) विकर संहति के रूप में परिणत होते हुए रासायनिक प्रक्रियायें सम्पन्न करने की इसकी विशेषतायें,—'इसके आग्नेय गुणविशिष्ट' होने का संकेत देती हैं।

लिए आवश्यक है, परन्तु 'शुक्रवीज' की तो इसके अभाव में उत्पत्ति, परिपक्वता, शक्ति सम्पन्नता और संख्यावृद्धि ही नहीं हो पाती। शुक्र जैसे सौम्य धातु को परिपक्वता एवं सारवता के लिए इसी प्रकार के अग्निषोमीय प्रकृति के वीर्यवान् द्रव्य की अपेक्षा भी होती है।^{१५}

शुक्रवीजों के प्रादुर्भाव के लिए अपेक्षित अन्य द्रव्य खाद्योज एच^{१६} है। यह आग्नेय द्रव्य रस-रक्त में पहुँचता है। यकृत एवं वृक्कों को भी जाता है और शुक्रवीजों के निर्माण में सहायता करता है। शुक्र का निर्माण करने वाले अन्य-तम अणुद्रव्य के रूप में यह रसधातु के साथ-साथ शुक्रवह स्रोतसों तक पहुँचता है और शुक्रवीजों की उत्पत्ति के बाद यह उनकी अभिवृद्धि करता है।

उपर्युक्त 'आग्नेय' एवं 'अग्निषोमीय' द्रव्यों के अतिरिक्त, शुक्रवीजों को प्रभावित करने वाले कतिपय 'वातसोमीय' अथवा कफवात धर्मा सूक्ष्म स्राव भी हैं।

इनमें पीयूष या पीषणिका^{१७} ग्रन्थ के अग्रिम खण्ड^{१८} का एक 'डिम्बाण्डोत्प्रेरक

किन्तु मक्खन, तृणदुरुध, मखाना, शतावरी, गोक्षुर, इमली बीज, आदि शुक्रवर्धक शीतवीर्य द्रव्यों में भी इसके आश्रित होने से और (पुरुषों में) शुक्राणुजपन-प्रजननशक्ति संवर्धन—(स्त्रियों में) बीजोत्पादन-सन्तानोत्पत्तिक्षमता—गर्भस्थापन, गर्भपोषण, गर्भसंरक्षण, उपचयकरण आदि कर्मों से यह 'आप्यवर्गीय या सौम्य' भी सिद्ध होता है।

१४. संभवतः अपनी 'अग्निषोमीय' प्रकृति के कारण ही यह 'रात्सायनिक' एवं 'पोषक' दोनों विशेषतायें रखता है। यह द्रव्य, रस, रक्त, मांस, अस्ति, शुक्र धातुओं का—स्नायु, सिरा, घमनी, गर्भ आदि उपधातुओं का—एवं नेत्र, हृदय, वृक्क, वस्त्र, वृषण, गर्भशाय आदि मर्मभूत अवयवों का भी पोषक, उपचयकारक, रक्षक-अपचय निवारक तथा विकासकारक सिद्ध हुआ है। शुक्रके साथ-साथ यह देह धातुओं के प्रत्येक कोशा की संरचना के लिये आवश्यक समझा जाता है।

१५. खाद्योज 'एच' या 'वायोटिन'। यह 'वी' वर्ग का खाद्योज है। यह वन-स्पतियों, अनाजों, किण्वद्रव्य तथा सीरे के अतिरिक्त अण्ड (पोतभाग) में एवं प्राणियों के यकृत, वृक्क आदि दें भी अंशतः उपलब्ध हुआ है। यह देह के भीतर स्थूलान्त्र में भी निर्मित होता रहता है और इसका यहाँ रूप अधिक देहसत्त्व एवं उपयोगी भी पाया गया है।

१६. 'पिट्यूटरो ग्लैण्ड।'

१७. 'एन्टीरियर लोब'।

ओज’^{१८} प्रमुख है। यह प्रेरक, अभिवर्धक एवं विकासकारक सूक्ष्म द्रव्य है, जो साथ-साथ नियामक का भी कार्य सम्पन्न करता है। साम्यावस्था में इसकी प्रेरणा से किशोरवय के पुरुषों में उनके अण्डयुगल (वृषण) का विकास एवं संवर्धन होता है, जिनमें आगे शुक्रबीज उत्पन्न हो पाते हैं। वालाओं में इसकी प्रेरणा से डिम्ब (अन्तःफल) का विकास एवं वृद्धि होकर बाद में उनसे आर्तव-बीज (रजःकीट) निर्मित होते हैं। साथ ही स्तन-ग्रन्थियों का भी यथासमय उद्भव, संवर्धन एवं विकास होता है।

वास्तव में उक्त ‘डिम्बाण्डोत्प्रेरक ओज’ में कई अंश सम्मिलित हैं। एक अंश ‘स्यूनिकोत्प्रेरक ओज’^{१९} है। इस वीर्यवान् अणुद्रव्य के प्रभाव से पुरुषों के वृषणाण्डों में शुक्रबीजोत्पादक कोशायें प्रकट होकर शुक्रबीजों के रूप में विकसित होती हैं। इसी प्रकार स्त्रियों में इसके प्रभाव से डिम्बग्रन्थि (अन्तःफल) में से आर्तवबीजोत्पादक कोशा का प्रादुर्भाव होकर वह आर्तवबीज या ‘रजःकीट’ में विकसित होती है। इसी महत्त्वपूर्ण द्रव्य की प्रेरणा से शुक्रसार ओज (अण्डोज)^{२०} एवं स्त्रियों में रजओज (डिम्बोज)^{२१} का प्रादुर्भाव होता है।

‘डिम्बाण्डोत्प्रेरक ओज’ में अन्य अंश ‘पीतांगोत्प्रेरक ओज’^{२२} है। इसकी प्रेरणा से स्त्रियों में आर्तवबीज डिम्ब के बाहर निकलता है, ‘पीतांगोज’^{२३} नामक एक गर्भस्थापक ओज की उत्पत्ति होती है, और पुरुषों में शुक्रसार ओज या अण्डोज अन्तर्मुख-स्रोतस् के बाहर जाता है।

‘डिम्बाण्डोत्प्रेरक ओज’ का ही एक अंश ‘पुरोस्तन्यीन’^{२४} है, जो स्त्रियों में स्तनग्रन्थियों से दुग्ध को प्रेरित करके स्रोतसों से बाहर लाने में सहायता देता है।

उक्त प्रकार से, इन तीनों अंशों से युक्त ‘डिम्बाण्डोत्प्रेरक ओज’ शुक्रवाही स्रोतसों पर वातसोमीय प्रकृति की क्रियायें अर्थात् उत्पादन, प्रेरण, नियमन की क्रियायें करता है।

इसी प्रकार का एक अन्य—‘वल्की योनांगोज’^{२५} नाम का सूक्ष्म प्रेरक द्रव्य ‘वृक्कोपरिग्रन्थि के वल्क’^{२६} में से प्रादुर्भूत होता है। स्त्री-पुरुष प्रभेद से यह दो

१८. ‘गॉनेड्रोट्रोपिक हामोन’

१९. ‘फॉलिकल स्टमुलेरिंग हामोन’।

२०. ‘टेंस्टोस्टीरोन’।

२१. ‘ऑयस्ट्रेडियल’।

२२. ‘ल्युटिनाइ जिग हामोन’।

२३. ‘प्रोजस्टोरोन’।

२४. ‘प्रोलैक्टीन’।

२५. ‘कॉर्टिकलसेक्स हामोन’।

२६. ‘एड्रिनल कॉटेक्स’।

प्रकार का पाया गया है। यह भी वातसोमीय या वातश्लेष्मधर्मा द्रव्य ज्ञात होता है। क्योंकि यह प्रेरक, संवर्धक तथा विकासकारक साव है। इसके अन्य-तम अंश 'नरयोनांगोज'^{२७} की समावस्था में—इसकी प्रेरणा से—पुरुषों में शिशन-वृद्धि, वृषणाण्ड-विकास तथा इनके साथ-साथ पुरुषोंचित् चिह्नों के रूप में कूच्छ-श्मशु की उत्पत्ति हो पाती है। स्त्रियों में, उनके 'स्त्री योनांगोज'^{२८} की समावस्था में डिम्ब एवं स्तन-ग्रन्थियों का उट्टभव तथा विकास होता है।

ऊपर दिये गये विवरणों से स्पष्ट है कि 'अग्नि-वायु-उदकधर्मा' (पित्त वात श्लेष्म रूप) नाना प्रकार के सूक्ष्म द्रव्यों को क्रियाओं से स्त्री-पुरुषों की जननेन्द्रियाँ—विशेषतः शुक्रार्तव वह स्रोतस् (वृषण), अन्तःफल आदि प्रभावित होते हैं।

इनमें शुक्रवीज एवं आर्तववीज की उत्पत्ति कराने वाले ३ मुख्य द्रव्य हैं— 'खाद्योज ई', 'वायोटिन' तथा 'डिम्बाण्डोत्प्रेरक ओज'। इनमें 'खाद्योज ई' एवं 'वायोटिन' अग्निषोमीय और 'डिम्बाण्डोत्प्रेरक ओज' वातसोमीय, ज्ञात होते हैं।

'शुक्र' श्लेष्मा का आश्रयभूत धातु है। इसके निर्माण के लिए उपादानभूत द्रव्य 'सौम्य' या सोमवर्गीय होना चाहिए। इस उपादान की परिपक्वता के लिए आग्नेय द्रव्य अपेक्षित है। उपादानद्रव्य या निर्माण सामग्री से धातुरूप शुक्र की उत्पत्ति कराने के लिए प्रेरक या वातधर्मा द्रव्य भी अपेक्षित है। इस प्रकार शुक्र धातु के लिए सोम, सूर्य, अनिल तीनों के संयुक्त रूप में ऊपर तीन सहयोगी सूक्ष्म द्रव्यों की चर्चा हुई है।

शुक्राग्निकर्म और उसके परिणाम

शुक्राग्नि के इस प्रकरण के पूर्व के प्रकरण में इस तथ्य का उल्लेख हो चुका है कि आयुर्वेदीय मान्यता के अनुसार मज्जा धातु पर मज्जाग्नि की क्रियाओं के उपरान्त जो सूक्ष्म धात्ववंश प्रस्तुत होता है, वह मज्जा से उत्कृष्टतर धातु का—शुक्र का—मुख्य उपादान द्रव्य है। जैसा कि प्रथम कहा जा चुका यह उपादानभूत द्रव्य रस-रक्त में मिश्रित रहता है, अन्नरस से इसकी पुष्टि होती है और यह देह भर में व्याप्त होता है।

इसे शुक्र का पूर्वरूप समझना चाहिए। आयुर्वेद में इसे सूक्ष्म^{२९} और

२७. 'मेल सेक्स हार्मोन'

२८. 'फ्रोमेल सेक्स हार्मोन'

२९. 'ततोऽपि मज्जः पावकपच्यमानत् ... 'सूक्ष्मः शुक्रम्'

(सु० स० अ० १४।१० की टोका में डल्हन)

अनभिव्यक्त शुक्र^{३०} कहा गया है। देहोत्पत्ति से लेकर वात्यवय तक यह इस अव्यक्त रूप में रहता है।

यतः शुक्रधातु का मुख्य प्रयोजन 'अन्य देहोत्पत्ति' है और तारुण्यकाल आने पर इस प्रयोजन को सिद्ध अभीष्ट होती है, अतः उससे पहिले तक देह में धातुरूप शुक्र का निर्माण अनावश्यक है। इसी से तब तक इसकी अभिव्यक्ति पर नियमन रहता है^{३१} और उस समय तक शुक्राग्नि की क्रिया भी देह में नहीं होती। तारुण्यकाल उपस्थित होने पर शुक्राग्नि की क्रियाएँ होने के लिए देह के भीतर कुछ आवश्यक परिवर्तन आरम्भ होते हैं।

सर्वप्रथम वातसोमीय अथवा वातश्लेष्मधर्मा वीर्यवान् द्रव्य 'वल्की यौनांगोज' एवं 'हिम्वाण्डोत्प्रेरक ओज' के प्रभाव से नर देह के भीतर शिशनवृद्धि, वृष्पणाण्ड प्रादुर्भाव आदि तारुण्योचित परिवर्तन आते हैं। इसी प्रकार वालाओं के नारीदेह के भीतर जननेन्द्रिय विकास, अन्तःफल प्रादुर्भाव, स्तनवृद्धि आदि होती है।

पुरुषों में वृष्पणाण्ड और स्त्रियों में अन्तःफल या डिम्बग्रन्थियाँ, मूलशुक्र एवं मूलआर्तव के—अर्थात् शुक्रबीज एवं आर्तवबीज के उत्पत्ति-स्थल हैं। ये जब अपने-अपने क्षेत्रों में प्रादुर्भूत होकर संवर्धित और विकसित हो चुकते हैं, तब शुक्राग्नि को क्रियाएँ आरम्भ होती हैं। यह स्मरणीय है कि जिन्हें हम वृष्पणाण्ड नाम देते हैं, वे शुक्र निर्माणकारक नाड़ियों के पिण्डित रूप हैं, जहाँ अणुकोशाओं के रूप में शुक्रबीज जन्म लेते हैं।

देह के भीतर शुक्राग्नि के रूप में जो जीव-रसायन-द्रव्य प्रादुर्भूत होकर अब तक रक्त में संचरित हो रहे थे, वे इस समय (मज्जाग्नि द्वारा प्रस्तुत किये गये) शुक्रोगादानद्रव्य के साथ-साथ शुक्रवह लोतसों की ओर आने लगते हैं।

शुक्रवह स्रोतस्—पुरुषों में—त्रृपणों से आरम्भ होकर शिशन^{३२} तक के क्षेत्र में, देह के भीतर हैं और अण्ड^{३३}, अधिवृष्पणिका^{३४}, शुक्राशय^{३५},

३०. '...केवल सौक्ष्यात् न अभिव्यज्यते -'। (सु० स० अ० १४। १८)

३१. देह में स्थित 'थायमस' नामक ग्रन्थि का वातधर्मा साव इसका नियामक है। यह साव शुक्र को अल्पायु में व्यक्त नहीं होने देता। ले०

३२. 'शुक्रवहानां लोतसां वृष्पणौमूलं शेफङ्ग्च'। (च० वि० ५१८)

३३. 'टेस्टीक्स'।

३४. 'एपिडिग्मस'।

३५. 'वैसिक्युला सेभिनेलिस'।

वस्तिशिर या पौरुष ग्रन्थि^{३६} एवं कूपर ग्रन्थियों^{३७} के युगल के रूप में अवस्थित हैं। ये सब ऐसे यन्त्र हैं, जो शुक्रवीजों एवं भिन्न-भिन्न शुक्रस्रावों को जन्म देते हैं। उक्त सभी यन्त्रावयव मिलकर शुक्रवहस्तोतस् कहे गये हैं। स्थियों में इन स्रोतसों को स्तनग्रन्थियों से वृषणद्वय (अन्तःफलद्वय) तक माना गया है।^{३८}

शुक्रवहस्तोतसों में आकर, शुक्राग्नि की क्रियाओं से, उक्त उपादान द्रव्य परिपक्व होता है और वहुसंख्यक शुक्रवीजों के तथा अन्यान्य शुक्रस्रावों के रूप में परिणत होने लगता है। शुक्रवीजों का^{३९} प्रादुर्भाव एवं संवर्धन होकर इनमें परिपक्वता आती है और एक सीमा तक इनका विकास पूर्ण होता है।

पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट है कि शुक्रवीज के प्रादुर्भाव, वृद्धि और विकास के लिए, वातसोमीय प्रकृति के डिम्बाण्डोत्प्रेरक अणुस्राव का अन्यतम अंश 'स्युनिकोत्प्रेरक स्राव' उत्तरदायी है, बीज का निर्माण 'शुक्रवहस्तोतस्' में होता है और इसको परिपक्वता 'शुक्राग्नि' द्वारा हो पाती है। इसी प्रकार आर्तव-वीज की उत्पत्ति, वृद्धि और विकास के लिए भी वातसोमीय प्रकृति का 'स्युनिकोत्प्रेरक स्राव' उत्तरदायी है, इसका निर्माण और जन्म 'अन्तःफल' से होता है और इसकी परिपक्वता अपनी अग्नि द्वारा होती है।

उक्त शुक्रवीज एवं आर्तववीज, दोनों में, 'अन्य देहोत्पादन क्षमता' का प्रादुर्भाव होना 'श्लेष्म कर्म' है, इसे आयुर्वेद में प्राकृत श्लेष्मा का अन्यतम कर्म—'वृषता' कहा गया है।

शुक्रवीज वहुसंख्या में^{४०} जन्म लेते हैं। किन्तु आर्तववीज, उभय अन्तःफलों से एक मास में एक ही प्रादुर्भूत होता है।

शुक्रवीजों को वहन करके यथास्थान ले जाने के लिए तथा 'हृष्ण', 'प्रीति' आदि की उत्पत्ति कराने के लिए अन्यान्य स्राव भी शुक्रवहस्तोतसों के यन्त्रावयवों से जन्म लेते हैं। मैथुनोपरान्त ये सब समष्टिरूप में शिशन मुख से बाहर विसर्जित होते हैं और 'शुक्र' कहाते हैं।

३६. 'प्रोस्टेट'। ३७. 'कूपर्स ग्लैड'।

३८. 'शुक्रवहे द्वे तयोर्मूलं स्तनौ वृषणौ च'। --(सु० शा० ११२)

३९. शुक्रवीज को पाश्चात्य विज्ञान में 'स्पर्मेटोजोन' (वहुवचन में 'स्पर्मेटोजुआ')

नाम दिया गया है

'शुक्रवीज'—'शुक्र' आदि का विस्तृत वर्णन धातु उपधातु प्रकरण में है।

४०. इनकी संख्या, एक बार के सहवास जनित शुक्रस्राव में, दो करोड़ से अधिक

पाई गई है।

शुक्रोपादान पर शुक्राग्निकर्म के परिणाम रूप में इसके केवल ही भाग होते हैं—स्थूल भाग 'शुक्र'धातु (जिसमें शुक्र वीज एवं अन्यान्य साव सम्मिलित हैं) और सूक्ष्म भाग 'शुक्रोज'। मल भाग उत्पन्न नहीं होता।

'शुक्र' देह का अन्तिम धातु है। नाना देहगिनियों द्वारा परिपाक होते-होते अत्यन्त निमंल हो चुकने से अन्त में इसका कोई उपमल उत्पन्न नहीं होता; जैसे बहुत बार तपाये हुए सुवर्ण में से मैल नहीं निकलता।^{११}

शुक्र, सौम्य—अर्थात् आप्य (जलीयांश वहुल) धातु है। यह श्वेत पिच्छल स्राव के रूप में वाहर आता है।

चुक्रोज या ओज, स्नेहांशवहुल^{**} और तेजस्वी अर्थात् विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न सूक्ष्म द्रव्य है। यह अन्तःस्नाव^{***} है, जो देह के भीतर ही भीतर, चुक्रवह स्रोतसों से जन्म लेकर, संचरित होता रहता है, बाहर नहीं आता। इसे अष्टांगसंग्रहकार ने 'चुक्रसार ओज'^{****} कहा है।

४१. स्वागिनभिः पच्यमानेषु मलः षट्सु रसादिषु ।

न शुक्रे पच्यमानेऽपि हेमनीवाक्षये मलः । (सु० स० १४१०)

× × ×

‘ततः पुनः पच्यमानात् उपमलो नोपपद्यते सहलघाध्मात्सुवर्णवत् ।’

(उक्त श्लोक की टोका में डल्हन)

४२. '..., स्नेहं भागः सूक्ष्मः तेजोभूतं ओजः'। (उल्हन)

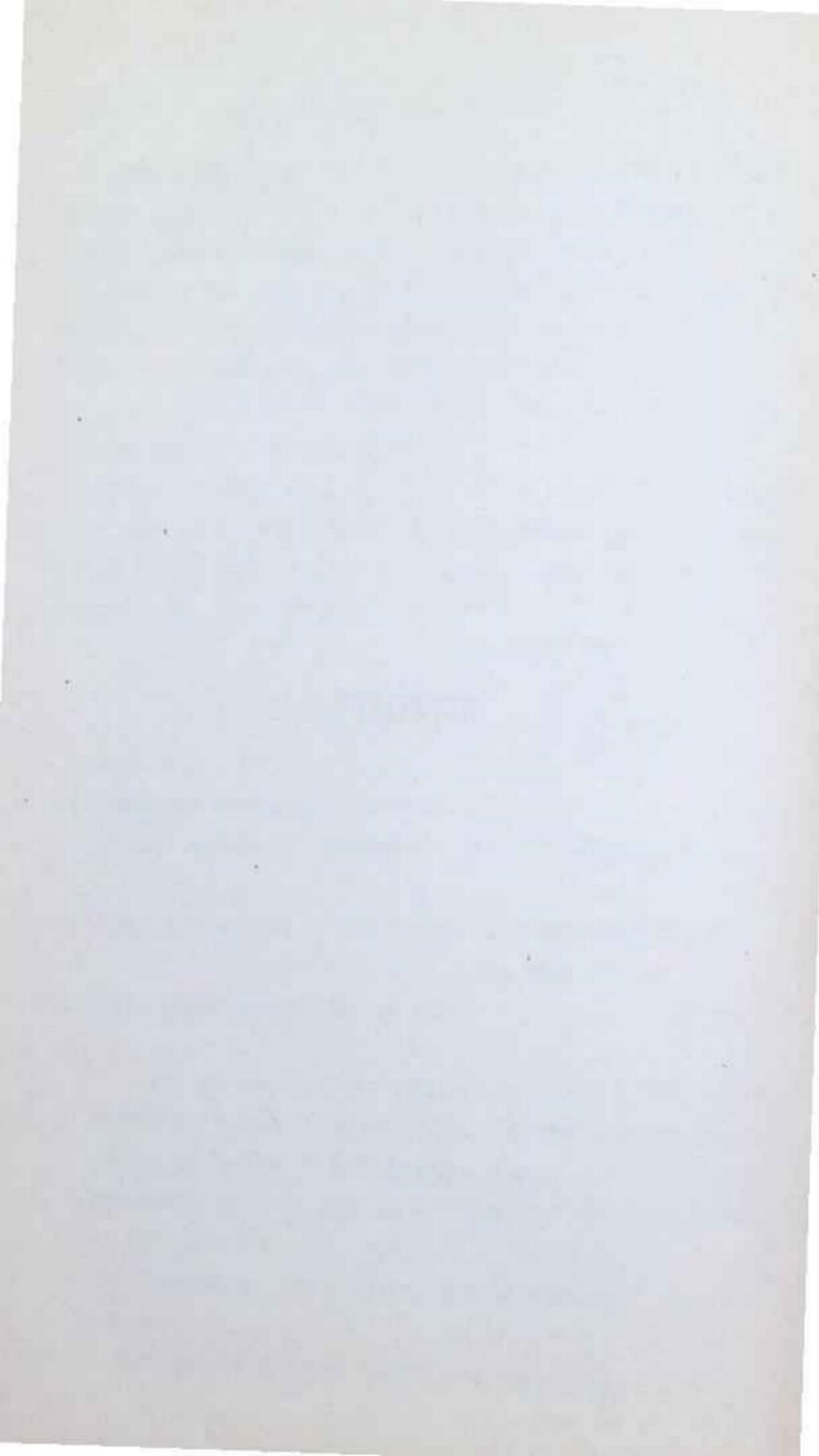
इस 'शुक्रसार ओज' और पाश्वात्य क्रिया-शारीर के 'टेस्टोस्टोरोन' में सम्म है। आयुर्वेद में शुक्रसार ओज को 'स्नेह भाग' कहा गया है, टेस्टोस्टोरोन भी 'स्टोरायड' (उपस्नेह) है। शुक्रसार ओज एक तेजोभूत असाधारण शक्ति सम्बन्ध सूक्ष्म द्रव्य है, टेस्टोस्टोरोन भी ऐसा ही प्रभाव-शाली अणुलाव है।

४३. इस अन्तःलाव का विशेष विचार 'अन्तर्मुख ग्रन्थिलोत्स' प्रकरण में हुआ है।

४४. 'शुक्रस्यारं ओजः' : अत्यन्त शुद्धतया तस्य मलाभावः ।

(अ० सं० शा० अ० ६)

उपसंहार



पाचकाग्नि की प्रधानता

गत प्रकरणों में अग्नि और उसके भेदोपभेदों का विस्तृत वर्णन हुआ है। अग्नि के त्रयोदश उपभेदों के स्वरूप, स्थान, क्रियाकलाप एवं क्रियाजन्य परिणामों का भी यथास्थान विचार हो चुका है। त्रयोदश उपभेदों का संक्षिप्त रूप 'अग्नित्रय' है, जिसमें पाचकाग्नि, भूताग्नि, धात्वग्नि का समावेश है। अग्नि के इन तीन भेदों के उत्कर्षपकर्ष की दृष्टि से भी आयुर्वेद में विचार हुआ है और यह मत प्रकट किया गया है कि इन तीनों में पाचकाग्नि सबसे अधिक महत्वपूर्ण अतएव प्रधान अग्नि है।

उक्त स्थापना को समझने के लिए इस विषय की चर्चा करना आवश्यक है।

लोक में जन्म लेने के उपरान्त जब मानवशिशु स्तनपायी होता है, तब आरम्भिक आहार के रूप में वह दुध का सेवन करता है। इस प्रथम आहार के महास्रोतस् में आने पर, उसकी पाचकाग्नि की क्रियायें आरम्भ होती हैं। मानवदेह में आहारपचन का यह प्रथम अग्निकर्म है—जिसे पाचकाग्नि सम्पन्न करती है, इसके उपरान्त आहाररस पर भूताग्नियों और धात्वग्नियों की क्रियायें होने लगती हैं। प्रथमाग्नि या अग्रणी अग्नि होने से पाचकाग्नि का स्वभावतः अग्रिम स्थान है। शिशु के शरीर में यह अग्नि किसी कारण दूषित हो तो अन्य अग्निकर्म निष्फल रहते हैं और तब शिशु क्रमशः क्षीण एवं उपशुष्क होकर कालकवलित होने लगता है। इस प्रकार पाचकाग्नि का सर्वप्रथम और सर्वाधिक महत्व स्वतः स्थापित होता है।

पाचकाग्नि की क्रियायें वाल, युवा, वृद्ध शरीरों में और नर-नारी देहों में इस समय से आरम्भ होकर जीवनपर्यन्त होती रहती हैं।

पाचकाग्नि—जैसा कि सुविदित है—हमारे कोष्ठ में आहार पचन की क्रिया सम्पन्न करती है। इस पचनक्रियाकाल में आहार का संघात भेद¹

१. 'उक्तं च जाठे अग्निना पूर्वं कृते संघातभेदे पश्चाद् भूताग्नयः स्वं स्वं द्रव्यं पचन्ति'।

पाचकाग्नि द्वारा ही होता है, जिससे आहाररस में पार्यव, आप्य, आग्नेय-वायव्य, नाभस अंश पृथक्-पृथक् होते हैं और पार्यवाग्नि, आप्याग्नि, आग्नेयाग्नि, वायव्याग्नि, नाभसाग्नि, ये पाँच भूताग्नियाँ अलग-अलग और स्वतन्त्र सत्ता ग्रहण करती हैं। भूताग्नियाँ—इससे पूर्व—जब तक अपने-अपने द्रव्यों में व्यस्त या निविष्ट होकर रहती हैं, तब तक अलस या निष्क्रिय रहती हैं, स्वतन्त्र रूप में आकर ही क्रिया कर सकने योग्य होती हैं। पाचकाग्नि इन्हें स्वतन्त्र बनाने के साथ-साथ अपने आग्नेय अंशों से उद्बुद्ध या उद्दीप्त^१ भी करती है, इनकी शक्ति को जागरित करती है, जिससे ये क्रियाशील होती हैं। भूताग्नियों को इस प्रकार स्वतन्त्र, उद्बुद्ध, सशक्त एवं सक्रिय बनाने का श्रेय पाचकाग्नि को है, इस दृष्टि से इसका महत्व बढ़ जाता है।

पाचकाग्नि का स्थान कोष्ठ है। कोष्ठ को इसका अपना आवासस्थल या 'स्वस्थान' कहा गया है। कोष्ठ अनेक कोष्ठांगों का समूह है, जिसमें मुख से गुद-पर्यन्त समस्त महास्रोतस् तो आता ही है, साथ ही इसमें यकृत, प्लीहा, पित्ताशय, अग्न्याशय आदि अनेक अवयव समाविष्ट हैं। पाचकाग्नि या पाचकपित्त में जहाँ महास्रोतःस्थित मुख, आमाशय, ग्रहणी, पित्तधराकला के भिन्न-भिन्न स्राव सम्मिलित होते हैं; वहाँ यकृत, पित्ताशय, अग्न्याशय के अनेक स्राव भी इसे समर्पित होते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त कोष्ठावयवों के स्राव—समष्टिरूप में—पाचकपित्त या पाचकाग्नि है। कोष्ठगत आहारद्रव्यों पर जब पाचकाग्नि क्रियायें करती हैं, तब ये सभी स्राव, उपयुक्त समयों में, अपनी-अपनी क्रियायें उस पर करते हैं। अपने-अपने स्रोतसों से वहिर्मुख होकर और महास्रोतस् में परिस्फुट होकर ये स्राव क्रमशः आ-आकर आहार में मिलते हैं, क्रियायें करते हैं, क्रिया पूर्ण करके उक्त आहार में ये मिश्रित हो जाते हैं। कोई स्राव सम्पूर्ण रूप में और कोई आंशिक रूप में आहार के साथ रहते हैं। कोई-कोई रूप-परिवर्तन करके आहार में विलीन होते हैं। कोई उससे अंशतः पृथक् होकर आगे भी चले जाते हैं। परन्तु उक्त स्राव अपनी-अपनी क्रियायें करने के उपरान्त भी आहाररस में से पृथक् नहीं होते, ये अंशतः या पूर्णतः—स्वरूप में या विरूप में—और व्यक्त या अव्यक्त होकर आहाररस में रहते अवश्य हैं। आहारवर्ती आग्नेय अंश तो आहाररस में सम्मिलित होते ही हैं, भूताग्नि रूप अंश भी इसमें रहते हैं।

२. 'भौम्यादयः पञ्चऊष्माणः—जाठराग्निवलसंधुक्षित वलाः।'

(च० च० अ० १५।१३ की टीका में चक्रपाणि)

पाचकाग्नि के उक्त अंशों (पाचकांशों) को लिये हुए आहाररस, रसायनियों द्वारा, हृदय एवं यकृत् आदि तक और वहाँ से रस रक्त को तथा समस्त धातु-उपधातुओं को जाता है। आहाररस के साथ-साथ अग्नि के ये अंश धातु कोशाओं तक जा पहुँचते हैं। ये उन कोशाओं की सेवा के लिए उनके भीतर आश्रय लेते हैं और यथावसर धात्वविनियों को प्रदीप्त करते हुए धात्वग्नि पाक में योग देते हैं—ऐसी आयुर्वेद की मान्यता है।

इस प्रसंग में यह द्रष्टव्य है कि वाग्भट द्वारा शताव्दियों पूर्व प्रतिपादित—आमाशयोत्पन्न एक आग्नेयांश या पित्त (अथवा, वहुत बाद में कॅसल द्वारा निर्दिष्ट रसायन द्रव्य 'एडिसीन' नामक म्यूकोप्रोटीन) तो रक्तग्निरूप 'बी १२' को अपने साथ संलग्न करके—रस रक्त में होता हुआ—अस्थि और मज्जा धातु तक जा पहुँचता है।

इसी प्रसंग में एक अन्य तथ्य भी ध्यान देने योग्य है। कोष्ठस्थ पाचकाग्नि या पाचकपित्त का प्रमुख स्रोत यकृत् नामक कोष्ठांग को माना गया है। यकृत् में रहनेवाले यकृतीन (हिपेटीन) नाम के द्रव्य को यदि सूचीवेद द्वारा रस रक्त में पहुँचा दिया जाय तो पता चलता है कि इसके सूक्ष्मांश धातुधर्टों तक पहुँचकर उन्हें उद्दीप्त करते हैं और उनमें से 'स्नेह विश्लेषी' पाचनांशों को परिस्तृत करते हैं; जिनसे स्थानीय स्नेहों का पचन होता है।

पूर्वोक्त दोनों तथ्यों के प्रकाश में यह मानना उपयुक्त जान पड़ता है कि याकृतसाव तथा इसी प्रकार के पाचकाग्नि के अन्यान्य कतिपय अंश महास्रोतस् से आचूषित होकर धातुओं तक पहुँच सकते हैं।

आधुनिक समय में रोगियों को वहुधा पुरस्कृत किये जानेवाले यकृतसार (लिवर एक्सट्रैक्ट) के सूचीवेधों का भी यह परिणाम देखने में आता है कि इनके उद्दीपनकर्म द्वारा धातुओं के भीतर इस प्रकार के अग्निद्रव्य (धातुगत पाचनांश) जन्म लेने लगते हैं जो रस, रक्त, मांस आदि का निर्माण कराया करते हैं। इस प्रकार यकृतसार के रूप में पाचकाग्नि के अंश धातुओं तक पहुँचे होते हैं। वहाँ अपनी धातु संभुक्षण (उद्दीपन या उत्तेजन) कियायें करने के कारण ये रसक्षय, पाण्डु, शोष आदि में लाभदायक सिद्ध होते हैं।

कोष्ठस्थ पाचकाग्नि के कतिपय वहिमुख स्रोतसों और उनसे निकलनेवाले स्रावों की ऊपर चर्चा हुई है। इस अग्नि का एक प्रमुख स्रोत ऐसा भी है जो वहिमुख या कोष्ठमुख होने के साथ-साथ अन्तर्मुख या शाखाओंमुख भी है। अन्तर्मुख स्रोत का आग्नेयरस शाखाओं में अर्थात् रस रक्त में लीन होकर धातु-कोशाओं को पहुँचता रहता है। उक्त द्विमुख अग्निस्रोत को परवर्ती वैद्यों

ने—शार्ङ्गधर आदि ने—एक पृथक् नाम 'अग्न्याशय' दिया है। अग्न्याशय के वहिमुख अन्तमुख, दोनों स्नाव परम आग्नेय हैं।

वहिमुख स्नाव (अग्न्याशय स्नाव)^१ महास्रोतस् में आहार के पचन को पूर्ण करता है। इसका अन्तमुख स्नाव (अग्निरस)^२ भीतर ही भीतर धातुकोशाओं में पहुँचकर पार्थिव इन्धनद्रव्य (शर्करा) का दहन करके ऊष्मा एवं ऊर्जा (आग्नेयबल)^३ को जन्म देता है।

उक्त वहिमुख और अन्तमुख स्नाव—ये दोनों ही—पाचकाग्नि के मुख्य-मुख्य अंशों में हैं। इनमें अन्तमुख स्नाव—अग्निरस के रूप में तो—पाचकाग्नि के अंश स्पष्टतः धातुओं तक पहुँचते हैं।

आमाशय यकृत् अग्न्याशय के इन पाचकांशों के अतिरिक्त अन्य कतिपय ऐसे अंश हैं, जो महास्रोतोगत पाचकस्नावों में तो रहते ही हैं—धातुकोशाओं में भी उपलब्ध होते हैं^४। ये पाचकाग्नि के संभवतः ऐसे अंश हैं, जो आहाररस के

३. 'पंकियाटिक जूस'

४. 'इन्सुलीन'

५. 'इनजर्जी'

६. उक्त प्रकार के पाचनांशों में—जिनकी महास्रोतस् के साथ-साथ रस-रक्तादि धातुओं में भी विद्यमानता पाई गई है—गिर्जनलिखित आग्नेय द्रव्यों की गणना को जा सकती है।

(क) एमायलेज—यह अग्निद्रव्य या पाचनांश महास्रोतस् के स्नावों में होता है। वहाँ यह आहार के इन्धनद्रव्य पिष्टसार (स्टार्च) को पचाकर उसे धान्यशर्करा में परिणत करता है।

उक्त एमायलेज, धातुओं में—रस, रक्त, मांस आदि में—उपलब्ध होता है। वहाँ यह 'धात्वग्नि' रूप है और अन्तरग्नि (एन्डोएन्जाइन) कहाता है। वहाँ पर दृष्टि द्राक्षाशर्करा का दहन करता हुआ धात्वग्निपाक क्रिया को सम्पन्न करता है।

(ख) लायपेज—यह स्नेहपाचनांशरूप अग्नि है। महास्रोतस् के अमाशय, अग्न्याशय एवं ग्रहणोक्तेर में रहता हुआ यह आहार के आप्य अंश का—स्नेह द्रव्यों का—पचन करके उन्हें स्नेहांश्ल और दधुरोल में परिवर्तित करता है।

उक्त पाचनांश, रक्त-मेद-मज्जा धातुओं में भी उपलब्ध होता है। वहाँ यह, पाचकाग्नि द्वारा पूर्व परिणमित स्नेहों को विघ-

साथ अव्यक्त रूप में रहते हुए धातुओं तक पहुँचते हैं और यथास्थान अपने व्यक्त रूपों में आ जाते हैं।

इस प्रकार पाचकाग्नि का प्रसार महालोतस् से धातुओं तक होता है और यह तथ्य भी पाचकाग्नि के महत्व का द्योतक है।

हमारे देह में अग्निकर्म करनेवाले जितने पित्त या अग्निद्रव्य हैं, उनके स्थूल सूक्ष्म सभी न्याय पांचभाँतिक होते हुए भी—जाहूल्य की इष्टि से—पार्यिव (प्रोभूजिन निर्मित)^५ हैं। अपनी प्रकृति से ये आनेय (अग्निकर्म या रसायनधर्म) हुआ करते हैं। पार्यिव आहार के रूप में जिन दालों, आमिषों या पनीर आदि का हम सेवन करते हैं, उन पर पाचकाग्नि की क्रियायें होती हैं; इनसे पचते और अनेकानेक रूप परिवर्तन करते हुए जब ये पवनाम्लों^६ के रूप

टिट करके उनका अन्तिम रूप में पचन और परिणमन करता है।

(ग) इरेंप्सिन—यह अग्निद्रव्य महालोतस् के ग्रहणीक्षेत्र में पित्तघराकला से परिस्तुत होता है। यहाँ आये हुए जाहूरतों पार्यिवांश (प्रोभूजिन) का पचन करके यह इसे पवनाम्लों (एमाइनोएसिड्स) में परिणत करता है।

उक्त अग्नि, रक्त धातु के क्षत्र कणों के भीतर भी उपलब्ध होता है वहाँ यह 'धात्वग्नि'-रूप है, और मांसल पार्यिवांश के 'धात्वग्नि पाक' में योग देता है।

(घ) फॉस्फेटेज—यह अग्नि महालोतस् में (पच्यमानाशय की कला में) होता है, और सुधा (केलिस्यम) के पचन में सहायक है।

उक्त अग्निद्रव्य, रक्त-अस्थि-मज्जा आदि धातुओं में भी उपलब्ध होता है। वहाँ यह वायुपर्यायवीय द्रव्य 'सुधा' के पचन, परिणमन, सात्मकिरण आदि के कार्य सम्पन्न करता है।

उपर्युक्त फॉस्फेटेज का एक भेद—'एल्काइन फॉस्फेटेज' (क्षारीय स्फुरेटेज) है, यह महालोतस् की पित्तघराकला में रहता है और अनेक अवसरों पर कोछांग यजूत में भी निर्मित हुआ रहता है।

यही अग्निद्रव्य, अस्थिजनक वींजों के (अस्थिसर्जक घटों के) भीतर तथा अस्थिभंजक (वृहदाङ्गुष्ठि) घटों के आल्टरिक भागों में भी पाया जाता है।

७. 'प्रोटीन्स'

८. 'एमाइनो एसिड्स'

में आ जाते हैं, तब इन भिन्न-भिन्न प्रकार के पार्थिव अंशों से उक्त पित्तों या अग्निद्रव्यों का निर्माण होता है ।^१ जिस समय पाचकाग्नि—रोग आदि के कारण—निर्बल पड़ जाती है और पार्थिव आहार का चिरकाल तक उत्तम रूप में पचन नहीं होता, तब बहुत बार उक्त पित्त एवं अग्निद्रव्य भी नहीं बन पाते । फलतः आहारपाक, भूताग्निपाक, घात्वग्निपाक शिथिल पड़कर, मांसल भाग और क्रमशः समस्त देह, क्षीण होने लगता है; साथ ही आमद्रव्यों के उत्पन्न होने से नाना रोग प्रकट होने आरम्भ हो जाते हैं । कहने का तात्पर्य यह कि भिन्न-भिन्न पित्त या अग्निद्रव्य भी अपने नित्य नूतन निर्माण के लिए पाचकाग्नि पर निर्भर करते हैं, और इस रूप में भी पाचकाग्नि का महत्व सूचित होता है ।

पाचकाग्नि का अपना स्थान 'कोष्ठ' बताया गया है । कोष्ठ को जठर और उदर भी कहते हैं । इन नामों के आधार पर पाचकाग्नि के नाम 'कोष्ठाग्नि', 'जाठराग्नि', 'औदर्याग्नि' पड़ गये हैं । कोष्ठ का कितना विस्तार हैं, यह बात कोष्ठांगों पर ध्यान देने से प्रकट होती है । मुख से गुद-पर्यन्त अवयव, अर्थात् आमाशय, ग्रहणी, पक्वाशय, मलाशय के अतिरिक्त पित्ताशय, अग्न्याशय तो कोष्ठ में आते ही हैं, इनके साथ यकृत, प्लीहा आदि रक्तवह स्रोतस्, फुफ्फुस-हृदय आदि प्राणवह स्रोतस्, वृक्क वस्ति आदि मूत्रवह स्रोतस् भी कोष्ठांगों में परिगणित हुए हैं । इस प्रकार कोष्ठवर्ती इन कोष्ठांगों तक पाचकाग्नि का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है ।

इतना ही नहीं, मूर्धा या मस्तिष्क जो कोष्ठ से दूर अतएव अलग है, वह भी हृदय के माध्यम से पाचकाग्नि के साथ सम्बद्ध रहता है । क्योंकि 'मूर्धा-नमस्य संसीव्यार्थवा हृदयं च तत्'—इस श्रुतिवचन के अनुसार मस्तिष्क को हृदय के साथ संबद्ध या संस्थूत कर दिया गया है । इस प्रकार पाचकाग्नि द्वारा हृदय के माध्यम से मस्तिष्क भी प्रभावित रहता है ।

यदि उपर्युक्त सभी अंगों पर दृष्टिपात करें तो आमाशय, यकृत, अग्न्याशय, पित्ताशय, वृक्क, वस्ति, फुफ्फुस, हृदय, मस्तिष्क आदि समस्त महत्वपूर्ण अवयव—अर्थात् सम्पूर्ण शरीर ही पाचकाग्नि का विस्तार क्षेत्र और प्रभावक्षेत्र हो जाता है, इसी से आयुर्वेद में पाचकाग्नि को औदर्याग्नि, जाठराग्नि, कोष्ठाग्नि कहने के साथ-साथ 'देहाग्नि' और 'कायाग्नि' भी नाम दिये गये हैं ।

१. 'इन्सुलीन'-‘थायरॉक्सिन’—‘इरॅप्सिन’, आदि का निर्माण एमाइनो एसिड्स से ही होता है ।

अपने मूलस्थान महासोव्रस् में स्थित इस पाचकाग्नि या कायाग्नि के अंश समस्त 'काय' में — अर्थात् दोष-धातु-मल रूप देहधारक धातुओं में और इनसे निर्मित 'सकल शरीर'^{१०} में व्याप्त रहते हैं — ऐसी आयुर्वेद की मान्यता है।^{११} इसी आधार पर 'अन्न पक्ता अग्निः' या पाचकाग्नि को भूताग्नियों और धात्वाग्नियों में — समस्त अग्नियों में — अग्रणी कहा है और इसे अन्य सब अग्नियों का मूल या आधारस्वरूप एवं प्रधान माना है।^{१२} इस पाचकाग्नि के क्षीण होने पर उपर्युक्त अन्य अग्नियों का ह्रास देखा जाता है और इसके तीव्र रहने पर अन्यान्य अग्नियाँ भी प्रवल बनी रहती हैं।^{१३}

१०. 'कायः सकलं शरीरम्—' ।

(च० सू० अ० ३०१२८ की टीका में शिवदाससेन) ।

११. 'स्वस्यानस्यस्य कायान्मेः, अंशा धातुषुसंश्रिताः।' (अ० ह० सू० अ० ११)

१२. अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृतृणामधिषो भृतः।

तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धि क्षय वृद्धि क्षयात्मकाः॥ (च० च० अ० १५१३)

X

X

X

'सर्वाग्निषु जाठरात्मेः प्राधान्यमाह-‘अन्नस्य पक्ता’ इत्यादि'। (चक्रपाणि)

१३. यद्यपि आवृत्तिक समय में अनेक प्रकार के विटाग्नित तथा इन्सुलीन आदि आगनेयद्रव्य देकर सीधे ही भूताग्नियों और धात्वाग्नियों को सबल बनाये रखने की चेष्टा की जाती है, पर इसमें भी तभी तक सफलता मिलती है; जब तक पाचकाग्नि प्रवल रहे। पाचकाग्नि मन्द हो जाने पर भूताग्नि और धात्वाग्निरूप उपर्युक्त द्रव्य भी निष्क्रिय एवं निष्फल होने लगते हैं। ल०

अग्नि और आहार

देह को जीवित रखने में प्राण वायु का विशेष महत्त्व है, परन्तु देह का निर्माण करने, इसे हृष्ट-पुष्ट बनाने, क्षीण होने से रोकने, इसका संवर्धन करने और इसमें शक्ति बनाये रखने के लिए 'अन्नपान' ही सर्वाधिक वांछनीय एवं प्राथमिक वस्तु है। इस प्रकार अन्न का भी प्राण जैसा ही महत्त्व है, भारत के मनीषियों ने अन्न की प्राणों से तुलना भी की हैं — 'अन्नं वै प्राणाः' ।

उक्त अन्न पान का उपयोग हमारा देह कर सके — अर्थात् देह के दोष, धातु, मल अन्न में से अपना-अपना उपयोगी अंश प्राप्त कर सकें, इसके लिए इस अन्न का रूप परिवर्तित होना आवश्यक है और यह रूपपरिवर्तन—जैसा कि हम पहिले पढ़ चुके हैं— 'अग्नि' द्वारा होता है, अग्नि इस अन्न पान को पचाती है, तब इससे 'आहार रस' और आहार रस से रस, रक्त, मांस आदि धातु बनकर शुक्र एवं ओज का निर्माण होता है वल-शक्ति उत्पन्न होती है, शरीर में ताप बना रहता है। अग्नि से विना पचे — अपक्व अन्नपान से — ये सब नहीं बन सकते ।^१

अन्न में भी पौष्टिकारक अन्न मनुष्य के लिए विशेष वांछनीय समझा जाता है। परन्तु वह पौष्टिक अन्न भी व्यर्थ जाता है, यदि उसका पचन सम्यक् रूप में न हो सके। अनतिपौष्टिक साधारण अन्न भी — यदि अग्नि द्वारा भले प्रकार पचता रहे तो — देह के लिए अमृत का कार्य^२ करता है और पौष्टिक आहार भी — यदि वह पचता न हो तो — उससे 'आमद्रव्य' और

१. यदन्नं देहधात्वोजो वलवर्णादिपोषकम् ।

तत्राग्निहेतु राहारान्न ह्यपक्वाद्रसाद्यः ॥

(च० च० १५१३)

२. इसी से, अतिसाधारण आहार का सेवन करने वाले, अनेक निर्धन लोग भी हृष्ट-पुष्ट और सबल देखे जाते हैं; इसके विपरीत पौष्टिक आहार प्रचुरता से लेने वाले बहुत से संपन्न व्यक्ति भी कृश पाये जाते हैं।

‘विषप्रदब्ध’ वनने लगते हैं, जो नाना रोग उत्पन्न करके मृत्यु का कारण बनते हैं।

इस प्रकार अन्नपान – जो और जैसा भी उपलब्ध होता हो – उसका अग्नि द्वारा सम्यक् पचन होते रहता अति आवश्यक है।

यहाँ तक आहार और अग्नि के विषय में जो कुछ कहा गया, उससे यह समझ लेना भ्रामक होगा कि मात्र आहार ही अग्निमुखायेक्षी है और अग्नि पर आहार का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वास्तविक स्थिति यह है कि जिस प्रकार आहार को अग्नि की अपेक्षा रहती है, उसी प्रकार अग्नि की विद्यमानता के लिए दैनिक आहार भी अति आवश्यक है और अग्नि को मत्ता आहार पर ही निर्भर करती है।

वाह्य जगत् में जलनेवाली आग को बनाये रखने के लिए जिस प्रकार लकड़ी कोयला आदि इन्धन के प्रक्षेप देने और देते रहने की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार हमारी देहाग्नि के लिए भी इन्धन आवश्यक है और इस इन्धन का काम अन्नपान ही देते हैं।

अग्नि हमारे देह के भीतर अग्न्यधिष्ठानों में प्रज्वलित रहे, इसके लिए उसे नित्यप्रति खाद्य, पेय, लेह्य, चौष्ण्य आदि के रूप में इन्धन द्रव्य प्रदान किये जाते हैं। अन्न-पानरूपी इन्धन द्रव्यों की दैनिक आहुतियों के बल पर ही हमारी अग्नि प्रदीप्त रहती है। यदि ये आहुतियाँ न पड़ें तो अग्नि क्षीण होने लगती है।^१

इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि नाम भेद से जिसे अग्नि कहें या पित्त कहें, पाचकाग्नि नाम दें या पाचकपित्त कह दें—ये हैं, इस देह के अंश ही। इन देहांशों की उत्पत्ति होते रहना—आहार द्रव्यों पर—अन्नपान पर आश्रित है। इसी से आयुर्वेद में उत्तम, मनोनुकूल और विधि-विधानपूर्वक सेवन किये गये आहार को देह के लिए प्राणस्वरूप कहा है और देह के भीतर रहने वाली अग्नि की स्थिति के लिए आहार रूपी ‘इन्धन’ को उत्तरदायी स्वीकार किया है।^२ कहने का अभिप्राय इतना ही है कि आहार और अग्नि या अग्नि और आहार परस्परायेक्षी हैं।

३. ‘—तथा अन्नमषि तेनैव पवतं अमृततां याति अपवतं च विषताम्’।

(अ० स० शा० अ० ६)

४. अन्न पानेन्धनैचाग्निर्ज्वलति व्येति चान्यथा’। (च० स० अ० २७।३४२)

५. ‘इष्ट वर्ण नन्ध-रस-स्पर्शं विधिविहितं अन्नपानं प्राणिनां प्राणसंज्ञकानां प्राणं

देहसमृद्धि के निमित्त और अग्नि में आहुति स्वरूप, जिस अन्नपान का हम नित्य प्रति सेवन करते हैं, वह प्रतिदिन पचता जाता है और जीवन-यात्रा होती रहती है। यह हमारी स्वस्थ दशा की सामान्य स्थिति है।

अब कल्पना करें कि देह को समुचित आहार नहीं मिल रहा है या देह की आवश्यकता से न्यून अन्नपान प्राप्त होता है, उस दशा में अग्नि की क्या स्थिति होगी? और उस समय अग्नि को इन्धन द्रव्य कहाँ से प्राप्त होंगे?

मनुष्य की जीवन-यात्रा स्वाभाविक रूप से चलती हो और खाद्य पदार्थ पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो रहे हों, तो अग्नि उनका पचन और पूर्ण पचन करती रहती है। 'पूर्ण पचन' अर्थात् प्रथम पाचकाग्नि के रूप में अग्नि आहार पाक करती हुई उसे 'आहार रस' में परिवर्तित करती है, फिर भूताग्नि के रूप में अग्नि — इस आहार रस में 'गुणान्तर' उत्पन्न करके इसे 'देह पोषक रस' का रूप प्रदान करती है, तदनन्तर धात्वग्नि के रूप में अग्नि एक ओर तो देहपोषक रस को नवीन धातु-कोशाओं में परिणत करने एवं जीर्ण कोशाओं के विघटन करने का कार्य करती है, दूसरी ओर यह अग्नि आहाररस, गत इन्धन द्रव्य^१ का धातुकोशाओं में दहन करती हुई ऊष्मा और ऊर्जा (आग्नेय वल या शक्ति) का उत्पादन करती है। इस प्रकार पाचकाग्नि, भूताग्नि, धात्वग्नि रूप में यह 'अग्नि' आहार का सम्पूर्ण पचन किया करती है। अग्नि

आचक्षते कुशलाः प्रत्यक्षफलदर्शनात् तदिन्धना हि अन्तररनेः स्थितिः ।'

(च० सू० अ० २७।३४२)

६. इन्धन द्रव्य के रूप में—आहाररस के भीतर—शर्करा विद्यमान रहती है।

आहार रस—रस रक्त में मिलकर धातुकोशाओं को भेजा जाता है, वहाँ तक अन्याशय का 'अग्निरस' भी पहुँचाया जाता है, जो धातुकोशाओं के भीतर अग्निकर्म करने के कारण 'धात्वग्नि रूप' होता है। इस धात्वग्नि को किया से शर्करा का विघटन होकर उसके 'कज्जल' एवं 'उद्जन' के अणु पृथक् होते हैं। कज्जल अणु, रक्तगत प्राणद्रव्य (ओषजन) के अणुओं के साथ सम्मूचित होकर, 'कज्जल द्वि ओषिद्' नामक किटू को उत्पत्ति करते हैं और उद्जन के अणु रक्तगत ओषजन के अणुओं के साथ मिलकर 'उद्क' या जल को जन्म देते हैं। कज्जलद्विओषिद् एवं उद्क—ये दोनों—किटू या मलरूप द्रव्य हैं, जो रक्त में लौन होकर प्राणवह त्रोतस् को भेजे जाते हैं। वहाँ ये रक्त में से विमुक्त होकर निश्वास द्वारा—देह के बाहर होते रहते हैं। उपर्युक्त सम्मूर्छनाओं के समय जो अग्निकर्म अनवरत होते हैं उनमें

का यह 'आहार पचन कर्म' है। जो जीवन की स्वस्थ स्वाभाविक दशा में सदा सम्पन्न होता रहता है।

जब किसी कारण खाद्य पदार्थ पर्याप्त न मिले और देह के भीतर कम मात्रा में पहुँचें, तब भी अग्नि के पचन कर्म होते रहते हैं, धात्वाग्नि कर्म भी सम्पन्न होते हैं; परन्तु आहाररस अपर्याप्त होने से, उस दशा में अग्नि को स्थायी रस या रस धातु के कोष से ही पोषक एवं इन्धनरूप द्रव्य ग्रहण करने पड़ते हैं। ये द्रव्य (आहार द्वारा नवीन देहपोषक रस न मिलने के कारण) रसधातु में क्रमशः घटते जाते हैं, तब इनकी प्राप्ति के लिए रस, रक्त, अस्त्रिय आदि धातुओं के आश्रय से स्थित इलेष्म, पित्त, वात द्रव्यों का विघटन होने लगता है। इस स्थिति को आयुर्वेद में 'अग्नि द्वारा दोषों का पचन' कहा गया है।

यदि खाद्यान्न की प्राप्ति अब भी सर्वथा रुको हुई हो तो भी, अन्तरग्नि की क्रियायें रुकतीं नहीं, वे जारी रहती हैं। परन्तु उस दशा में नव्य-धातु संघटन बन्द हो जाता है, जोर्ण धातुओं का विघटन अविकाधिक होता है। रस-रक्तगत (शर्करारूप) इन्धन द्रव्य के अभाव में वसा, मेद आदि स्त्रिघ धातुओं का विघटन होना आरम्भ हो जाता है। इनमें से कज्जल एवं उद्गजन के अणु अग्नि को मिलते रहते हैं। इन स्त्रिघ धातुओं के ज्वलन से ऊष्मा की उत्पत्ति अधिक होती है। स्त्रिघ धातुओं के उपरान्त मांस धातु का विघटन^१ होने लगता है। अग्नि इनमें से इन्धनोपयोगी द्रव्य का चयन करके

ऊष्मा भी उत्पन्न होती है। यह ऊष्मा हमारे देह में सदा विद्यमान रहा करती है और इसका बहुत-सा अंश 'ऊर्जा' (अग्निजनित शक्ति) में परिणत होता है। ले०

७. 'आहारमग्निः पचति' । (अ० ह० चि० अ० १०१९२)

८. इन विघटित द्रव्यों में से प्राप्त कज्जल एवं उद्गजन के अणुओं के साथ ओषजन की सूच्छनायें होने लगती हैं। इस दशा में अग्नि द्वारा नवीन धातुकोशाओं की निर्माण क्रिया प्राप्तः नहीं होती, जिससे देह का उपचयकर्म बन्द या स्थगित हो जाता है, जोर्ण तन्तुओं का विघटन अविक होने लगता है, और वह जारी रहता है। देहोज्ञा भी उत्पन्न होती रहती है। ले०

९. 'दोषानाहर्वर्जितः । (अ० ह० चि० अ० १०१९२) ।

१०. अग्नि, इन मांस आदि धातुओं के नत्रजन को पृथक् करके इनके अवशिष्ट कज्जल एवं उद्गजन का अपहरण करने लगती है। इन दोनों के साथ ओष-

उसका भक्षण करने लगती है, जिससे धातुयें नष्ट होना आरम्भ होती हैं। यह 'अग्नि द्वारा धातुओं के पचन की अतएव उनके क्षीण होने की स्थिति' है ।^{११}

उक्त 'क्षीयमाण धातु-स्थिति' तक भी यदि उपर्युक्त आहार अप्राप्त रहे तो अन्त में यह अवस्था आ जाती है, जिसमें देहधारक (कफ, पित्त, वात) और देह पोषक (रस, मांस आदि धातु) दोनों प्रकार के द्रव्यों का विशेष हास हो चुकता है, अनेक मल भी क्षीण होते हैं। इस समय अवशिष्ट देह धातुओं में क्षीण दोषों के कम (उदककम, अग्निकम, गतिकर्म) शिथिल पड़ चुकते हैं। अतः आम द्रव्यों की उत्पत्ति होकर विष-द्रव्य जन्म लेते हैं। विषों का धातुओं के भीतर सम्मूच्छन होने लगता है। देह के भीतर आहाररस द्वारा पहुँचनेवाले जीवनीय द्रव्य समाप्त हो जाने से जीवनी शक्ति नहीं रह जाती, देहोज्मा भी शान्त होने लगती है। यह 'जीवन क्षय' की सी और अन्तिम दशा है, इसे 'अग्नि द्वारा जीवन का पचन'^{१२} कहा गया है।

शास्त्रीय आधार पर प्रस्तुत किये गये उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि अग्नि का देह के भीतर स्वस्थ रूप में यथावत् बना रहना 'आहार' पर निर्भर करता है। आहार बन्द हो जाने की स्थिति में 'पित्तोज्मा' भी शान्त हो जाती है और जीवन का अन्त आ जाता है।^{१३} आहार प्राप्त रहे तो अग्नि उपर्युक्त मात्रा में बनी रहती है और जीवन दीर्घ होता है।

आहार का—देह और अग्नि—दोनों दृष्टियों से महत्त्व है। जहाँ तक अग्नि का सम्बन्ध है, स्वस्थ दशा में समाग्नि होने पर भरपेट आहार या मुख्य भोजन दिन में दो बार लेना ठीक रहता है। किसी-किसी स्वस्थ व्यक्ति की अग्नि जन्म से ही विशेष प्रबल नहीं होती या कारणवश निर्वल पड़े

जन का मूर्छन होकर ऊज्मा उत्पन्न होती रहती है। परन्तु इस दशा में—दोषों व धातुओं के क्षीण होने से—देह कृश हो चुकता है। अब शर्करा के स्थान पर काम आने वाले स्निग्ध धातु का हास हो जाने से और मांस आदि के भी क्षीण हो जाने के कारण, अग्नि के भक्षण के लिए, उपर्युक्त इन्धनद्रव्य का अभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में देहोज्मा कम होने लगती है।

११. 'धातून् क्षीणेषु दोषेषु'। (अ० ह० च० अ० १०१९२)
१२. 'जीवितं धातु संक्षये'। (अ० ह० च० अ० १०१९२)

आहारमग्निः पचति, दोषानाहारवर्जितः।

धातून् क्षीणेषु दोषेषु जीवितं धातुसंक्षये॥

१३. 'शान्तेऽग्निं नियते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः'। (च० च० १५१४)

जाती है, उस दशा में मुख्य भोजन केवल एक-एक समय लेना उचित है। ऐसा करने से पचन के लिए पर्याप्त से अधिक समय मिल जाने के कारण आहार को दुर्बल अग्नि भी शनैः-शनैः पचा लेती है। इतना ही नहीं, इस प्रकार एक समय आहार लेते रहने से—कुछ काल के उपरात्त—अग्नि की शक्ति बढ़ भी सकती है। जिन व्यक्तियों की अग्नि किन्हीं कारणों से मन्द हो या रोगादि के पश्चात् क्षुधा न लगती हो, उन्हें आहार कम मात्रा में लेना ही ठीक रहता है;^{१४} क्योंकि यह उनकी अग्नि के अनुकूल पड़ता है।

१४. एक कालं भवेद्यो दुर्बलाग्निवृद्धये।
समानये तथाऽहारो द्विकालमपि पूजितः ॥
मन्दाग्नये रोगिणे च मात्राहीनः प्रशस्यते ।

(सु० उ० अ० ६४)

अग्नि एवं आरोग्य

जिस अग्नि तत्त्व का 'पदार्थ विज्ञान' में एक महाभूत के रूप में निरूपण होता है, देह रचना में भाग लेने वाले प्राकृत दोषों की विवेचना के प्रसंग में जिसका पाचकपित्त, रंजकपित्त आदि नामों से वर्णन है, कियाशारीर में जिसकी पाचकाग्नि, भूताग्नि, धात्वग्नियों के रूप में चर्चा हुई है, उसका निदान, चिकित्सा और स्वस्थवृत्त तक विस्तार होता गया है।

आयुर्वेदीय निदान-शास्त्र पर एक दृष्टि डालें तो आरम्भ में यह ज्ञात होता है कि रोगों की उत्पत्ति 'त्रिदोष वैषम्य' से हुआ करती है। परन्तु रोगों की विस्तृत विवेचना के प्रसंग में यह तथ्य भी प्रकट होता है कि दोषों पर— वात, पित्त, इलेष्मा पर अग्नि का प्रभाव पड़ता है। अग्नि विकृत हो तो वात, पित्त, इलेष्मा में भी विकार उत्पन्न होता है और ऐसा प्रायः हुआ करता है।^१ इतना ही नहीं, दोषों का न्यूनाधिक होकर विकृत या प्रकुपित होना जहाँ 'अग्नि विकृति' से होता है, वहाँ इनका शमन भी 'अग्नि की समता' स्थापित करने के द्वारा किया जाता है। इस प्रकार दोषों का प्रकोप और शमन अग्नि पर निर्भर करते हैं, इसी से निदान के क्षेत्र में अग्नि के संरक्षण का विधान है और इस पर बहुत बल दिया गया है।^२

निदान के अतिरिक्त चिकित्सा के क्षेत्र में तो अग्नि को असाधारण महत्त्व प्रदान किया गया, क्योंकि संस्कृत भाषा में जिस 'काय' शब्द का सामान्य अर्थ 'सकल शरीर'^३ था; उसका चिकित्सा क्षेत्र में अर्थ ही 'अग्नि'^४ माना गया

१. '...दोषाः', ते च प्रायशो दुष्यन्ति अग्निदोषात्' (अ० सं० शा० ६)

२. शमग्रकोपौ दोषाणां सर्वेषां अग्निसंश्रितौ।

तस्मादग्निं सदा रक्षेत्, निदानानि च वर्जयेत् ॥

(च० चि० ५१३६)

३. 'कायः सकलं शरीरं तस्य चिकित्सा'।

(च० सू० ३०२८ की टीका में शिवदान सेन)

४. कायोऽत्राग्निरूच्यते, तस्य चिकित्सा 'काय चिकित्सा'।

(सु० सू० ११७ में टीका में डल्हन)

है। इस प्रकार 'काय चिकित्सा' शब्द का अर्थ हुआ — 'अग्नि की चिकित्सा', और अग्नियों में भी प्रधान 'अन्तरग्नि'^१ या जठराग्नि^२ की चिकित्सा। आयुर्वेद की चिकित्साशास्त्रीय मान्यता यह है कि देह में रोगों की उत्पत्ति उसी समय होने लगती है जब अग्नि विशेषतः जठराग्नि शिथिल^३ हो। अग्नि के विकार से ही कायचिकित्सा संबंधी ज्वर-अतिसार आदि रोग जन्म लेते हैं।

यह सब निदान और चिकित्सा क्षेत्र से संबंधित अग्नि की चर्चा हुई, परन्तु स्वस्थवृत्त में भी 'अग्नि का संरक्षण' बहुत महत्वपूर्ण माना गया है,—अर्थात् देह मन की स्वस्थ दशा हो तो भी अग्नि उपेक्षणीय नहीं होती। इस स्थिति में अग्नि स्वभावतः 'सम' होती है, इसे विषम, तीक्ष्ण या मन्द होने से बचाने और समावस्था में यथावत् बनाये रखने का ही यत्न करना उचित है।

अग्नि का यह संरक्षण, बहुत कुछ हमारे दैनिक भोजन पर निर्भर है। भोजन यदि अपने देह मन के अनुकूल है, उचित समय पर, नियत मात्रा में और विधिविधानपूर्वक^४ सेवन किया जा रहा है तो अग्नि के विकृत होने का भय प्रायः नहीं रहता।

देह मन के अनुकूल हमारा आहार इस प्रकार का होना चाहिए कि उसमें पोषक अन्नपान के साथ-साथ इन्धन-द्रव्य का काम देने वाले अंश भी समुचित मात्रा में रहें। पोषक का अभिप्राय है, दोष धातु मलों का पोषक। दोषों में अग्निगर्भी पित्त का भी समावेश है। हमारे आहार में जहाँ पायिव, आप्य, वायवीय, नाभस् द्रव्य हों वहाँ अग्नेय द्रव्य भी पर्याप्त मात्रा में रहने आवश्यक हैं, क्योंकि विशेष रूप में इन्हीं से अग्नि की उत्पत्ति और उसका दोषन होता है।

५. 'कायस्य अन्तररनेः चिकित्सा कायचिकित्सा'।

—(च० सू० ३०।२८ की टीका में चक्रपाणि)

६. 'कायः सकलं शरीरं तस्य चिकित्सा—(किं० चा० कायो जठराग्निः उक्तं च भोजे—'जाठरः प्राणिनामग्निः कायइत्यभिवीयते। यस्तं चिकित्सेत् सीदन्तं स वै कायचिकित्सकः।'—(च० सू० अ० ३०।२८ की टीका में शिवदास सेन)।

७. 'रोगाः सर्वेऽपिमन्देजनौ—(अ० ह० नि० १२-१)।

८. '...ज्वर-अतिसार आदयः कायचिकित्साविषया रोगाः अग्निदोषात् एव भवति'—(च० सू० अ० ३०।२८ की टीका में शिवदास सेन)।

९. आहार-विषयक विवि-विवात का क्षित्तृत् विचार स्वस्थवृत्त का विषय है।—ले०

आजकल उष्णवीर्यं एवं कटु-रसयुक्त द्रव्यों (मिर्च मसालों) के सर्वथा निषेध करने का एक रिवाज सा हो गया है, परन्तु इनका भी कुछ अंश हमारे आहार में रहना चाहिए। वस्तुतः षड्रस युक्त आहारद्रव्य ही हमारे लिए पूर्ण भोजन प्रस्तुत कर सकते हैं।

पोषक द्रव्यों के अतिरिक्त आहारगत इन्धनद्रव्य देह में ऊष्मा एवं ऊर्जा की उत्पत्ति के लिए विशेषरूप से बांधनीय होते हैं। आवश्यकता होने पर इनसे देहधातुओं का निर्माण भी हो सकता है। हमारे दैनिक भोजन में रहनेवाले देहपोषक और इन्धनरूप दोनों प्रकार के द्रव्यों से क्रमशः उत्पन्न 'पित्त' एवं 'ऊष्मा', मिलकर, पूर्ण अग्नि का रूप प्रस्तुत करते हैं। उक्त प्रकार के आहार से देहपोषक के साथ-साथ अग्नि का संरक्षण भी होता रहे, तो मनुष्य के देह मन में शक्ति बनी रहती है, और उसे दीर्घायुष्य प्राप्त होता है।^{१०}

आर्यजातीय जीवन में मानव के आहार-ग्रहण कर्म को 'यज्ञ' के रूप में देखा गया है। जिस प्रकार प्रातः सायं दोनों समय लकड़ी इन्धन, धूत, सामग्री आदि से व्रह्ययज्ञ किया जाता है, उसी प्रकार मनुष्य को उचित है कि वह अपनी अन्तरग्नि में हितकारक अन्नपान रूपी इन्धन द्रव्यों का प्रक्षेप देता हुआ नित्य जीवनयज्ञ सम्पन्न करता रहे। अंतरग्नि में आहार पदार्थों की आहुति देते रहने का यह महत्त्वपूर्ण कार्य सदा विचार और विधि-विधानपूर्वक करने योग्य है। उक्त प्रकार से जीवन-यज्ञ का अनुष्ठान करते हुए, अग्नि में प्रक्षेप रूप दिये जाने वाले आहार की मात्रा का तथा इसके समय का भी ध्यान रखना आवश्यक है, क्योंकि अग्नि में अत्यधिक या अत्यल्प आहुतियाँ समय असमय पड़ने से उसके वुझने की संभावना रहती है।

जो व्यक्ति इस प्रकार अन्तःअग्नि में हितकारक (स्वभावतः पथ्य) पदार्थों की आहुतियों का प्रक्षेप उचित मात्रा में देते हुए अपनी अग्नि को प्रदीप्त रखते हैं, स्वयं भोज्य पदार्थों का उपभोग करने के साथ-साथ उन आहाराहुतियों का दूसरों के लिए भी दान करते हैं, और प्रतिदिन उत्तम धार्मिक विचार रखते हुए परमात्मचिन्तन, जप, ध्यान आदि में लीन रहते हैं, उनके देह मन नीरोग, पुष्ट और निर्मल बने रहते हैं। ऐसे व्यक्ति, जो अन्नपान का, सेवन करते समय अपने हित-अहित, अनुकूल-प्रतिकूल का ध्यान रखते हों, जिनकी प्रवृत्ति ऐहलीकिक-

१०. तस्मात् तं विधिवद् युक्तैः अन्नपानेन्धनर्त्तहृतैः ।

पालयेत् प्रयतः तस्य, स्थितौ ह्यायुर्वलस्थितिः ॥

पारलीकिक कल्याण के कायों को ओर रहे, उन्हें रोग नहीं होते, क्योंकि रोगों का कारण है अपथ्य, और अपथ्य से उक्त प्रकार के विचारशील लोग दूर रहा करते हैं ।^१

यह भी ध्यान रखने योग्य है कि अन्तरग्नि में हितकर अन्नपान की आहुति देते रहना और देह मन को स्वस्थ, नीरोग एवं पुष्ट पवित्र रखना, निष्ठ्रयोजन नहीं है। इस दैनिक यज्ञ-व्यापार द्वारा इन्हें रोगरहित और सबल सशक्त बनाये रखने का उद्देश्य है लौकिक एवं पारलीकिक अभ्युदय, जो भारतीय विचारधारा के अनुसार मानव का चरम लक्ष्य होना चाहिए। अस्तु,

यहाँ अग्नि के प्रसंग में मुख्य वक्तव्य यही है कि उक्त सहज स्वाभाविक पथ्यन्त्रप अन्नपान द्वारा अग्नि को समावस्था में एवं प्रदीप्त रखना चाहिए, क्योंकि स्वस्थ और 'सम अग्नि' के रहने पर ही देह मन को बल शक्ति प्राप्त हो पाती है, इसी अग्नि पर प्राणों की उपलब्धि निर्भर है, इसी से दीर्घायुष्य की प्राप्ति संभव है, और मानव का आरोग्य इसी अग्नि के अधीन है ।^२

११. 'हिताभि र्जुहुयाक्षित्यं, अन्तरग्निं समाहितः ।

अन्नपानसमिद्भिन्नं, मात्राकालौ विचारयन् ॥

आहुताग्निः सदा पथ्यान्यन्तरग्निं जुहोति यः ।

दिवसे दिवसे ब्रह्म जपत्यथ ददाति च ॥

नरं निःश्रेयते युक्तं सात्मनं पानभोजने ।

भजन्ते नामयाः केचिद् भाविनोऽप्यत्तराद्दते ॥'

(च० सू० २७।३४५-४६-४७)

'अन्तरात् इति कारणात्, श्रुते विना, अपथ्यस्य रोगकारणस्य अभावाद्

गदा न भवन्ति इति भावः'—(चक्रपाणि) ।

१२. 'बलं आरोग्यमायुश्च प्राणाश्चासनो प्रतिष्ठितः :'

(च० सू० ३० २७।३२)

X

X

X

'अग्नौ प्रतिष्ठिताः—इति अग्नि अधीना:'

(चक्रपाणि) ।

अग्नि का महत्व

अग्नि का हमारे देह के साथ सम्बन्ध, गर्भस्थापना के समय से ही, हो जाता है। गर्भ की रचना करनेवाले घटकों में शुक्र को सौम्य और आर्तव को आग्नेय कहा है, परन्तु शुक्र आर्तव, आधिक्य की दृष्टि से, क्रमशः आप्यांश वहुल एवं आग्नेयांशवहुल होते हुए भी 'पांचभौतिक' द्रव्य हैं, और इन दोनों में ही अग्नि के अंश भी हैं। इस प्रकार दोनों के द्वारा आग्नेय अंश या अग्नि—गर्भ में संक्रान्त होता है।

गर्भ स्थापित हो चुकने पर शुक्र आर्तव में एवं गर्भाशय में स्थित, पंच महाभूत अपने-अपने गुण धर्मों से उसे लाभान्वित करते हैं। इनमें अग्नि, उस द्रव्य का पचन करता है जो माता के आहार रस से गर्भ को आता है, और जिससे गर्भ का पोषण एवं संवर्धन होना होता है। अग्नि इन पोषक द्रव्यों का पचन करता हुआ, इन्हें एक से दूसरा, दूसरे से तीसरा इस प्रकार नाना रूप^१ प्रदान करता रहता है, जिससे अन्त को माता का उक्त आहार रस, शिशु के दोष-धातु-मलों का रूप ग्रहण करता हुआ, उसके देहावयवों का भाग बन जाता है, और उससे उक्त गर्भ-शिशु का संवर्धन होता रहता है।

प्रसवोपरान्त, जिस सामग्री से देहवस्तुओं का, अर्थात् देह रचनाकारक दोष-धातु-मलों का, सृजन हुआ है, उस सामग्री का चयन अन्नपानरूप आहार एवं विहार में से किया जाता है। अग्नि, इस सामग्री को भी, देह वस्तुओं में परिणत होने योग्य बनाती है और अग्नि ही, वात के सहकार में, इस सामग्री के घटक 'मूल भौतिक द्रव्यों' को पुनः पुनः संघटित-विघटित भी करती रहती है।

देहवस्तुओं में सर्वप्रथम दोषों की गणना है, इनका आहार पर अग्नि की किया से होने वाले पाकों के उपरान्त, निर्माण हुआ करता है। आयुर्वेद में आहार-द्रव्यों पर अग्नि के अवस्थापाकों एवं निष्ठापाकों का वर्णन है।

१. 'तेज एनं पचति' इति रूपात् रूपान्तरेण अवस्थानं प्रापयति'।

—(सु० शा० ५-३ की टोका में डल्हन)।

आहार पर अग्नि का प्रथम अवस्थापाक सम्यक् हो तो परिणाम में मधुरपाक होकर पच्यमान आहार रस में वह अंश उत्पन्न होता है जो रसाग्निपाक के उपरान्त 'कफ या इलेष्मा' में परिणत हो जाता है। द्वितीय अवस्थापाक के समय अम्लपाक होकर वह अंश जन्म लेता है जो रक्ताग्निपाक के उपरान्त 'पित्त' रूप में परिणत होता है। तृतीय अवस्थापाक के समय कटुपाक होकर उस अंश का प्रादुर्भाव होता है जो 'वात' में रूपान्तरित होता है। इस प्रकार प्रथम देहवस्तु जो अपने गतिकर्म, अग्निकर्म, उदककर्म द्वारा 'देह धारक' होने के कारण धातुरूप है और जिसे तीन की संख्या में होने से 'त्रिधातु' कहा गया है, उसका अर्थात् वात, पित्त, इलेष्मा का निर्माण आहार पर होने वाली अग्नि की क्रियाओं के आश्रित है।

द्वितीय देहवस्तु में धातुओं की—देहपोषक रस, रक्त, मांसादि की—गणना है। इन धातुओं में रसाग्नि रक्ताग्नि आदि के द्वारा होने वाले पार्कों का धात्वग्नियों के प्रकरण में विस्तार से वर्णन हो चुका है। धात्वग्नियों के रूप में अग्नि की उन क्रियाओं के परिणामस्वरूप ही धातुओं की उत्पत्ति होती है।

धातुओं के सूजन के अतिरिक्त, अग्निपाकजनित किट्रों के रूप में, विविध मल जन्म लेते हैं।

इस प्रकार दोष धातु मल—ये मुख्य-मुख्य देह वस्तुयें—अपनी उत्पत्ति के लिए और अनवरत होने वाले अपने-अपने संघटन-विघटन के लिए अग्निमुखा-पेक्षी हैं।

उक्त स्थूल देहघटकों के साथ-साथ कतिपय अन्य सूक्ष्म एवं महत्वपूर्ण भाव भी सजीव देह के भीतर होते हैं, यथा शारीरिक ओज, वल, तेज, वर्ण, प्रभा, प्राण, उत्साह, उपचय, स्वास्थ्य और आयु। इनके प्रादुर्भाव में भी अग्नि को विशेषतः देहाग्नि या पाचकाग्नि को हेतु कहा गया है।³

इनमें 'ओज' इलेष्मवर्गीय द्रव्य है, ओज से सम्भवतः वे अणुद्रव्य अभिप्रेत हैं जो विविध प्रकार की क्षमताओं या सामर्थ्यों को तथा देह-मन संबंधी अन्य असाधारण विशेषताओं को जन्म देते हैं, यथा शुक्रसार ओज, जिसका प्रादुर्भाव चुक्र पर शुक्राग्नि की क्रिया से होता है। इस प्रकार के ओजोद्रव्यों की उत्पत्ति रासायनिक क्रियाओं या अग्निकर्मों के उपरान्त ही सम्भावित है।

2. 'आयुर्वर्णो वलं स्वास्थ्यं उत्साहोपचयौ प्रभा।

ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः॥ (च० च० अ० १५)

'बल' या शक्ति के अनेक प्रकार हैं। इनमें एक बल वह है जिसे आग्नेय बल (ऊर्जा) कहा जाता है। देहधातुओं के भीतर इन्धन द्रव्यों का दहन होते समय जिस ऊष्मा (या ताप) का सृजन होता है वह जीवित देह में अनवरत उत्पन्न होती रहती है। यह ऊष्मा देह में हर समय बनी रहती है, देह में से वितरित होती है, और देहशक्ति या ऊर्जा में भी परिणत होती है। इस ऊर्जा से मनुष्य कार्यक्षम या तत्पर बना रहता है।

ऊष्मा के उपयुक्त प्रमाण में रहने पर 'तेज' का आविभवि होता है, और तेज वस्तुतः ऊष्मा का ही रूपान्तर है।^३

ऊष्मा का हमारे शरीर के वर्ण से भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, इस (ऊष्मा) के क्षीण होते ही हाथ, पैर, मुख आदि विवर्ण हो जाते हैं। देह का स्थायी वर्ण या रंग, जैसा कि पित्तभेद 'भ्राजक पित्त' या 'भ्राजक अग्नि' के प्रकरण में वर्णित है, हमारी त्वचा के भीतरी भाग में होते रहनेवाले अग्निकर्म का परिणाम है। इस अग्निकर्म के व्यवस्थित रहने पर वर्णकारक द्रव्य यथास्थान सञ्चिविष्ट होते रहते हैं।

यही स्थिति देह 'प्रभा' या देहकान्ति की है। मानव देह की त्वचा के वर्ण का प्रकट या प्रकाशित होना प्रभा पर निर्भर करता है, और यह प्रभा या कान्ति भी भ्राजकाग्नि पर आश्रित है।

देहवर्ती प्राण या प्राणों की चर्चा पीछे अनेक प्रसंगों में हुई है। ये प्राण मुख्यतः श्वासोच्छ्वास क्रिया द्वारा भीतर पहुँचनेवाले शुद्ध वायु में से प्राप्त होते हैं। प्राणवह स्रोतस् में ज्यों ही ये प्राण पहुँचते हैं त्यों ही यहाँ आया हुआ शोणित या रक्त—इन प्राण कणों को—अपना अनुवर्ती बनाकर देह के भीतर ले जाता है।^४ इस प्रकार प्राण, शोणित के अनुगामी होकर देह के कण-कण में पहुँच जाते हैं। शोणित या रक्त के कणों के भीतर विद्यमान 'शोणवर्तुलीन' नामक रक्तरंजक द्रव्य, रक्तकण का मुख्य घटक है, यही द्रव्य प्राण को अपने साथ संसक्त करता है, और शोणित रूप अनन्त रक्तकण—कोटि-कोटि प्राणकणों को लेकर—देह के भीतर जाते रहते हैं। 'शोणवर्तुलीन' जैसा कि हम रक्ताग्नि के प्रकरण में पढ़ चुके हैं—'रक्ताग्नि' की क्रिया से निर्मित हो पाता है। रक्ताग्नि के सम्यक् बने रहने और शोणवर्तुलीन के निर्मित होते रहने पर ही देह के भीतर प्राणों की स्थिति निर्भर करती है।

३. ...“तेजो देहोष्मा...”—(चक्रपाणि)

४. “पुनर्वित प्राणिनं प्राणः शोणितं ह्यनुवर्तते”—(चरक)

इस प्रकार प्राणों या अनन्त असंख्य प्राणकणों को देह के भीतर लाने में 'अग्नि' उत्तरदायी है।

'उत्साह' आयुर्वेद में प्राकृत वातभेद 'प्राण' का कर्म कहा गया है। प्राण स्वयं 'अग्नि' पर आश्रित हैं—अतः उत्साह भी स्वतः अग्नि के आश्रित रहता है।

'उपचय' का अर्थ है— देहवृद्धि या देहपुष्टि। आहार से दोष-धातु-मलों के निर्माण की गति उनके विघटन की गति की अपेक्षा अधिक शीघ्र हो तो इन सभी का संबंधन होकर देह पुष्ट होता है। इलेष्म प्रकृति के व्यक्तियों में देहपुष्टि प्रायः जन्मजात होती है। इतर प्रकृति के व्यक्तियों में यह पुष्टि तब हो पाती है जब इनमें मलपाक की अपेक्षा प्रसादपाक प्रवल हो। प्रसादपाक की प्रवलता के लिए आवश्यक है कि उत्तम आहार-विहार और समानवात के सहकार के साथ-साथ 'अग्नि' (अर्थात् पाचकाग्नि, भूताग्नि और धात्वग्नियाँ) तीक्ष्ण या मन्द न होकर सम हो। इसी से देहपुष्टि के इलेष्ममूलक होते हुए भी, इसके लिए मुख्य रूपेण उत्तरदायी, 'अग्नि' या पित्त को माना गया है।

'स्वास्थ्य' वह स्थिति है जिसमें दोषधातु मलों की समता के साथ-साथ अग्नि भी समरूप^४ रहकर क्रियायें करती हो, इसी स्थिति में धातुओं और मलों में होने वाली क्रियायें व्यवस्थित रहकर आत्मा-मन इन्द्रियाँ प्रसादावस्था में रह पाते हैं, और यही मनुष्य की 'स्वस्थ' अवस्था है।

'आयु' का अभिप्राय है—चेतनानुवृत्ति^५ अर्थात् हमारे सजीव सचेतन देह का—समय के एक से दूसरे क्षण में लगातार प्रविष्ट होते जाना। इस प्रकार जीवित रूप में हम जितने अधिक क्षणों में पदार्पण करते चलेंगे उतना ही हमारा जीवनकाल दीर्घ से दीर्घतर होता जायेगा, यही दीर्घयु है।

जीवन का एक-एक क्षण, हमारे भीतर विद्यमान रहनेवाले, प्राण, ओज, तेज इन तीन पर आश्रित हैं। इनमें एक का भी अभाव होने पर—शेष

५. 'समदोषः तत्त्वाग्निश्च समवातुमलाक्रियः।'

प्रसन्नात्मेन्द्रियमन्तः 'स्वस्थ' इत्यभिधीयते ॥'—(सुश्रुत)

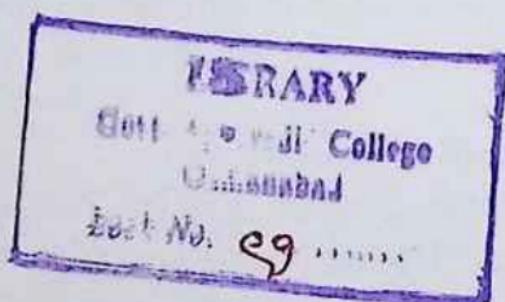
६. 'आयुः चेतनानुवृत्तिः—बलं शक्तिः—उत्साहो दुष्करेष्वपि कर्मेषु अध्य-
वस्तायः—उपचयो देहपुष्टिः—ओजोः हृदयस्थं सर्वधातुसारं—तेजो
देहोज्ञा—आयुर्वर्णदीनां अग्निः मूलं प्रधानं कारणम्—इत्यर्थः ॥

—(च० च० ज० १५।३-५ की टीका में चक्रपाणि) ।

दो — इस जीवन को स्थिर नहीं रख सकते। इन्हीं में तेज या 'अग्नि' अन्यतम महत्वपूर्ण द्रव्य है।

उपर्युक्त तीन द्रव्यों में 'प्राण' जिस प्रकार वात का, 'ओज' जिस प्रकार इलेष्मा का महत्वपूर्ण अंश है—'अग्नि' उसी प्रकार पित्त का सारभूत एवं वीर्यवान् अंश है। प्राण और ओज अपने-अपने कार्य की वृष्टि से निस्सन्देह महत्वपूर्ण है, किर भी अग्नि का विशिष्ट महत्व है। स्थान-भेद और क्रिया-भेद के अनुसार, भारतीय जीवन-विज्ञान में, 'अग्नि' के बहुसंख्यक नाम हैं। क्रियाशारीर में इसके इतने अधिक भेदोपभेद हैं जितने अन्य किसी द्रव्य के नहीं मिलते, यथा—अन्तरग्नि, कोष्ठाग्नि, जाठराग्नि, औदर्याग्नि, देहाग्नि, कायाग्नि, दोषाग्नि, पाचकाग्नि, रंजकाग्नि, साधकाग्नि, आलोचकाग्नि, भ्राजकाग्नि, भूताग्नि, पार्थिवाग्नि, आप्याग्नि, आम्लेयाग्नि, वायव्याग्नि, नाभसाग्नि, घात्वग्नि, रसाग्नि, रक्ताग्नि, मांसाग्नि, मेदोग्नि, अस्थ्यग्नि, मज्जाग्नि, शुक्राग्नि आदि। इन अग्नियों का विस्तार, जैसा कि प्रारम्भ में उल्लेख किया जा चुका है, सैकड़ों की संख्या में कूटा गया है और ये सबके सब भेदोपभेद केवल एक महत्वपूर्ण शब्द 'अग्नि' में समाहित हो गये हैं।

इस प्रकार 'अग्नि' हमारे देह का एक ऐसा द्रव्य है जो त्रिदोष परिवार के अन्यतम घटक 'पित्त' का अंश है, और उसके अन्तर्गत रहता हुआ भी, अपने वैशिष्ट्य एवं विस्तार के कारण, असाधारण महत्व रखता है।



७. 'अग्नि—प्रतिबद्धानि एव रंजकादीनि भूताग्नयः घात्वग्नयश्च'।

—(अ० सं० शा० अ० ६)

